

॥ श्रीमदभिनवचन्द्रेश्वरो विजयतेतराम् ॥

शुक्लयजुर्वेदीयकाण्वशाखान्तर्गतशतपथब्राह्मणान्तर्भूता

बृहदारण्यकोपनिषत्

भाग २ - मुनिकाण्डम्

मिताक्षराहिन्दीव्याख्यासंवलितशाङ्करभाष्ययुता

(पारायण संस्करण)

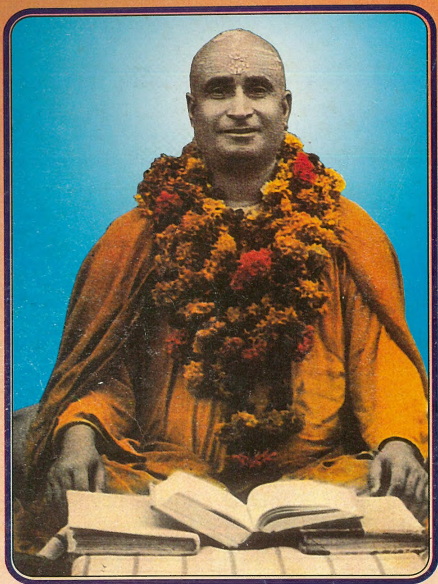




'विद्यानन्दीमिताक्षरा' व्याख्याकार एवं निर्देशक

वेदान्त-सर्वदर्शनाचार्य यतीन्द्रकुलतिलक श्रीकैलासपीठाधीश्वर परमादर्श

आचार्य महामण्डलेश्वर श्रीमत्स्वामी विद्यानन्द गिरि जी महाराज



अष्टम कैलासपीठाधीश्वर श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ
अनन्त श्री विभूषित श्रीस्वामी चैतन्य गिरिजी महाराज (शास्त्रीजी महाराज)

ॐ स्वामी मेधानन्द पुरी



॥ श्री अभिनवचन्द्रेश्वरी विजयतेतराम् ॥

श्रीकैलासविद्यालोकस्य अष्टषष्ठितमः (६८) सोपानः

शुक्लयजुर्वेदीयकाण्वशाखान्तर्गतशतपथब्राह्मणान्तर्भूता

बृहदारण्यकोपनिषत्

(भाग २ - मुनिकाण्डम्)

मिताक्षराहिन्दीव्याख्यासंवलितशाङ्करभाष्ययुता

(पारायण संस्करण)



'विद्यानन्दीमिताक्षरा' व्याख्याकार एवं निर्देशक

वेदान्त-सर्वदर्शनाचार्य यतीन्द्रकुलतिलक श्रीकैलासपीठाधीश्वर परमादर्श

आचार्य महामण्डलेश्वर श्रीमत्स्वामी विद्यानन्द गिरि जी महाराज



विद्वत्सम्पादकमण्डलेन सम्पादितम्

ॐ

प्रकाशक :- दूरभाष :

श्री कैलास विद्या प्रकाशन, ०१३५—४३०५९८

कैलास गेट, हृषीकेश (उ० प्र०)

प्रसंग : गुरुजन शताब्दी त्रिवेणी सङ्गम।

सौजन्य : भक्त श्रीदेसराज जी चानना एवं माता श्री वीराँवाली चानना के सुपुत्र श्रीमान् नरेन्द्र चानना, पुत्रवधू श्रीमती नीरजा चानना, पौत्र चि० मनीष एवं आशीष चानना, पश्चिम विहार, नयी दिल्ली।

बृहदारण्यकोपनिषत् भाग-२ मुनिकाण्डम्

प्रथमावृत्ति ३००० वि० सम्वत् २०५७ सन् २०००

मूल्यम् : २०० रूप्यकाणि

ग्रन्थप्राप्तिस्थानानि —

१. श्री कैलास आश्रम, कैलास गेट, मुनि की रेती, ऋषिकेश-२४९२०१
२. श्री दशनाम संन्यास आश्रम, भूपतवाला, हरिद्वार-२४९४०१
३. श्री कैलास आश्रम, उजेली, उत्तरकाशी-२४९१९३
४. श्री शंकर ब्रह्मविद्याकुटीर, ८३ - ए, द्वारका पुरी, मुजफ्फर नगर-२५१००१
५. श्री कैलास विद्यातीर्थ, (आदि शंकराचार्य स्मारक) ६, भाई वीर सिंह मार्ग, नई दिल्ली-११०००१
६. श्री कैलास विद्यातीर्थ, गिरियक रोड, राजगीर (नालन्दा)-८०३११६
७. श्री कैलास आश्रम, मॉडल टाऊन, रोहतक - १२४००१
८. श्री राम आश्रम, समानामण्डी, पटियाला-१४७१०१
९. श्री कैलास विद्याधाम, रूप नगर, जम्मू तवी
१०. नर्मदा सत्संग आश्रम, सिवनीमालवा, होशंगाबाद

मुद्रक :— **नाथ प्रिंटर्ज**, जोशी रोड, करोल बाग, नई दिल्ली - ११०००५, दूरभाष - ३५५५५८९, ३६१९१७०

लेज़र कम्पोज़िंग :- आकृति प्रिन्टोग्राफिक्स, जनक पुरी, नई दिल्ली - ११००५२ ✦ दूरभाष : ५५२३००६

ॐ श्रीमदभिनवचन्द्रेश्वरो विजयतेतराम्

सम्पादकीय

दिशन्तु शं मे गुरुपादपांसव :

सम्पादकीय मुख्य लेख प्रथम भाग 'मधुकाण्ड' में द्रष्टव्य है। इस द्वितीय भाग 'मुनिकाण्ड' में यहाँ केवल इस पारायण संस्करण के वैशिष्ट्य पर दो शब्द निवेदन करने हैं। प्रस्थानत्रयी के शाङ्करभाष्य नित्य पारायण का श्री गणेश सर्वदर्शनाचार्य श्री दशम कैलासपीठाधीश्वर परमादर्श आचार्य महामण्डलेश्वर श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ अनन्त श्री स्वामी विद्यानन्द गिरि जी महाराज ने १ जुलाई १९९८ को किया। महाराज श्री ने टीका टिप्पणी सहित भारी भरकम ग्रन्थों से, विशेषकर छोटे टाईप वाले प्रकाशनों से पारायण में असुविधा महसूस की। आपने विचार किया कि जब हम शाङ्करभाष्य पारायण को अपनाने का प्रचार कर रहे हैं तो हमें सुविधापूर्वक पारायण के अनुरूप ग्रन्थ भी उपलब्ध करवाने होंगे। तभी उन्होंने कैलास आश्रम से पारायण संस्करण छपवाकर लोकार्पण करने की योजना बनायी। जिसमें यह तीसरा ग्रन्थ है, **'ईशादिपञ्चोपनिषदः'** एवं **'माण्डूकादित्रयोपनिषदः'** इससे पूर्व, प्रकाशित हो चुके हैं।

पारायण संस्करण में टाईप बड़ा और खुला रखा गया है। मूल मन्त्र की महाराज श्री द्वारा विरचित **'विद्यानन्दी मिताक्षरा'** हिन्दी व्याख्या अर्थावगाहन के लिये ही है। इसका भी पाठ भक्त अपनी रुचि अनुसार कर सकते हैं। भाष्य में मूलमन्त्र के पदों को उद्धृत (हाईलाईट) किया गया है। एक घण्टा प्रतिदिन पारायण के विश्राम को आह्निक की संज्ञा दी गई है। प्रथमादि आह्निक का निर्देश ग्रन्थ में यथास्थान दे दिया गया है। यह आह्निक महाराज श्री ने शास्त्र प्रसंग को तथा पारायण गति को ध्यान में रखकर बड़े विचारपूर्वक रखे हैं। इन के अनुसार प्रतिदिन पाठ करना अति उत्तम है। इसमें धीमी गति से पाठ करने वालों को एक घण्टा से कुछ अधिक समय भी लग सकता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ का **गुरुजन शताब्दी त्रिवेणी संगम** प्रसंग पर प्रकाशित होना भी एक अपूर्व वैशिष्ट्य इसे प्रदान करता है। जिन गुरुजनों की शताब्दी सन् २००४ में एक साथ मनायी जायगी, उनमें प्रथम भगवान् आदि शंकराचार्य भगवत्पाद का वह सुन्दर विग्रह है जो कैलासाश्रम ऋषिकेश में सन् १९०४ में आद्यमहाराज श्री द्वारा प्रतिष्ठापित हुआ था। दूसरे श्रीकैलास अष्टमपीठाधीश्वर परमपूज्य शास्त्री जी महाराज की जन्म शताब्दी है और तीसरे महाराज श्री के गुरुदेव प. पू. परमहंस श्री स्वामी विज्ञानानन्द गिरि जी महाराज की जन्म शताब्दी है। इस शताब्दी त्रिवेणी संगम महोत्सव में एक विलक्षण आनन्द प्राप्ति का संयोग बन रहा है।

जिन भक्त परिवार ने इस प्रकाशन यज्ञ में श्रद्धापूर्वक आहुति प्रदान की है उसका कृतज्ञता पूर्वक उल्लेख पहले कर चुके हैं। अतः यहाँ उस चानना परिवार को पुनः धन्यवाद देते हैं। हरिॐतत्सत्।

महाशिवरात्रि वि.सं. २०५६
४ मार्च सन् २०००

गुरुपादानुरागी
स्वर्ण लाल तुली

बृहदारण्यकोपनिषत् - मुनिकाण्डम्

आह्निक-प्रदीपिका

ब्राह्मणानुक्रमाङ्कम्

३ - तृतीयोऽध्यायः

४ - चतुर्थोऽध्यायः

ॐ तत्सद्ब्रह्मणे नमः।

बृहदारण्यकोपनिषत्

-मुनिकाण्डम्-

***

अथ तृतीयोऽध्यायः

❖❖❖

अश्वलनामप्रथमं ब्राह्मणम्।

ॐ जनको ह वैदेहो बहुदक्षिणेन यज्ञेनेजे तत्र ह कुरुपञ्चालानां ब्राह्मणा अभिसमेता बभूवुस्तस्य ह जनकस्य वैदेहस्य विजिज्ञासा बभूव कःस्विदेषां ब्राह्मणानामनूचानतम इति स ह गवाꣳ सहस्रमवरुरोध दश दश पादा एकैकस्याः शृङ्ग्योराबद्धा बभूवुः ॥१॥

अथमिताक्षराहिन्दीव्याख्या

विदेहदेश में रहने वाले राजा जनक ने एक बहुत बड़ी दक्षिणा वाले यज्ञ से यजन किया, उस यज्ञ में निमन्त्रित हो या स्वेच्छा से कुरु और पञ्चाल देशों के विद्वान् ब्राह्मण एकत्रित हुए। उस विदेहराज यजमान जनक को यह जिज्ञासा हुई कि इन ब्राह्मणों में प्रवचन करने में सबसे बड़-चढ़कर प्रवक्ता कौन है? इसलिए उसने एक हजार गौएँ गोशाला में रुकवा दीं। उन रोकी हुई गौओं में प्रत्येक के सींगों में दश-दश पाद सुवर्ण बँधा हुआ था अर्थात् एक-एक सींग मे पाँच-पाँच पाद (पल के चतुर्थ भाग) सुवर्ण बँधा था॥१॥

अथ श्रीमच्छङ्करभगवत्पादविरचितं भाष्यम्

जनको ह वैदेह इत्यादि याज्ञवल्कीयं काण्डमारभ्यते। उपपत्तिप्रधानत्वादतिक्रान्तेन मधुकाण्डेन समानार्थत्वेऽपि सति न पुनरुक्तता। मधुकाण्डं ह्यागमप्रधानम्। आगमोपपत्ती ह्यात्मैकत्वप्रकाशनाय प्रवृत्ते करतलगतबिल्वमिव दर्शयितुम्। "श्रोतव्यो मन्तव्य" इति ह्युक्तम्। तस्मादागमार्थस्यैव परीक्षापूर्वकं निर्धारणाय याज्ञवल्कीयं काण्डमुपपत्तिप्रधानमारभ्यते। आख्यायिका तु विज्ञानस्तुत्यर्थोपायविधिपरा वा। प्रसिद्धो ह्युपायो विद्वद्भिः शास्त्रेषु च दृष्टो दानम्। दानेन ह्युपनमन्ते प्राणिनः। प्रभूतं हिरण्यं गोसहस्रदानं चेहोपलभ्यते। तस्मादन्यपरेणापि शास्त्रेण

स्व सत्व परित्यागेन परस्वाधिकारः यज्ञः का दान.

गौओं को ले जाने के लिये याज्ञवल्क्य का अपने शिष्य को आदेश व क्रुद्ध ब्राह्मणों में से अश्वल का प्रश्न.

तान्होवाच ब्राह्मणा भगवन्तो यो वो ब्रह्मिष्ठः स एता गा उदजतामिति। ते ह ब्राह्मणा न दधृषुरथ ह याज्ञवल्क्यः स्वमेव ब्रह्मचारिणमुवाचैताः सोम्योदज

राजा जनक ने उन ब्राह्मणों से कहा— हे पूज्य ब्राह्मणगण! आप में से जो सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मवेत्ता हो, वह इन गौओं को ले जाय, किन्तु उन ब्राह्मणों में से किसी का साहस न हुआ। ब्राह्मणों को साहसहीन देखकर याज्ञवल्क्य ने अपने ब्रह्मचारी से कहा— हे सोम्य सामश्रवा! तू इन गौओं को हमारे घर ले जा। तब वह उन गौओं को ले चला, इससे

विद्याप्राप्त्युपायदानप्रदर्शनार्थाऽऽख्यायिकाऽऽरब्धा। अपि च तद्विद्यसंयोगस्तैश्च सह वादकरणं विद्याप्राप्त्युपायो न्यायविद्यायां दृष्टः। तच्चास्मिन्नध्याये प्राबल्येन प्रदर्श्यते। प्रत्यक्षा च विद्वत्संयोगे प्रज्ञावृद्धिः। तस्माद्विद्याप्राप्त्युपायप्रदर्शनार्थैवाऽऽख्यायिका।

जनको नाम **ह** किल सम्राड्राजा बभूव विदेहानां, तत्र भवो **वैदेहः**। स च **बहुदक्षिणेन यज्ञेन** शाखान्तरप्रसिद्धो वा बहुदक्षिणो नाम यज्ञोऽश्वमेधो वा दक्षिणाबाहुल्याद्बहुदक्षिण इहोच्यते **तेनेजे**ऽयजत्। **तत्र** तस्मिन्यज्ञे निमन्त्रिता दर्शनकामा वा **कुरूणां** देशानां **पञ्चालानां** च **ब्राह्मणास्**तेषु हि विदुषां बाहुल्यं प्रसिद्ध**मभिसमेता** अभिसंगता **बभूवुः**। तत्र महान्तं विद्वत्समुदायं दृष्ट्वा **तस्य ह** किल **जनकस्य वैदेहस्य** यजमानस्य को नु खल्वत्र ब्रह्मिष्ठ इति विशेषेण ज्ञातुमिच्छा **विजिज्ञासा बभूव**। कथं, **कःस्वित्**को नु **खल्वेषां ब्राह्मणानामनूचानतमः** सर्व इमेऽनूचानाः कः स्विदेषामतिशयेनानूचान **इति**। **स** ह्यनूचानतमविषयोत्पन्नजिज्ञासः संस्तद्विज्ञानोपायार्थं **गवां सहस्रं** प्रथमवयसा**मवरुरोध** गोष्ठेऽवरोधं कारयामास। किंविशिष्टास्ता गावोऽवरुद्धा इत्युच्यते। पलचतुर्थभागः पादः सुवर्णस्य। **दश-दश पादा एकैकस्या** गोः **शृङ्गयोराबद्धा बभूवुः**। पञ्च-पञ्च पादा एकैकस्मिञ्शृङ्गे॥१॥

गा एवमवरुध्य ब्राह्मणांस्**तान्होवाच**। हे **ब्राह्मणा भगवन्त** इत्यामन्त्र्य **यो वो** युष्माकं **ब्रह्मिष्ठः** सर्वे यूयं ब्रह्माणोऽतिशयेन युष्माकं ब्रह्मा यः **स**

श्रवण मनने शमादियक्ते कृत्वा स्थितस्य वाक्यार्थज्ञाना-तराय रहितस्यानायासेन यो वाक्यार्थ बोधो जायते सः एव निदिध्यासनम्.

for 3rd कण्डिका, मृत्यु व्याप्त कर्म साधनों की आसक्ति से पार होने का उपाय

सामश्रवा३ इति ता होदाचकार ते ह ब्राह्मणाश्चुक्रुधुः कथं नो ब्रह्मिष्ठो ब्रुवीतेत्यथ ह जनकस्य वैदेहस्य होताऽश्वलो बभूव स हैनं पप्रच्छ त्वं नु खलु नो याज्ञवल्क्य ब्रह्मिष्ठोऽसी३ इति स होवाच नमो वयं ब्रह्मिष्ठाय कुर्मो गोकामा एव वयꣳ स्म इति तꣳ ह तत एव प्रष्टुं दध्रे होताऽश्वलः ॥२॥

वे ब्राह्मण क्रुद्ध हो गये कि यह याज्ञवल्क्य हममें से अपने आपको ही ब्रह्मनिष्ठ कैसे कहता है? अतः उन क्रुद्ध ब्राह्मणों में से विदेहराज जनक का होता अश्वल था। उसने याज्ञवल्क्य से पूछा— हे याज्ञवल्क्य! क्या यह सत्य है कि हममें से तुम्हीं सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मवेत्ता हो? याज्ञवल्क्य ने कहा— ब्रह्मनिष्ठ को तो हम नमस्कार करते हैं, इस समय तो हम गौओं की इच्छा वाले हैं। इस प्रकार ब्रह्मनिष्ठ की प्रतिज्ञा वाले उस याज्ञवल्क्य से होता अश्वल ने मन ही मन प्रश्न करने का निश्चय किया॥२॥

एता गा उदजतामुत्कालयतु स्वगृहं प्रति। **ते ह ब्राह्मणा न दधृषुः**। ते ह किलैवमुक्ता ब्राह्मणा ब्रह्मिष्ठतामात्मनः प्रतिज्ञातुं न दधृषुर्न प्रगल्भाः संवृत्ताः। अप्रगल्भभूतेषु ब्राह्मणेष्वथ **ह याज्ञवल्क्यः** स्वमात्मीयमेव **ब्रह्मचारिणमन्तेवासिनमुवाचैता गा हे सोम्योदजोद्**गमयास्मद्गृहान्प्रति **हे सामश्रवः!** सामविधिं हि शृणोतीत्यतोऽर्थाच्चतुर्वेदो याज्ञवल्क्यः। **ता गा होदाचकार**ोत्कालितवानाचार्यगृहं प्रति। याज्ञवल्क्येन ब्रह्मिष्ठपणस्वीकरणेनाऽऽत्मनो ब्रह्मिष्ठता प्रतिज्ञातेति **ते ह चुक्रुधुः** क्रुद्धवन्तो **ब्राह्मणाः**। तेषां क्रोधाभिप्रायमाचष्टे। **कथं नो**ऽस्माकमेकैकप्रधानानां **ब्रह्मिष्ठो**ऽस्मीति **ब्रुवीतेति। अथ हैवं** क्रुद्धेषु ब्राह्मणेषु **जनकस्य** यजमानस्य **होतर्त्विगश्वलो** नाम **बभूवाऽऽसीत्। स एनं** याज्ञवल्क्यं ब्रह्मिष्ठाभिमानी राजाश्रयत्वाच्च धृष्टो ढीठ याज्ञवल्क्यं **पप्रच्छ** पृष्टवान्। कथं, **त्वं नु खलु नो याज्ञवल्क्य ब्रह्मिष्ठो-**

याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदꣳ सर्वं मृत्युनाऽऽप्तꣳ सर्वं मृत्युनाऽभिपन्नं, केन यजमानो मृत्योराप्तिमतिमुच्यत इति होत्रर्त्विजाऽग्निना वाचा, वाग्वै यज्ञस्य होता, तद्येयं वाक्सोऽयमग्निः, स होता स मुक्तिः साऽतिमुक्तिः ॥३॥

अग्निस्वरूपदर्शनमेव

हे याज्ञवल्क्य! ऐसा अश्वल ने कहा— यह सब जो मृत्यु के वश में किया हुआ है और मृत्यु से व्याप्त है, उस मृत्यु की व्याप्ति को यजमान किन साधनों के द्वारा पार करता है? (इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा—) वह यजमान होता ऋत्विक्‌रूप अग्नि से और वाक् से उसे पार कर सकता है। वाक् ही यज्ञ का होता है, यह जो वाणी है; वही यही प्रसिद्ध अधिदैव अग्नि है। वह होतारूप अग्नि मुक्ति है अर्थात् होता को अग्निरूप देखना ही उस मृत्यु से छूटना है। इसीलिये वही अतिमुक्ति है॥३॥

ऽसी३ इति प्लुतिर्भर्त्सनार्था। **स होवाच** याज्ञवल्क्यो **नमस्कुर्मो वयं ब्रह्मिष्ठाय**। इदानीं **गोकामाः स्मो वयमिति तं** ब्रह्मिष्ठप्रतिज्ञं सन्तं **तत एव** ब्रह्मिष्ठपणस्वीकरणात्प्रष्टुं **दध्रे** धृतवान्मनो **होताऽश्वलः**॥२॥

याज्ञवल्क्येति होवाच तत्र मधुकाण्डे पाङ्क्तेन कर्मणा दर्शनसमुच्चितेन यजमानस्य मृत्योरत्ययो व्याख्यात उद्‌गीथप्रकरणे संक्षेपतस्तस्यैव परीक्षाविषयोऽयमिति तद्‌गतदर्शनविशेषार्थोऽयं विस्तर आरभ्यते। **यदिदं** साधनजातमस्य कर्मण ऋत्विगग्न्यादि **मृत्युना** कर्मलक्षणेन स्वाभाविकासङ्गसहितेनाऽऽप्तं व्याप्तं न केवलं व्याप्त**मभिपन्नं** च **मृत्युना** वशीकृतं च। **केन** दर्शनलक्षणेन साधनेन **यजमानो मृत्योराप्तिम**तीत्य मृत्युगोचरत्वमतिक्रम्य **मुच्यते** स्वतन्त्रो मृत्योरवशो भवतीत्यर्थः। ननूद्‌गीथ एवाभिहितं येनातिमुच्यते मुख्यप्राणात्मदर्शनेनेति। बाढमुक्तं योऽनुक्तो विशेषस्तत्र तदर्थोऽयमारम्भ इत्यदोषः।

(अहोरात्रादि रूप काल से अतिमुक्ति का उपाय)

याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदꣳ सर्वमहोरात्राभ्या-

हे याज्ञवल्क्य! ऐसा अश्वल ने कहा यह जो कुछ दृश्यमान जगत् है, सभी दिन

होत्रर्त्विजाऽग्निना वाचेत्याह याज्ञवल्क्यः। एतस्यार्थं व्याचष्टे। कः पुनर्होता, येन मृत्युमतिक्रामतीति? उच्यते— **वाग्वै यज्ञस्य** यजमानस्य ''यज्ञो वै यजमानः'' इति श्रुतेः। यज्ञस्य यजमानस्य याऽध्यात्मं वाक्सैव **होता**ऽधियज्ञे। कथं **तत्त्र येयं वाग्**यज्ञस्य यजमानस्य **सोऽयं** प्रसिद्धो**ऽग्निर**धिदैवतम्। तदेतत्त्यन्त्रप्रकरणे व्याख्यातम्। **स चाग्निर्होता** ''अग्निर्वै होता'' इति श्रुतेः। यदेतद्यज्ञस्य साधनद्वयंहोता चर्त्विगधियज्ञमध्यात्मं च वागेतदुभयं साधनद्वयं परिच्छिन्नं मृत्युनाऽऽप्तं स्वाभाविकाज्ञानासङ्गप्रयुक्तेन कर्मणा मृत्युना प्रतिक्षणमन्यथात्वमापद्यमानं वशीकृतम्। तदनेनाधिदैवतरूपेणाग्निना दृश्यमानं यजमानस्य यज्ञस्य मृत्योरतिमुक्तये भवति। तदेतदाह—**स मुक्तिः स** होताऽग्नि**र्मुक्ति**रग्निस्वरूपदर्शनमेव मुक्तिः। यदैव साधनद्वयमग्निरूपेण पश्यति तदानीमेव हि स्वाभाविकादासङ्गान्मृत्योर्विमुच्यत आध्यात्मिकात्परिच्छिन्नरूपादाधिभौतिकाच्च। तस्मात्स होताऽग्निरूपेण दृष्टो मुक्तिर्मुक्तिसाधनं यजमानस्य।

साऽतिमुक्तिः। यैव च मुक्तिः **साऽतिमुक्ति**रतिमुक्तिसाधनमित्यर्थः। साधनद्वयस्य परिच्छिन्नस्य याऽधिदेवतारूपेणापरिच्छिन्नेनाग्निरूपेण दृष्टिः सा मुक्तिः। याऽसौ मुक्तिरधिदेवतादृष्टिः सैवाध्यात्माधिभूतपरिच्छेदविषयासङ्गास्पदं मृत्युमतिक्रम्याधिदेवतात्वस्याग्निभावस्य प्राप्तिर्या फलभूता साऽतिमुक्तिरित्युच्यते। तस्या अतिमुक्तेर्मुक्तिरेव साधनमिति कृत्वा साऽतिमुक्तिरित्याह। यजमानस्य ह्यतिमुक्तिर्वागादीनामग्न्यादिभावइत्युद्गीथप्रकरणे व्याख्यातम्। तत्र सामान्येन मुख्यप्राणदर्शनमात्रं मुक्तिसाधनमुक्तं नतद्विशेषो, वागादीनामग्न्यादिदर्शनमिह विशेषो वर्ण्यते। मृत्युप्राप्त्यतिमुक्तिस्तु सैव फलभूता योद्गीथब्राह्मणेन व्याख्याता ''मृत्युमतिक्रान्तो दीप्यते'' इत्याद्या॥३॥

याज्ञवल्क्येति होवाच। स्वाभाविकादज्ञानासङ्गप्रयुक्तात्कर्मलक्षणा-

मास्तथं सर्वमहोरात्राभ्यामभिपन्नं केन यजमानोऽहोरात्रयोराप्तिमतिमुच्यत इत्यध्वर्युणर्त्विजा चक्षुषाऽऽदित्येन चक्षुर्वै यज्ञस्याध्वर्युस्तद्यदिदं चक्षुः सोऽसावादित्यः सोऽध्वर्युः स मुक्तिः साऽतिमुक्तिः ॥४॥

और रात्रि से व्याप्त है। अतएव सभी दिन और रात्रि के अधीन हैं, ऐसी दशा में किस साधन से यजमान अहोरात्र के परिच्छेद को पार कर सकता है। इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा— अध्वर्यु, ऋत्विक् और नेत्ररूप आदित्य के द्वारा अधिभूत परिच्छेद को पार कर सकता है। नेत्र ही यज्ञ का अध्वर्यु है। अतः यह जो नेत्र है, वह यह आदित्य है तथा वह अध्वर्यु है, वह मुक्ति है अर्थात् आदित्य-रूप से देखा हुआ वह अध्वर्यु मुक्ति है और वही अतिमुक्ति भी है॥४॥

न्मृत्योरतिमुक्तिर्व्याख्याता। तस्य कर्मणः सासङ्गस्य मृत्योराश्रयभूतानां दर्शपूर्णमासादिकर्मसाधनानां यो विपरिणामहेतुः कालस्तस्मात्कालात्पृथगतिमुक्तिर्वक्तव्येतीदमारभ्यते। क्रियानुष्ठानव्यतिरेकेणापि प्रागूर्ध्वं च क्रियायाः साधनविपरिणामहेतुत्वेन व्यापारदर्शनात्कालस्य। तस्मात्पृथक्कालादतिमुक्तिर्वक्तव्येत्यत आह—**यदिदं सर्वमहोरात्राभ्यामाप्तं** स च कालो द्विरूपोऽहोरात्रादिलक्षणस्तिथ्यादिलक्षणश्च। तत्राहोरात्रादिलक्षणात्तावदतिमुक्तिमाह— अहोरात्राभ्यां हि सर्वं जायते वर्धते विनश्यति च। तथा यज्ञसाधनं च। **यज्ञस्य** यजमानस्य **चक्षुरध्वर्युश्च** शिष्टान्यक्षराणि पूर्ववन्नेयानि। यजमानस्य चक्षुरध्वर्युश्च साधनद्वयमध्यात्माधिभूतपरिच्छेदं हित्वाऽधिदैवतात्मना दृष्टं यत्स **मुक्तिः सो**ऽध्वर्युरादित्यभावेन दृष्टो **मुक्तिः सैव** मुक्तिरेवा**तिमुक्ति**रिति पूर्ववदादित्यात्मभावमापन्नस्य हि नाहोरात्रे संभवतः॥४॥

याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदꣳसर्वं पूर्वपक्षापरपक्षाभ्यामाप्तꣳ सर्वं पूर्वपक्षापरपक्षाभ्यामभिपन्नं केन यजमानः पूर्वपक्षापरपक्षयोराप्तिमतिमुच्यत इत्युद्गात्रर्त्विजा वायुना प्राणेन, प्राणो वै यज्ञस्योद्गाता, तद्योऽयं प्राणः स वायुः, स उद्गाता, स मुक्तिः साऽतिमुक्तिः ॥५॥

हे याज्ञवल्क्य! ऐसा अश्वल ने कहा— यह जो कुछ जगत् है, सब चन्द्र के पूर्वपक्ष और अपरपक्ष से व्याप्त है। सब पूर्वपक्ष तथा अपरपक्ष के वश में किया हुआ है। इस पूर्वपक्ष और अपरपक्ष की व्याप्ति को यजमान किस साधन से पारकर मुक्त होता है? इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा— उद्गाता, ऋत्विक् से और वायुरूप प्राण से उसका अतिक्रमण होता है क्योंकि निश्चित ही उद्गाता यज्ञ का प्राण है और यह जो प्राण है, वही वायु है, वही उद्गाता है, वही मुक्ति और वही अतिमुक्ति भी है॥५॥

इदानीं तिथ्यादिलक्षणादतिमुक्तिरुच्यते—**यदिदं सर्वम**होरात्रयोरविशिष्टयोरादित्यः कर्ता न प्रतिपदादीनां तिथीनाम्। तासां तु वृद्धिक्षयोपगमनेन प्रतिपत्प्रभृतीनां चन्द्रमाः कर्ता। अतस्तदापत्त्या पूर्वपक्षापरपक्षात्यय आदित्यापत्त्याऽहोरात्रात्ययवत्। तत्र यजमानस्य प्राणो वायुः। स एवोद्गातेत्युद्गीथब्राह्मणेऽवगतं ''वाचा च ह्येव स प्राणेन चोदगायदि''ति च निर्धारितम्। ''अथैतस्य प्राणस्याऽऽपः शरीरं ज्योतीरूपमसौ चन्द्रः'' इति च। प्राणवायुचन्द्रमसामेकत्वाच्चन्द्रमसा वायुना चोपसंहारे न कश्चिद्विशेष, एवंमन्यमाना श्रुतिर्वायुनाऽधिदैवतरूपेणोपसंहरति। अपि च वायुनिमित्तौ हि वृद्धिक्षयौ चन्द्रमसः। तेन तिथ्यादिलक्षणस्य कालस्य कर्तुरपि कारयिता वायुः। अतो वायुरूपापन्नस्तिथ्यादिकालादतीतो भवतीत्युपपन्नतरं भवति। तेन श्रुत्यन्तरे चन्द्ररूपेण दृष्टिर्मुक्तिरतिमुक्तिश्चेति इह तु काण्वानां

याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदमन्तरिक्षमनारम्बणमिव केनाऽऽक्रमेण यजमानः स्वर्गं लोकमाक्रमत, इति ब्रह्मणर्त्विजा मनसा चन्द्रेण, मनो वै यज्ञस्य ब्रह्मा, तद्यदिदं मनः सोऽसौ चन्द्रः स ब्रह्मा, स मुक्तिः साऽतिमुक्तिरित्यतिमोक्षा अथ संपदः ॥ ६ ॥

हे याज्ञवल्क्य! ऐसा अश्वल ने कहा—यह जो प्रसिद्ध आकाश है वह निरालम्ब-सा है। फिर भला यजमान किस आलम्बन से स्वर्गलोग में जायेगा। इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा—ब्रह्म ऋत्विक् के द्वारा और मनरूप चन्द्रमा के द्वारा स्वर्गलोक में आरूढ होता है। मन ही यज्ञ का ब्रह्मा है तथा यह जो मन है, वही यह चन्द्रमा है, वही चन्द्रमा ऋत्विक् ब्रह्मा है, वह मुक्ति है एवं वही अतिमुक्ति है। इस प्रकार परिच्छेद से अतिमुक्तियों का उपायसहित वर्णन किया। अब संपदों का वर्णन प्रारंभ किया जाता है (भावना द्वारा अन्य वस्तु में अन्यदृष्टि के आरोप को संपद् कहते हैं। उस द्रव्यसाध्य राजसूयादि यज्ञ का फल धनहीन व्यक्ति भी संपद् द्वारा प्राप्त कर सकता है। अतः संपदों का वर्णन आवश्यक है)॥६॥

साधनद्वयस्य तत्कारणरूपेण वाय्वात्मना दृष्टिः मुक्तिरतिमुक्तिश्चेति न श्रुत्योर्विरोधः ॥५॥

मृत्योः कालादतिमुक्तिर्व्याख्याता यजमानस्य। सोऽतिमुच्यमानः केनावष्टम्भेन परिच्छेदविषयं मृत्युमतीत्य फलं प्राप्नोत्यतिमुच्यत इत्युच्यते। **यदिदं** प्रसिद्ध-**मन्तरिक्षमाकाशोऽनारम्बणमनालम्बनमिव**शब्दादस्त्येव तत्राऽऽलम्बनं तत्तु न ज्ञायत इत्यभिप्रायः। यत्तु न ज्ञायमानमालम्बनं तत्सर्वनाम्ना **केनेति** पृच्छ्यते। अन्यथा फलप्राप्तेरसंभवात्। येनावष्टम्भेनाऽऽ**क्रमेण यजमानः** कर्मफलं प्रतिपद्यमानोऽतिमुच्यते, किं तदिति प्रश्नविषयः। **केनाऽऽक्रमेण यजमानः स्वर्गं लोकमाक्रमत** इति स्वर्गं लोकं फलं प्राप्नोत्यतिमुच्यत इत्यर्थः।

अंग वंग कलिंग सौराष्ट्र मगधेषु च तीर्थ यात्रां विना गच्छेत् पुनः संस्कारम् अर्हति ॥

(शास्त्र सम्बन्धी ऋचाओं से प्राप्त होने वाला फल)

याज्ञवल्क्येति होवाच कतिभिरयमद्यर्ग्भिर्होताऽस्मिन्यज्ञे करिष्यतीति तिसृभिरिति कतमास्तास्तिस्त्र इति

हे याज्ञवल्क्य! ऐसा अश्वल ने कहा— आज कितनी ऋचाओं द्वारा इस यज्ञ में होता शंसन करेगा? (इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा—) तीन ऋक् जातियों द्वारा। फिर अश्वल ने पूछा— वे तीन कौन-सी हैं? (याज्ञवल्क्य ने कहा— याग से पहले प्रयुक्त होने वाली ऋचाएँ) पुरोनुवाक्या हैं, (याग के समय प्रयुक्त हुई ऋचाएँ) याज्या हैं और (जो ऋचाएँ

ब्रह्मणर्त्विजा मनसा चन्द्रेणेत्यक्षरन्यासः पूर्ववत्। तत्राध्यात्मं यज्ञस्य यजमानस्य यदिदं प्रसिद्धं मनः सोऽसौ चन्द्रोऽधिदैवम्। मनोऽध्यात्मं चन्द्रमा अधिदैवतमिति हि प्रसिद्धम्। स एव चन्द्रमा ब्रह्मर्त्विक्तेनाधिभूतं ब्रह्मणः परिच्छिन्नं रूपमध्यात्मं च मनस एतद्द्वयमपरिच्छिन्नेन चन्द्रमसो रूपेण पश्यति। तेन चन्द्रमसा मनसाऽवलम्बनेन कर्मफलं स्वर्गं लोकं प्राप्नोत्यतिमुच्यते इत्यभिप्रायः। इतीत्युपसंहारार्थं वचनम्। इत्येवंप्रकारा मृत्योरतिमोक्षाः। सर्वाणि हि दर्शनप्रकाराणि यज्ञाङ्गविषयाण्यस्मिन्नवसरे उक्तानीति कृत्वोपसंहार **इत्यतिमोक्षाः**। एवंप्रकारा अतिमोक्षा इत्यर्थः।

अथ संपदः। अथाधुना **संपद** उच्यन्ते। **संपन्नाम** केनचित्सामान्येनाग्निहोत्रादीनां कर्मणां फलवतां तत्फलाय संपादनं संपत्फलस्यैव वा सर्वोत्साहेन फलसाधनानुष्ठाने प्रयततां केनचिद्वैगुण्येनासंभवः। तदिदानीमाहिताग्निः सन्यत्किंचित्कर्माग्निहोत्रादीनां यथासंभवमादायाऽऽलम्बनीकृत्य कर्मफलविद्वत्तायां सत्यां यत्कर्मफलकामो भवति तदेव संपादयति। अन्यथा राजसूयाश्वमेधपुरुषमेधसर्वमेधलक्षणानामधिकृतानां त्रैवर्णिकानामप्यसंभवस्तेषां तत्पाठः स्वाध्यायार्थ एव केवलः स्यात्। यदि तत्फलप्राप्त्युपायः कश्चन न स्यात्। तस्मात्तेषां संपदैव तत्फलप्राप्तिस्तस्मात्संपदामपि फलवत्त्वमतः संपद आरभ्यन्ते॥६॥

याज्ञवल्क्येति होवाचाभिमुखीकरणाय। **कतिभिरयमद्यर्ग्भि-**

पुरोनुवाक्या च याज्या च शस्यैव तृतीया किं ताभिर्जयतीति यत्किंचेदं प्राणभृदिति॥७॥

याज्ञवल्क्येति होवाच कत्ययमद्याध्वर्युरस्मिन्यज्ञ आहुतीर्होष्यतीति तिस्र इति कतमास्तास्तिस्र इति या हुता उज्ज्वलन्ति या हुता अतिनेदन्ते या हुता अधिशेरते किं ताभिर्जयतीति या हुता उज्ज्वलन्ति देवलोकमेव

शंसन के लिये प्रयुक्त होती हैं वह) तीसरी शस्या कही जाती हैं। (इस पर अश्वल ने पूछा—) इन ऋचाओं से यजमान किसको जीतता है? (याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया)— जितना भी प्राणी समुदाय है (उस सभी की संख्यादि में समानता होने के कारण वह समस्त फल समूह का संपादन कर लेता है)॥७॥

हे याज्ञवल्क्य! ऐसा अश्वल ने कहा— इस यज्ञ में यह अध्वर्यु आज कितनी आहुतियों का हवन करेगा? याज्ञवल्क्य ने कहा— तीन आहुतियाँ। (अश्वल ने पूछा—) वे तीन

होताऽस्मिन्यज्ञे कतिभिःकतिसंख्याभि**र्ऋग्भि**र्ऋग्जातिभि**रयं होता**र्त्विग**स्मिन्यज्ञे करिष्यति** शस्त्रं शंसत्याहेतर**स्तिसृभि**र्ऋग्जातिभि**रि**त्युक्तवन्तं प्रत्याहेतरः **कतमास्तास्तिस्र इति**। संख्येयविषयोऽयं प्रश्नः पूर्वस्तु संख्याविषयः। **पुरोनुवाक्या च** प्राग्यागकालाद्याः प्रयुज्यन्त ऋचः सग्जातिः पुरोनुवाक्येत्युच्यते। यागार्थं याः प्रयुज्यन्त ऋचः सग्जाति**र्याज्या**। शस्त्रार्थं याः प्रयुज्यन्त ऋचः सग्जातिः **शस्या**। सर्वास्तु याः काश्चनर्चस्ताः स्तोत्रिया वा अन्या वा सर्वा एतास्वेव तिसृषु ऋग्जातिष्वन्तर्भवन्ति। **किं ताभिर्जयतीति यत्किंचेदं प्राणभृदिति**। अतश्च संख्यासामान्याद्यत्किंचित्प्राणभृज्जातं तत्सर्वं जयति तत्सर्वं फलजातं संपादयति संख्यादिसामान्येन॥७॥

याज्ञवल्क्येति होवाचेति पूर्ववत् **कत्ययमद्याध्वर्युरस्मिन्यज्ञ**

ताभिर्जयति दीप्यत इव हि देवलोको या हुता अतिनेदन्ते पितृलोकमेव ताभिर्जयत्यतीव हि पितृलोको या हुता अधिशेरते मनुष्यलोकमेव ताभिर्जयत्यध इव हि मनुष्यलोकः ॥८॥

कौन-कौन सी हैं? (याज्ञवल्क्य ने कहा—) जो घृत और समिधा की आहुतियाँ होम की जाने पर प्रज्वलित होती हैं, जो पूर्वोक्त होम की जाने पर अत्यन्त शब्द करती हैं और जो होम के बाद पृथिवी पर जाकर लीन हो जाती हैं। वे आहुतियाँ उक्त तीन संख्या वाली हैं। (फिर अश्वल ने पूछा—) इन आहुतियों से यजमान किसको जीतता है? (याज्ञवल्क्य ने कहा—) जो होम की जाने पर घृत और समिधा की आहुतियाँ प्रज्वलित होती हैं, उनसे यजमान देवलोक को ही जीतता है क्योंकि देवलोक देदीप्यमान-सा हो रहा है और जो आहुतियाँ होम की जाने पर अत्यन्त शब्द करती हैं, उनसे वह यजमान पितृलोक को ही प्राप्त करता है, क्योंकि पितृलोकसम्बन्धी संयमनीपुरी में (यमराज के द्वारा यातना भोगते समय जीवों का हाय रे! मरे! छोड़ दो, छोड़ दो! ऐसा भयानक) अत्यन्त कोलाहलपूर्ण शब्द-सा होता है। जो दुग्ध और सोम की आहुतियाँ होम के बाद पृथिवी पर लीन हो जाती हैं, उनसे यजमान मनुष्यलोक को ही जीतता है क्योंकि मनुष्यलोक अधोवर्ती-सा है॥८॥

आहुतीर्होष्यतीति कत्याहुतिप्रकारास्तिस्र इति **कतमास्तास्तिस्र इति** पूर्ववत्। इतर आह **या हुता उज्ज्वलन्ति** समिदाज्याहुतयः। **या हुता अतिनेदन्ते**ऽतीव शब्दं कुर्वन्ति मांसाद्याहुतयः। **या हुता अधिशेरते**ऽध्यधो गत्वा भूमेरधः शेरते पयःसोमाहुतयः। **किं ताभिर्जयतीति** ताभिरेवं निर्वर्तिताभिराहुतिभिः किं जयतीति। **या** आहुतयो **हुता उज्ज्वलन्त्यु**ज्ज्वलनयुक्ता आहुतयो निर्वर्तिताः। फलं च देवलोकाख्यं उज्ज्वलमेव। तेन सामान्येन या मयैता उज्ज्वलन्त्य आहुतयो निर्वर्त्यमानास्ता एताः साक्षाद्देवलोकस्य कर्मफलस्य रूपं देवलोकाख्यं फलमेव मया निर्वर्त्यत इत्येवं संपादयति।

(ब्रह्मा से रहित यज्ञ साधनों से प्राप्त होने वाला फल)

to misguide used plural. Ans एकया

याज्ञवल्क्येति होवाच कतिभिरयमद्य ब्रह्मा यज्ञं दक्षिणतो देवताभिर्गोपायतीत्येकयेति कतमा सैकेति मन एवेत्यनन्तं वै मनोऽनन्ता विश्वेदेवा अनन्तमेव स तेन लोकं जयति॥९॥

हे याज्ञवल्क्य! ऐसा अश्वल ने कहा— यह ब्रह्मा नामक ऋत्विक् दक्षिण की ओर निश्चित आसन पर बैठकर आज कितने देवताओं द्वारा यज्ञ की रक्षा करता है? याज्ञवल्क्य ने कहा— एक ही देवता से। (अश्वल ने कहा—) वह एक देवता कौन है? (याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—) वह देवता मन ही है। (वृत्ति के भेद से) मन अनन्त हैं और विश्वदेव भी अनन्त हैं। वह अनन्त लोक को जीत लेता है क्योंकि साध्य-साधन में संख्या की समानता है॥९॥

या हुता अतिनेदन्त आहुतयः **पितृलोकमेव ताभिर्जयति** कुत्सितशब्दकर्तृत्वसामान्येन। पितृलोकसंबद्धायां हि संयमन्यां पुर्यां वैवस्वतेन यात्यमानानां हा हताः स्मो मुञ्च मुञ्चेति शब्दो भवति। तथाऽवदानाहुतयस्तेन पितृलोकसामान्यात्पितृलोक एव मया निर्वर्त्यत इति संपादयति। **या हुता अधिशेरते मनुष्यलोकमेव ताभिर्जयति** भूम्युपरिसंबन्धसामान्यादध इव ह्यध एव हि **मनुष्यलोक** उपरितनान्साध्याँल्लोकानपेक्ष्याथवाऽधोगमनमपेक्ष्यातो मनुष्यलोक एव मया निर्वर्त्यत इति संपादयति पयःसोमाहुतिनिर्वर्तनकाले॥८॥

याज्ञवल्क्येति होवाचेति पूर्ववत्। **अयमृत्विग्ब्रह्मा दक्षिणतो** ब्रह्माऽऽसने स्थित्वा यज्ञं **गोपायति**। **कतिभिर्देवताभिर्गोपायतीति** प्रासङ्गिकमेतद्बहुवचनम्। **एकया** हि देवतया गोपायत्यसौ। एवं ज्ञाते बहुवचनेन प्रश्नो नोपपद्यते स्वयं जानतस्तस्मात्पूर्वयोः कण्डिकयोः प्रश्नप्रतिवचनेषु कतिभिः कति तिसृभिस्तिस्र इति प्रसङ्गं दृष्ट्वेहापि बहुवचनेनैव प्रश्नोपक्रमः क्रियते। अथवा प्रतिवादिव्यामोहार्थं बहुवचनम्। इतर आहैकयेत्येका सा देवता यया दक्षिणतः

(स्तुति सम्बन्धी ऋचाओं से प्राप्त होने वाला फल)

याज्ञवल्क्येति होवाच कत्ययमद्योद्‌गाताऽस्मिन्यज्ञे स्तोत्रियाः स्तोष्यतीति तिस्र इति कतमास्तास्तिस्र इति पुरोनुवाक्या च याज्या च शस्यैव तृतीया कतमास्ता या अध्यात्ममिति प्राण एव पुरोनुवाक्याऽपानो याज्या

हे याज्ञवल्क्य! ऐसा अश्वल ने कहा, इस यज्ञ में उद्‌गाता आज कितनी स्तोत्रिया ऋचाओं का स्तवन करेगा (प्रगीत ऋचाएँ स्तोत्रशब्द से और अप्रगीत ऋचाएँ शस्त्रशब्द से कही जाती हैं। इनमें स्तोत्र को स्तोत्रिया और शस्त्र को शस्या भी कहते हैं, याज्ञवल्क्य ने कहा—) तीन ऋचाओं का। (अश्वल ने पूछा—) वे तीन कौन-कौन सी हैं? याज्ञवल्क्य ने कहा— पुरोनुवाक्या, याज्या और तीसरी शस्या। (अश्वल ने कहा—) इनमें से जो शरीरान्तर्वर्ती हैं, वे कौन सी हैं? याज्ञवल्क्य ने कहा— (पकार एवं प्रथमत्व की समानता से) प्राण ही पुरोनुवाक्या है। (द्वितीयत्व की समानता से) अपान याज्या है और (ऊर्ध्वत्व की समानता से) व्यान शस्या है। (अश्वल ने कहा—) इनसे यजमान किन लोकों को जीतता है? (याज्ञवल्क्य ने कहा—) प्रथमत्व की समानता से पुरोनुवाक्या द्वारा पृथिवीलोक को ही

स्थित्वा ब्रह्माऽऽसने यज्ञं गोपायति। **कतमा सैकेति। मन एवेति** मनः सा देवता। मनसा हि ब्रह्मा व्याप्रियते ध्यानेनैव। ''तस्य यज्ञस्य मनश्च वाक्च वर्तनी, तयोरन्यतरां मनसा संस्करोति ब्रह्मा'' इति श्रुत्यन्तरात्। तेन मन एव देवता, तया मनसा हि गोपायति ब्रह्मा यज्ञम्। तच्च **मनो** वृत्तिभेदेना**नन्तम्**। **वै**शब्दः प्रसिद्धावद्योतनार्थः। प्रसिद्धं मनस आनन्त्यम्। तदानन्त्याभिमानिनो देवाः। **अनन्ता वै विश्वे देवाः**। सर्वे देवा यत्रैकं भवन्तीत्यादिश्रुत्यन्तरात्। तेनाऽऽनन्त्यसामान्यादनन्त**मेव स तेन लोकं जयति**॥९॥

याज्ञवल्क्येति होवाचेति पूर्ववत्। कति स्तोत्रियाः स्तोष्यतीत्ययमुद्गाता। **स्तोत्रिया** नाम ऋक्सामसमुदायः कतिपयानामृचाम्। स्तोत्रिया वा शस्या वा याः काश्चन ऋचस्ताः सर्वास्तिस्र एवेत्याह। ताश्च व्याख्याताः **''पुरोनुवाक्या च**

व्यानः शस्या किं ताभिर्जयतीति पृथिवीलोकमेव पुरोनुवाक्यया जयत्यन्तरिक्षलोकं याज्यया द्युलोकꣳ शस्यया ततो ह होताऽश्वल उपरराम॥१०॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि तृतीयाध्यायस्याश्वलनामप्रथमं ब्राह्मणम्॥१॥

जीतता है। मध्यमत्व की समानता से याज्या द्वारा अन्तरिक्षलोक को और ऊर्ध्वत्व की समानता से शस्या द्वारा द्युलोक पर विजय प्राप्त करता है। इसके बाद याज्ञवल्क्य हमारे काबू में नहीं आयेगा, ऐसा समझ कर होता अश्वल चुप हो गया॥१०॥

॥ इति प्रथमं ब्राह्मणम्॥

याज्या च शस्यैव तृतीयः" इति। तत्र पूर्वमुक्तं यत्किंचेदं प्राणभृत्सर्वं जयतीति तत्केन सामान्येनेत्युच्यते कतमास्तास्तिस्र ऋचो **या अध्यात्मं** भवन्तीति। **प्राण एव पुरोनुवाक्या**। पशब्दसामान्यात्। **अपानो याज्या**। आनन्तर्यात्, अपानेन हि प्रत्तं हविर्देवता ग्रसन्ति। यागश्च प्रदानम्। **व्यानः शस्या** "अप्राणन्ननपानन्नृचमभिव्याहरति" इति श्रुत्यन्तरात्। **किं ताभिर्जयतीति** व्याख्यातम्। तत्र विशेषसंबन्धसामान्यमनुक्तमिहोच्यते। सर्वमन्यद्व्याख्यातम्। लोकसंबन्धसामान्येन **पृथिवीलोकमेव पुरोनुवाक्यया जयत्यन्तरिक्षलोकं याज्यया** मध्यमत्वसामान्यात्। **द्युलोकं शस्यया**ेर्ध्वत्वसामान्यात्। **ततो ह** तस्मादात्मनः प्रश्ननिर्णयादसौ **होताश्वल उपरराम** नायमस्मद्गोचर इति॥१०॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये तृतीयाध्यायस्य प्रथममश्वलब्राह्मणम्॥१॥

।अथ तृतीयाध्यायस्यार्तभागनामद्वितीयं ब्राह्मणम्।

अथ श्रीमच्छङ्करभगवत्पादविरचितं भाष्यम्

आख्यायिकासंबन्धः प्रसिद्ध एव। मृत्योरतिमुक्तिर्व्याख्याता काललक्षणात्कर्मलक्षणाच्च। कः पुनरसौ मृत्युर्यस्मादतिमुक्तिर्व्याख्याता। स च स्वाभाविकाज्ञानसङ्गास्पदोऽध्यात्माधिभूतविषयपरिच्छिन्नो ग्रहातिग्रहलक्षणो मृत्युः। तस्मात्परिच्छिन्नरूपान्मृत्योरतिमुक्तस्य रूपाण्यग्न्यादित्यादीन्युद्गीथप्रकरणे व्याख्यातानि। अश्वलप्रश्ने च तद्गतो विशेषः कश्चित्। तच्चैतत्कर्मणां ज्ञानसहितानां फलम्। एतस्मात्साध्यसाधनरूपात्संसारान्मोक्षः कर्तव्य इत्यतो बन्धनरूपस्य मृत्योः स्वरूपमुच्यते। बद्धस्य हि मोक्षः कर्तव्यः।

यदप्यतिमुक्तस्य स्वरूपमुक्तं, तत्रापि ग्रहातिग्रहाभ्यामविनिर्मुक्त एव मृत्युरूपाभ्याम्। तथाचोक्तमशनाया हि मृत्युरेष एव मृत्युरिति। आदित्यस्थं पुरुषमङ्गीकृत्याऽऽहैको मृत्युर्बहवः इति च। तदात्मभावापन्नो हि मृत्योराप्तिमतिमुच्यत इत्युच्यते। न च तत्र ग्रहातिग्रहौ मृत्युरूपौ न स्तः। "अथैतस्य मनसो द्यौः शरीरं ज्योतीरूपमसावादित्यः"। "मनश्च ग्रहः स कामेनातिग्राहेण गृहीतः" इति, वक्ष्यति "प्राणो वै ग्रहः सोऽपानेनातिग्राहेण" इति "वाग्वै ग्रहः स नाम्नाऽतिग्राहेण" इति च। तथा त्र्यन्नविभागे व्याख्यातमस्माभिः। सुविचारितं चैतद्यदेव प्रवृत्तिकारणं तदेव निवृत्तिकारणं न भवतीति। चमसेन अपः प्रणयेत् । गोदोहनेन पशुकामः

केचित्तु सर्वमेव निवृत्तिकारणं मन्यन्ते। अतः कारणात्पूर्वस्मात्पूर्वस्मान्मृत्योर्मुच्यत उत्तरमुत्तरं प्रतिपद्यमानो व्यावृत्त्यर्थमेव प्रतिपद्यते न तु तादर्थ्यमित्यत आद्वैतक्षयात्सर्वं मृत्युर्द्वैतक्षये तु परमार्थतो मृत्योराप्तिमतिमुच्यते। अतश्चाऽऽपेक्षिकी गौणी मुक्तिरन्तराले।

सर्वमेतदेवमबार्हदारण्यकम्। ननु सर्वैकत्वं मोक्षः "तस्मात्तत्सर्वमभवत्" इति श्रुतेः। बाढं भवत्येतदपि, न तु "ग्रामकामो यजेत पशुकामो यजेत" इत्यादिश्रुतीनां तादर्थ्यम्। यदि ह्यद्वैतार्थत्वमेवाऽऽसां, ग्रामपशुस्वर्गाद्यर्थत्वं नास्तीति ग्रामपशुस्वर्गादयो न गृह्येरन्गृह्यन्ते तु कर्मफलवैचित्र्यविशेषाः। यदि च वैदिकानां कर्मणां तादर्थ्यमेव संसार एव नाभविष्यत्।

* महाभारत कथा : पितरों का आक्रन्दन, जारत्कारु का विवाह
आस्तिक का उत्पत्ति: जो जनमेजय का सर्प याग से सर्पों को रक्षा किया.
पद्म पुराण:- ५ प्रकार का ऋण विमुक्ति के लिये

पुत्र सन्तान. जिनका सन्तान नहीं वह भगवत् भजन से मुक्त होता है
पुत्र नहीं रहने का कारण → ऋण रूप ही पुत्र सन्तान। जिसको कुछ लेना देना नहीं — पुत्र होता नहीं

(ग्रह तथा अतिग्रह) **अथ हैनं जारत्कारव आर्तभागः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच कति ग्रहाः कत्यतिग्रहा इति। अष्टौ ग्रहा अष्टावतिग्रहा इति ये तेऽष्टौ ग्रहा अष्टावतिग्रहाः कतमे त इति॥१॥**

तदनन्तर उस याज्ञवल्क्य से जरत्कारु गोत्र वाले ऋतभाग के पुत्र ने पूछा। हे याज्ञवल्क्य! ऐसा आर्तभाग ने कहा— ग्रह कितने हैं और अतिग्रह कितने हैं? (याज्ञवल्क्य ने कहा—) आठ ग्रह हैं और आठ अतिग्रह हैं। (आर्तभाग ने कहा—) वे जो आठ ग्रह तथा आठ अतिग्रह हैं, वे कौन से हैं? (पहले 'अतिमुच्यते' कहा गया है, ग्रहगृहीत से ही मुक्ति और अतिमुक्ति हुआ करती है। अतएव ग्रह तथा अतिग्रह की प्राप्ति सामान्य रीति से होती है। इसीलिए उनकी संख्या के विषय में प्रश्न भी हैं और संख्येय के विषय में विशेष जिज्ञासा भी संभव है)॥१॥

अथ तादर्थ्येऽप्यनुनिष्पादितपदार्थस्वभावः संसार इति चेत्। यथा च रूप-दर्शनार्थे आलोके सर्वोऽपि तत्रस्थः प्रकाश्यत एव। न, प्रमाणानुपपत्तेः। अद्वैतार्थत्वे वैदिकानां कर्मणां विद्यासहितानामन्यस्यानुनिष्पादितत्वे प्रमाणानुपपत्तिः। न प्रत्यक्षं नानुमानमत एव च नाऽऽगमः। उभयमेकेन वाक्येन प्रदर्श्यत इति चेत्कुल्याप्रणय-नालोकादिवत्। तन्नैवं वाक्यधर्मानुपपत्तेः। न चैकवाक्यगतस्यार्थस्य प्रवृत्ति-निवृत्तिसाधनत्वमवगन्तुं शक्यते। कुल्याप्रणयनालोकादावर्थस्य प्रत्यक्षत्वाददोषः।

यदप्युच्यते मन्त्रा अस्मिन्नर्थे दृष्टा इति। अयमेव तु तावदर्थः प्रमाणागम्यः। मन्त्राः पुनः किमस्मिन्नर्थ आहोस्विदन्यस्मिन्नर्थ इति मृग्यमेतत्। तस्माद्ग्रहातिग्रह-लक्षणो मृत्युर्बन्धस्तस्मान्मोक्षो वक्तव्य इत्यत इदमारभ्यते।

न च जानीमो विषयसंबन्धाविवान्तरालेऽवस्थानमर्धजरतीयं कौशलम्। यत्तु मृत्योरतिमुच्यते इत्युक्त्वा ग्रहातिग्रहावुच्येते तत्तु अर्थसंबन्धात्। सर्वोऽयं साध्यसाधन-लक्षणो बन्धः ग्रहातिग्रहाविनिर्मोकात्। निगडे हि निर्ज्ञाते निगडितस्य मोक्षाय यत्नः कर्तव्यो भवति। तस्मात्तादर्थ्येनाऽऽरम्भः —

(घ्राणादि इन्द्रियाँ ग्रह हैं और उसके विषय गंधादि अतिग्रह हैं।)

प्राणो वै ग्रहः सोऽपानेनातिग्राहेण गृहीतोऽपानेन हि गन्धाञ्जिघ्रति॥२॥

घ्राण ही ग्रह है, वह गन्धरूप अतिग्रह से गृहीत है (अपान गंध का साथी है, इसीलिये यहाँ पर अपानशब्द से गन्ध को कहा गया है) क्योंकि अपान द्वारा लाये गये गन्धों को ही सम्पूर्ण लोक सूँघता है॥२॥

अथ हैनं हशब्द ऐतिह्यार्थः। अथानन्तरमश्वल उपरते प्रकृतं याज्ञवल्क्यं जरत्कारुगोत्रो **जारत्कारव** ऋतभागस्यापत्यमार्तभागः **पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाचे**त्यभिमुखीकरणाय। पूर्ववत्प्रश्नः **कति ग्रहाः कत्यतिग्रहा इति**। **इति**शब्दो वाक्यपरिसमाप्त्यर्थः। तत्र निर्ज्ञातेषु वा ग्रहातिग्रहेषु प्रश्नः स्यादनिर्ज्ञातेषु वा। यदि तावद्ग्रहा अतिग्रहाश्चनिर्ज्ञातास्तदा तद्गतस्यापि गुणस्य संख्याया निर्ज्ञातत्वात्कति ग्रहाः कत्यतिग्रहा इति संख्याविषयः प्रश्नो नोपपद्यते। अथानिर्ज्ञातास्तदा संख्येयविषयः प्रश्न इति के ग्रहाः केऽतिग्रहा इति प्रष्टव्यं न तु कति ग्रहाः कत्यतिग्रहा इति प्रश्नः। अपि च निर्ज्ञातसामान्यकेषु विशेषविज्ञानाय प्रश्नो भवति यथा कतमेऽत्र कठाः कतमेऽत्र कालापा(+) इति। न चात्र ग्रहातिग्रहा नाम पदार्थाः केचन लोके प्रसिद्धाः। येन विशेषार्थः प्रश्नः स्यात्। ननु चातिमुच्यत इत्युक्तं ग्रहगृहीतस्य हि मोक्षः, स मुक्तिः साऽतिमुक्तिरिति हि द्विरुक्तम्। तस्मात्प्राप्ता ग्रहा अतिग्रहाश्च। ननु तत्रापि चत्वारो ग्रहा अतिग्रहाश्च निर्ज्ञाता वाक्चक्षुःप्राणमनांसि, तत्र कतीति प्रश्नो नोपपद्यते निर्ज्ञातत्वात्। न, अनवधारणार्थत्वात्। न हि चतुष्ट्वं तत्र विवक्षितमिह तु ग्रहातिग्रहदर्शनेऽष्टत्वगुणविवक्षया कतीति प्रश्न उपपद्यत एव। तस्मात्स मुक्तिः साऽतिमुक्तिरिति मुक्त्यतिमुक्ती द्विरुक्ते ग्रहातिग्रहा अपि सिद्धाः। अतः कतिसंख्याका ग्रहाः कति वाऽतिग्रहा इति पृच्छति। इतर आह—अष्टौ ग्रहा अष्टावतिग्रहा इति। **ये तेऽष्टौ ग्रहा अभिहिताः कतमे ते** नियमेन ग्रहीतव्या **इति**॥१॥

तत्राऽऽह। **प्राणो वै ग्रहः** प्राण इति घ्राणमुच्यते। प्रकरणात्।

(+) A series of four stanzas on the same subject and forming one grammatical sentence.

परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी·

वाग्वै ग्रहः स नाम्नाऽतिग्राहेण गृहीतो वाचा हि नामान्यभिवदति॥३॥

जिह्वा वै ग्रहः स रसेनातिग्राहेण गृहीतो जिह्वया हि रसान्विजानाति॥४॥

लोचन मोर पंख करि लेखा + नयनन संत दरस नहीं देखा.

चक्षुर्वै ग्रहः स रूपेणातिग्राहेण गृहीतश्चक्षुषा हि रूपाणि पश्यति॥५॥

जिन्ह हरि कथा सुनी नहीं काना + श्रवण रंध अहि भवन समाना

श्रोत्रं वै ग्रहः स शब्देनातिग्राहेण गृहीतः श्रोत्रेण हि शब्दाञ्शृणोति॥६॥

वाक् ही ग्रह है, वह नामरूप अतिग्रह से गृहीत है क्योंकि प्राणी वाक् से ही नामों का उच्चारण करता है॥३॥

जिह्वा ही ग्रह है, वह रसरूप अतिग्रह से गृहीत है क्योंकि प्राणी जिह्वा से ही रसों को पृथक्-पृथक् विशेषरूप से जानता है॥४॥

नेत्र ही ग्रह है, वह रूप अतिग्रह से गृहीत है क्योंकि चक्षु से ही रूपों को देखता है॥५॥

श्रोत्र ही ग्रह है, वह शब्दरूप अतिग्रह से पकड़ा हुआ है क्योंकि प्राणी श्रोत्र से ही शब्दों को सुनता है॥६॥

वायुसहितः **सः**। **अपानेने**ति गन्धेनेत्येतत्। अपानसचिवत्वादपानो गन्ध उच्यते। अपानोपहृतं हि गन्धं घ्राणेन सर्वो लोको जिघ्रति। तदेतदुच्यते**ऽपानेन हि गन्धाञ्जिघ्रती**ति॥२॥

वाग्वै ग्रहः। वाचा ह्यध्यात्मपरिच्छिन्नयाऽऽसङ्गविषयास्पदयाऽसत्यानृतासभ्यबीभत्सादिवचनेषु व्यापृतया गृहीतो लोकोऽपहृतस्तेन वाग्ग्रहः **स ना-**

मनो वै ग्रहः स कामेनातिग्राहेण गृहीतो मनसा हि कामान्कामयते॥७॥

हस्तौ वै ग्रहः स कर्मणाऽतिग्राहेण गृहीतो हस्ताभ्याᳲ हि कर्म करोति॥८॥

त्वग्वै ग्रहः स स्पर्शेनातिग्राहेण गृहीतस्त्वचा हि स्पर्शान्वेदयत इत्येतेऽष्टौ ग्रहा अष्टावतिग्रहाः॥९॥

मन ही ग्रह है, वह कामरूप अतिग्रह से गृहीत है क्योंकि प्राणी मन से ही भोगों की कामना करता है॥७॥

हस्त ही ग्रह है, वह कर्मरूप अतिग्रह से गृहीत है क्योंकि हाथों से ही प्राणी कर्म करता है॥८॥

त्वचा ही ग्रह है, वह स्पर्शरूप अतिग्रह से गृहीत है क्योंकि त्वचा से ही स्पर्शों को प्राणी जानता है। इस प्रकार त्वक्पर्यन्त ये आठ ग्रह हैं और स्पर्शपर्यन्त ये आठ अतिग्रह हैं। (उक्त मन्त्रों में "अतिग्राहेण" यहाँ पर छान्दस दीर्घ समझना चाहिये)॥९॥

म्नाऽतिग्राहेण गृहीतः स वागाख्यो ग्रहो **नाम्ना** वक्तव्येन विषयेणातिग्रहेण**ातिग्राहेणे**ति दैर्घ्यं छान्दसंनाम। वक्तव्यार्था हि वाक्तेन वक्तव्येनार्थेन तादर्थ्येन प्रयुक्ता वाक्तेन वशीकृता तेन तत्कार्यमकृत्वा नैव तस्या मोक्षः। अतो नाम्नाऽतिग्राहेण गृहीता वागित्युच्यते। वक्तव्यासङ्गेन हि प्रवृत्ता सर्वानर्थैर्युज्यते। समानमन्यत्। **इत्येते** त्वक्पर्यन्ता **अष्टौ ग्रहाः** स्पर्शपर्यन्ताश्चैते**ऽष्टावतिग्रहा** इति॥३॥ ॥४॥ ॥५॥ ॥६॥ ॥७॥ ॥८॥ ॥९॥

मरणासन्न व्यक्ति के तीन मित्र, ① पहला, किस Dr. को चाहो उसे बुलाउ - धन
② अन्त्येष्टि चन्दन की लकड़ी से = पुत्र मित्र परिवार
③ तीसरा साथ नहीं छोड़ेगा - नाम - कर्म or परमात्मा.

सर्वभक्षक मृत्यु पर विजय

याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदꣳ सर्वं मृत्योरन्नं का स्वित्सा देवता यस्या मृत्युरन्नमित्यग्निर्वै मृत्युः सोऽपामन्नमप पुनर्मृत्युं जयति॥१०॥

हे याज्ञवल्क्य! ऐसा आर्तभाग ने कहा— यह जो कुछ भी व्याकृत जगत् है; वह सब मृत्यु का अन्न है। पर जिसका अन्न मृत्यु भी है, ऐसा देवता कौन है? (याज्ञवल्क्य ने कहा—) अग्नि ही मृत्यु है, वह अग्नि रूप मृत्यु जल का खाद्य है (वह जल मृत्यु का भी मृत्यु है, इस प्रकार के ज्ञान से) पुरुष पुनर्मृत्यु को जीत लेता है॥१०॥

उपसंहृतेषु ग्रहातिग्रहेष्वाह पुनः— **याज्ञवल्क्येति होवाच। यदिदं सर्वं मृत्योरन्नं** यदिदं व्याकृतं सर्वं मृत्योरन्नं सर्वं जायते विपद्यते च ग्रहातिग्रहलक्षणेन मृत्युना ग्रस्तम्। **का स्वित्का नु स्यात्सा देवता यस्या** देवताया **मृत्युरप्यन्नं** भवेत् ''मृत्युर्यस्योपसेचनम्''इति श्रुत्यन्तरात्। अयमभिप्रायः प्रष्टुः, यदि मृत्योर्मृत्युं वक्ष्यत्यनवस्था स्यात्। अथ न वक्ष्यत्यस्माद्ग्रहातिग्रहलक्षणान्मृत्योर्मोक्षो नोपपद्यते। ग्रहातिग्रह-मृत्युविनाशे हि मोक्षः स्यात्। स यदि मृत्योरपि मृत्युः स्याद्भवेद्ग्रहातिग्रहलक्षणस्य मृत्योर्विनाशः। अतो दुर्वचनं प्रश्नं मन्वानः पृच्छति का स्वित्सा देवतेति। अस्ति तावन्मृत्योर्मृत्युः। नन्वनवस्था स्यात्तस्याप्यन्यो मृत्युरिति। नानवस्था। सर्वमृत्योर्मृत्व्वंन्तरानुपपत्तेः। कथं पुनरवगम्यतेऽस्ति मृत्योर्मृत्युरिति। दृष्टत्वात्। **अग्निस्तावत्सर्वस्य** दृष्टो **मृत्युर्**विनाशकत्वात्। **सो**ऽद्भिर्भक्ष्यते **सोऽग्निरपामन्नम्**। गृहाण, तर्ह्यस्तिमृत्योर्मृत्युरिति। तेन सर्वं ग्रहातिग्रहजातं भक्ष्यते मृत्योर्मृत्युना। तस्मिन्बन्धने नाशिते मृत्युना भक्षिते संसारान्मोक्ष उपपन्नो भवति। बन्धनं हि ग्रहातिग्रहलक्षणमुक्तं, तस्माच्च मोक्ष उपपद्यत इत्येतत्प्रसाधितम्। अतो बन्धमोक्षाय पुरुषप्रयासः सफलो भवत्यतो**ऽपजयति पुनर्मृत्युम्**॥१०॥

(तत्त्वज्ञानी के देहावसान का क्रम)

याज्ञवल्क्येति होवाच यत्रायं पुरुषो म्रियत उदस्मा-ब्रह्मवेत्ता
त्प्राणाः क्रामन्त्याहो३ नेति नेति होवाच याज्ञवल्क्यो ऽत्रैव समवनीयन्ते स उच्छ्वयत्याध्मायत्याध्मातो मृतः शेते॥११॥

"अधिष्ठानावशेषो हि नाशः कल्पितवस्तुनः"

हे याज्ञवल्क्य! ऐसा आर्तभाग ने कहा— जब वह मनुष्य मरता है, तब उस ब्रह्मवेत्ता के वागादि प्राणों का उत्क्रमण होता है या नहीं? याज्ञवल्क्य ने कहा नहीं, ऐसा सर्वथा नहीं होता। तत्त्वज्ञानी के प्राण इस परमात्मा में ही एकीभाव को प्राप्त हो जाते हैं। जैसे— समुद्र में तरंगें, (सर्व साधारण प्राणी के समान वह भी मरता तो है किन्तु उसका पुनर्जन्म नहीं होता है। अतएव सर्वसामान्य मृत प्राणी के समान) वह फूल जाता है, धौंकनी के समान अर्थात् वायु को भीतर खींचता है और वायु से पूर्ण हुआ ही मरकर पड़ा रहता है॥११॥

परेण मृत्युना मृत्यौ भक्षिते परमात्मदर्शनेन योऽसौ मुक्तो विद्वान्सो**ऽयं पुरुषो यत्र** यस्मिन्काले **म्रियते उदूर्ध्वमस्माद्**ब्रह्मविदो म्रियमाणात्**प्राणा** वागादयो ग्रहा नामादयश्चातिग्रहा वासनारूपा अन्तस्थाः प्रयोजकाः **क्रामन्त्यू-र्ध्वमुत्क्रामन्त्याहोस्विन्नेति? नेति होवाच याज्ञवल्क्यो** नोत्क्रामन्त्य**त्रैवा**-स्मिन्नेव परेणाऽऽत्मनाऽविभागं गच्छन्ति विदुषि, कार्याणि करणानि च स्वयोनौ परब्रह्मसतत्त्वे **समवनीयन्ते** एकीभावेन समवसृज्यन्तेप्रलीयन्त इत्यर्थः। ऊर्मय तरंग इव समुद्रे। तथा च श्रुत्यन्तरं कलाशब्दवाच्यानां प्राणानां परस्मिन्नात्मनि प्रलयं दर्शयति— "एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडश कलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्तीति"। इति परेणाऽऽत्मनाऽविभागं गच्छन्तीति दर्शितम्। न तर्हि मृतः, न हि मृतश्चायम्। यस्मात् **स उच्छ्वयत्**युच्छूनतां प्रतिपद्यते, **आध्मायति** बाह्येन वायुना पूर्यते दृतिवदा**ध्मातो मृतः शेते** निश्चेष्टः। बन्धननाशे मुक्तस्य न क्वचिद्गमनमिति वाक्यार्थः॥११॥

चार्वाक=① प्रत्यक्ष, ② अनुमान, ③ शाब्द, ④ अर्थापत्ति गौतम ⑤ उपपत्ति= कुमारिल भट्ट=⑥ अनुपलब्धि वेदान्ती=⑥ प्रमाण मानते हैं

याज्ञवल्क्येति होवाच यत्रायं पुरुषो म्रियते किमेनं न जहातीति, नामेत्यनन्तं वै नामानन्ता विश्वेदेवा अनन्तमेव स तेन लोकं जयति॥१२॥

(इन्द्रियाभिमानी देवताओं के हट जाने पर परतन्त्र कर्ता पुरुष की स्थिति)

याज्ञवल्क्येति होवाच यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्याग्निं वागप्येति वातं प्राणश्चक्षुरादित्यं मनश्चन्द्रं दिशः

हे याज्ञवल्क्य! ऐसा आर्तभाग ने कहा। जब यह पुरुष मरता है, तब इसे क्या नहीं छोड़ता? याज्ञवल्क्य ने कहा—नाम नहीं छोड़ता क्योंकि नाम नित्य और अनन्त है। विश्वेदेव भी अनन्त हैं, इस प्रकार इस अनन्तत्व के अधिकारी विश्वेदेव को आत्मभाव से दर्शन कर वह पुरुष अनन्तलोक को ही जीतता है॥१२॥

हे याज्ञवल्क्य! ऐसा आर्तभाग ने कहा। जब हस्तपादादियुक्त सावयव मृत पुरुष की वाक् अग्नि में लीन हो जाती है, प्राण वायु में, नेत्र आदित्य में, मन चन्द्रमा में, श्रोत्र

मुक्तस्य किं प्राणा एव समवनीयन्ते आहोस्वित्तत्प्रयोजकमपि सर्वम्। अथ प्राणा एव, न तत्प्रयोजकं सर्वं, प्रयोजके विद्यमाने पुनः प्राणानां प्रसङ्गः। अथ सर्वमेव कामकर्मादि, ततो मोक्ष उपपद्यत इत्येवमर्थ उत्तरः प्रश्नः। **याज्ञवल्क्येति होवाच यत्रायं पुरुषो म्रियते किमेनं न जहातीति**। आहेतरो **नामेति** सर्वं समवनीयत इत्यर्थः। नाममात्रं तु न लीयत आकृतिसंबन्धात् नित्यं हि नाम। **अनन्तं वै नाम**। नित्यत्वमेवाऽऽनन्त्यं नाम्नः। तदानन्त्याधिकृता **अनन्ता वै विश्वे देवा अनन्तमेव स तेन लोकं जयति**। तन्नामानन्त्याधिकृतान्विश्वान्देवानात्मत्वेनोपेत्य तेनाऽऽनन्त्यदर्शनेनानन्तमेव लोकं जयति॥१२॥

ग्रहातिग्रहरूपं बन्धनमुक्तं मृत्युरूपं, तस्य च मृत्योर्मृत्युसद्भावान्मोक्षश्चोपपद्यते। स च मोक्षो ग्रहातिग्रहरूपाणामिहैव प्रलयः प्रदीपनिर्वाणवत्। यद्ग्रहातिग्रहाख्यं बन्धनं मृत्युरूपं, तस्य यत्प्रयोजकं तत्स्वरूपनिर्धारणार्थमिदमारभ्यते।

श्रोत्रं पृथिवीꣳ शरीरमाकाशमात्मौषधीर्लोमानि वनस्पतीन्केशा अप्सु लोहितं च रेतश्च निधीयते क्वायं तदा पुरुषो भवतीत्याहर सोम्य हस्तमार्तभागाऽऽवामेवैतस्य वेदिष्यावो न नावेतत्सजन इति। तौ होत्क्रम्य मन्त्रयांचक्राते तौ ह यदूचतुः कर्म हैव तदूचतुरथ

दिशा में, शरीर पृथिवी में, हृदयाकाश भूताकाश मे, लोम ओषधि में और केश वनस्पतियों में लीन हो जाते हैं तथा शुक्र-शोणित जल में स्थित हो जाते हैं, तब वह पुरुष कहाँ रहता है? याज्ञवल्क्य ने कहा—हे प्रियदर्शन आर्तभाग! तुम मुझे अपना हाथ पकड़ाओ, हम दोनों ही इस प्रश्न का उत्तर समझेंगे। यह प्रश्न जनसमुदाय में निर्णय करने योग्य नहीं है। उसके बाद उन दोनों ने उठकर एकान्त में विचार किया। उन्होंने निर्णय में जो कुछ

याज्ञवल्क्येति होवाच। अत्र केचिद्वर्णयन्ति ग्रहातिग्रहस्य सप्रयोजकस्य विनाशेऽपि किल न मुच्यते। नामावशिष्टोऽविद्ययोषरस्थानीयया स्वात्मप्रभवया परमात्मनः परिच्छिन्नो भोज्याच्च जगतो व्यावृत्त उच्छिन्नकामकर्मान्तराले व्यवतिष्ठते। तस्य परमात्मैकत्वदर्शनेन द्वैतदर्शनमपनेतव्यमित्यतः परं परमात्मदर्शनमारब्धव्यमित्येवमपवर्गाख्यामन्तरालावस्थांपरिकल्प्योत्तरग्रन्थसंबन्धं कुर्वन्ति।

तत्र वक्तव्यं विशीर्णेषु करणेषु विदेहस्य परमात्मदर्शनश्रवणमनननिदिध्यासनानि कथमिति। समवनीतप्राणस्य हि नाममात्रावशिष्टस्येति तैरुच्यते। मृतः शेते इति ह्युक्तम्। न मनोरथेनाप्येतदुपपादयितुं शक्यते। अथ जीवन्नेवाविद्यामात्रावशिष्टो भोज्यादपावृत्त इति परिकल्प्यते, तत्तु किंनिमित्तमिति वक्तव्यम्। समस्तद्वैतैकत्वात्मप्राप्तिनिमित्तमिति यद्युच्येत, तत्पूर्वमेव निराकृतम्। कर्मसहितेन द्वैतैकत्वात्मदर्शनेन संपन्नो विद्वान्मृतः समवनीतप्राणो जगदात्मत्वं हिरण्यगर्भस्वरूपं वा प्राप्नुयादसमवनीतप्राणो भोज्याजीवन्नेव वा व्यावृत्तो विरक्तः परमात्मदर्शनाभिमुखः स्यात्।

ज्ञानी का इन्द्रियाँ संयमित: विषय असम्बद्ध इन्द्रियाँ होती है।

यत्प्रशशश्रंसतुः कर्म हैव तत्प्रशशश्रंसतुः पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेनेति ततो ह जारत्कारव आर्तभाग उपरराम॥१३॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि तृतीयाध्याये आर्तभागनामद्वितीयं ब्राह्मणम्॥२॥

भी कहा; वह सबका तात्पर्यरूप कर्म को ही कहा तथा (काल, कर्म, दैवादि हेतुओं में भी) जिसकी प्रशंसा की है, वह वस्तुतः कर्म की ही प्रशंसा की है। वह यह है कि पुरुष पुण्यकर्म से धर्मात्मा होता है और पापकर्म से पापात्मा होता है। इस प्रकार अपने प्रश्न के उत्तर हो जाने पर जारत्कारव आर्तभाग चुप हो गया॥१३॥

न चोभयमेकप्रयत्ननिष्पाद्येन साधनेन लभ्यम्। हिरण्यगर्भप्राप्तिसाधनं चेन्न ततो व्यावृत्तिसाधनम्। परमात्माभिमुखीकरणस्य भोज्याद्व्यावृत्तेः साधनं चेन्न हिरण्यगर्भप्राप्तिसाधनम्। न हि यद्गतिसाधनं तद्गतिनिवृत्तेरपि। अथ मृत्वा हिरण्यगर्भं प्राप्य ततः समवनीतप्राणो नामावशिष्टः परमात्मज्ञानेऽधिक्रियते। ततोऽस्मदाद्यर्थं परमात्मज्ञानोपदेशोऽनर्थकः स्यात्। सर्वेषां हि ब्रह्मविद्या पुरुषार्थायोपदिश्यते "तद्यो यो देवानाम्" इत्याद्यया श्रुत्या। तस्मादत्यन्तनिकृष्टा शास्त्रबाह्यैवेयं कल्पना। प्रकृतं तु वर्तयिष्यामः।

तत्र केन प्रयुक्तं ग्रहातिग्रहलक्षणं बन्धनमित्येतन्निर्दिधारयिषयाऽऽह— **यत्रास्य पुरुषस्या**सम्यग्दर्शिनः शिरःपाण्यादिमतो **मृतस्य वागग्निमप्येति वातं प्राणो**ऽप्येति **चक्षुरादित्यम**प्येतीति सर्वत्र संबध्यते। **मनश्चन्द्रं दिशः श्रोत्रं पृथिवीं शरीरमाकाशमात्मे**त्यत्राऽऽत्माधिष्ठानं हृदयाकाशमुच्यते। स आकाशमप्येति। **ओषधीर**पियन्ति **लोमानि**। **वनस्पतीन**पियन्ति **केशाः**। **अप्सु लोहितं च रेतश्च निधीयत** इति पुनरादानलिङ्गम्।

माया (= अज्ञान) के कारण - काल, कर्म स्वभाव, गुण से प्रेरित जीव भटकता है 84 लाख योनियों में.

सर्वत्र हि वागादिशब्देन देवताः परिगृह्यन्ते, न तु करणान्येवापक्रामन्ति प्राङ्मोक्षात्। तत्र देवताभिरनधिष्ठितानि करणानि न्यस्तदात्राद्युपमानानि विदेहश्च कर्ता पुरुषोऽस्वतन्त्रः किमाश्रितो भवतीति पृच्छ्यते—**क्वायं तदा पुरुषो भवतीति**। किमाश्रितस्तदा पुरुषो भवतीति। यमाश्रयमाश्रित्य पुनः कार्यकरणसंघातमुपादत्ते, येन ग्रहातिग्रहलक्षणंबन्धनं प्रयुज्यते तत्किमिति प्रश्नः।

अत्रोच्यते—स्वभावयदृच्छाकालकर्मदैवविज्ञानमात्रशून्यानि, वादिभिः परिकल्पितानि। अतोऽनेकविप्रतिपत्तिस्थानत्वान्नैव जल्पन्यायेन वस्तुनिर्णयः। अत्र वस्तुनिर्णयं चेदिच्छस्या**हर सोम्य हस्तमार्तभाग** ह **आवामेवैतस्य** त्वत्पृष्टस्य वेदितव्यं यत्त**द्वेदिष्यावो** निरूपयिष्यावः। कस्मात्। **न नावावयोरेतद्वस्तु सजने** जनसमुदाये निर्णेतुं शक्यते। अत एकान्तं गमिष्यावो विचारणाय।

तौ हेत्यादि श्रुतिवचनम्। तौ याज्ञवल्क्यार्तभागावेकान्तं गत्वा किं चक्रतुरित्युच्यते—**तौ होत्क्रम्य** सजनाद्देशा**न्मन्त्रयांचक्राते**। आदौ लौकिकवादिपक्षाणामेकैकं परिगृह्य विचारितवन्तौ। **तौ ह** विचार्य **यदूचतुर**पोह्य पूर्वपक्षान्सर्वानेव तच्छृणु। **कर्म हैवाऽऽश्रयं** पुनः पुनः कार्यकरणोपादानहेतुं **तत्रोचतुरु**क्तवन्तौ। न केवलं कालकर्मदैवेश्वरेष्वभ्युपगतेषु हेतुषु **यत्प्रशशंसतुस्तौ कर्म हैव तत्प्रशशंसतुः**। यस्मान्निर्धारितमेतत्कर्मप्रयुक्तं ग्रहातिग्रहादिकार्यकरणोपादानं पुनः पुनस्तस्मात्**पुण्यो वै** शास्त्रविहितेन **पुण्येन कर्मणा भवति** तद्विपरीतेन विपरीतो भवति **पापः पापेने**त्येवं याज्ञवल्क्येन प्रश्नेषु निर्णीतेषु **ततो**ऽशक्यप्रकम्प्यत्वाद्याज्ञवल्क्यस्य **ह जारत्कारव आर्तभाग उपरराम**॥१३॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये तृतीयाध्याये द्वितीयमार्तभागब्राह्मणम्॥२॥

॥ इति द्वादशाह्निकम्॥ १२॥

❀❀❀

। अथ तृतीयाध्यायस्य भुज्युनामतृतीयं ब्राह्मणम्।

अथ हैनं भुज्युर्लाह्यायनिः पप्रच्छ। ग्रहातिग्रहलक्षणं बन्धनमुक्तम्। यस्मात्सप्रयोजकान्मुक्तो मुच्यते, येन वा बद्धः संसरति, स मृत्युः। तस्माच्च मोक्ष उपपद्यते, यस्मान्मृत्योर्मृत्युरस्ति। मुक्तस्य च न गतिः क्वचित्। सर्वोत्सादो नाममात्रावशेषः प्रदीपनिर्वाणवदिति चावधृतम्। तत्र संसरतां मुच्यमानानां च कार्यकरणानां स्वकारणसंसर्गे समाने मुक्तानामत्यन्तमेव पुनरनुपादानम्। संसरतां तु पुनः पुनरुपादानं येन प्रयुक्तानां भवति, तत्कर्मेत्यवधारितं विचारणापूर्वकम्। तत्क्षये च नामावशेषेण सर्वोत्सादो मोक्षः। तच्च पुण्यपापाख्यं कर्म। "पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन" इत्यवधारितत्वात्। एतत्कृतः संसारः।

तत्रापुण्येन स्थावरजङ्गमेषु स्वभावदुःखबहुलेषु नरकतिर्यक्प्रेतादिषु च दुःखमनुभवति पुनः पुनर्जायमानो म्रियमाणश्चेत्येतद्राजवर्त्मवत्सर्वलोकप्रसिद्धम्। यस्तु शास्त्रीयः पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति, तत्रैवाऽऽदरः क्रियत इह श्रुत्या। पुण्यमेव च कर्म सर्वपुरुषार्थसाधनमिति सर्वे श्रुतिस्मृतिवादाः। मोक्षस्यापि पुरुषार्थत्वात्तत्साध्यता प्राप्ता। यावद्यावत्पुण्योत्कर्षस्तावत्तावत्फलोत्कर्षप्राप्तिः। तस्मादुत्तमेन पुण्योत्कर्षेण मोक्षो भविष्यतीत्याशङ्का स्यात्। सा निवर्तयितव्या। ज्ञानसहितस्य च प्रकृष्टस्य कर्मण एतावती गतिः। व्याकृतनामरूपास्पदत्वात्कर्मणस्तत्फलस्य च। न त्वकार्ये नित्येऽव्याकृतधर्मिण्यनामरूपात्मके क्रियाकारकफलस्वभाववर्जिते कर्मणो व्यापारोऽस्ति। यत्र च व्यापारः स संसार एवेत्यस्यार्थस्य प्रदर्शनाय ब्राह्मणमारभ्यते।

यत्तु कैश्चिदुच्यते विद्यासहितं कर्म निरभिसंधि मन्त्रशर्करादियुक्तविषदध्यादिवत्कार्यान्तरमारभत इति। तन्न । अनारभ्यत्वान्मोक्षस्य। बन्धननाश एव हि मोक्षो, न कार्यभूतः। बन्धनं चाविद्येत्यवोचाम। अविद्यायाश्च न कर्मणा नाश उपपद्यते। दृष्टविषयत्वाच्च कर्मसामर्थ्यस्य। उत्पत्त्याप्तिविकारसंस्कारा हि कर्मसामर्थ्यस्य विषयाः। उत्पादयितुं प्रापयितुं विकर्तुं संस्कर्तुं च सामर्थ्यं कर्मणो, नातो व्यतिरिक्तविषयोऽस्ति, कर्मसामर्थ्यस्य लोकेऽप्रसिद्धत्वात्। न च मोक्ष एषां पदार्थानामन्यतमः। अविद्यामात्रव्यवहित इत्यवोचाम।

बाढम्। भवतु केवलस्यैव कर्मण एवंस्वभावता। विद्यासंयुक्तस्य तु निरभिसंधेर्भवत्यन्यथा स्वभावः। दृष्टं ह्यन्यशक्तिकत्वेन निर्ज्ञातानामपि पदार्थानां विषदध्यादीनां विद्यामन्त्रशर्करादिसंयुक्तानामन्यविषये सामर्थ्यम्। तथा कर्मणोऽप्यस्त्विवति चेत्। न। प्रमाणाभावात्। तत्र हि कर्मण उक्तविषयव्यतिरेकेण विषयान्तरे सामर्थ्यास्तित्वे प्रमाणं न प्रत्यक्षं, नानुमानं, नोपमानं, नार्थापत्तिर्न, शब्दोऽस्ति।

ननु फलान्तराभावे चोदनान्यथानुपपत्तिः प्रमाणमिति। न हि नित्यानां कर्मणां विश्वजिन्न्यायेन फलं कल्प्यते। नापि श्रुतं फलमस्ति। चोद्यन्ते च तानि। पारिशेष्यान्मोक्षस्तेषां फलमिति गम्यते। अन्यथा हि पुरुषा न प्रवर्तेरन्।

ननु विश्वजिन्न्याय एवाऽऽयातो, मोक्षस्य फलस्य कल्पितत्वात्। मोक्षे वाऽन्यस्मिन्वा फलेऽकल्पिते पुरुषा न प्रवर्तेरन्निति मोक्षः फलं कल्प्यते, श्रुतार्थापत्त्या यथा विश्वजिदिति। नन्वेवं सति कथमुच्यते विश्वजिन्न्यायो न भवतीति। फलं च कल्प्यते विश्वजिन्न्यायश्च न भवतीति विप्रतिषिद्धमभिधीयते। मोक्षः फलमेव न भवतीति चेत्। न। प्रतिज्ञाहानात्। कर्म कार्यान्तरं विषदध्यादिवदारभत इति हि प्रतिज्ञातम्। स चेन्मोक्षः कर्मणः कार्यं फलमेव न भवतीति सा प्रतिज्ञा हीयेत। कर्मकार्यत्वे च मोक्षस्य स्वर्गादिफलेभ्यो विशेषो वक्तव्यः।

अथ कर्मकार्यं न भवति नित्यानां कर्मणां फलं मोक्ष इत्यस्या वचनव्यक्तेः कोऽर्थ इति वक्तव्यम्। न च कार्यफलशब्दभेदमात्रेण विशेषः शक्यः कल्पयितुम्। अफलं च मोक्षो नित्यैश्च कर्मभिः क्रियते, नित्यानां कर्मणां फलं न कार्यमिति चैषोऽर्थो विप्रतिषिद्धोऽभिधीयते, यथाऽग्निः शीत इति।

ज्ञानवदिति चेत्। यथा ज्ञानस्य कार्यं मोक्षो ज्ञानेनाक्रियमाणोऽप्युच्यते तद्वत्कर्मकार्यत्वमिति चेत्। न। अज्ञाननिवर्तकत्वाज्ज्ञानस्य। अज्ञानव्यवधाननिवर्तकत्वाज्ज्ञानस्य मोक्षो ज्ञानकार्यमित्युपचर्यते। न तु कर्मणा निवर्तयितव्यमज्ञानम्। न चाज्ञानव्यतिरेकेण मोक्षस्य व्यवधानान्तरं कल्पयितुं शक्यम्। नित्यत्वान्मोक्षस्य साधकस्वरूपाव्यतिरेकाच्च। यत्कर्मणा निवर्त्येत।

अज्ञानमेव निवर्तयतीति चेत्। न, विलक्षणत्वात्। अनभिव्यक्तिरज्ञानमभिव्यक्तिलक्षणेन ज्ञानेन विरुध्यते। कर्म तु नाज्ञानेन विरुध्यते, तेन ज्ञानविलक्षणं कर्म। यदि ज्ञानाभावो यदि संशयज्ञानं यदि विपरीतज्ञानं वोच्यतेऽज्ञानमिति, सर्वं हि तज्ज्ञानेनैव निवर्त्यते। न तु कर्मणाऽन्यतमेनापि, विरोधाभावात्।

अथादृष्टमपि कर्मणामज्ञाननिवर्तकत्वं कल्प्यमिति चेत्। न। ज्ञानेनाज्ञाननिवृत्तौ गम्यमानायामदृष्टनिवृत्तिकल्पनानुपपत्तेः। यथाऽवघातेन व्रीहीणां तुषनिवृत्तौ गम्यमानायामग्निहोत्रादिनित्यकर्मकार्याऽदृष्टा न कल्प्यते तुषनिवृत्तिः। तद्वदज्ञाननिवृत्तिरपि नित्यकर्मकार्याऽदृष्टा न कल्प्यते। ज्ञानेन विरुद्धत्वं चासकृत्कर्मणामवोचाम। यदविरुद्धं ज्ञानं कर्मभिस्तद्देवलोकप्राप्तिनिमित्तमित्युक्तम् ''विद्यया देवलोकः'' इति श्रुतेः।

किंचान्यत्कल्प्ये च फले नित्यानां कर्मणां श्रुतानां यत्कर्मभिर्विरुध्यते द्रव्यगुणकर्मणां कार्यमेव न भवति किं तत्कल्प्यताम्। यस्मिन्कर्मणः सामर्थ्यमेव न दृष्टम्। किं वा यस्मिन्दृष्टं सामर्थ्यं यच्च कर्मणां फलमविरुद्धं तत्कल्प्यतामिति। पुरुषप्रवृत्तिजननायावश्यं चेत्कर्मफलं कल्पयितव्यम्। कर्माविरुद्धविषय एव श्रुतार्थापत्तेः क्षीणत्वान्नित्यो मोक्षः फलं कल्पयितुं न शक्यस्तद्व्यवधानाज्ञाननिवृत्तिर्वा। अविरुद्धत्वाद्दृष्टसामर्थ्यविषयत्वाच्चेति। पीनो देवदत्तः दिवा न भुङ्क्ते
श्रुतार्थापत्ति = "तरति शोकमात्मवित्" दृष्टार्थापत्ति.

पारिशेष्यन्यायान्मोक्ष एव कल्पयितव्य इति चेत्। सर्वेषां हि कर्मणां सर्वं फलम्। न चान्यदितरकर्मफलव्यतिरेकेण फलं कल्पनायोग्यमस्ति। परिशिष्टश्च मोक्षः। स चेष्टो वेदविदां फलम्। तस्मात्स एव कल्पयितव्य इति चेत्। न। कर्मफलव्यक्तीनामानन्त्यात्पारिशेष्यन्यायानुपपत्तेः। न हि पुरुषेच्छाविषयाणां कर्मफलानामेतावत्त्वं नाम केनचिदसर्वज्ञेनावधृतं तत्साधनानां वा पुरुषेच्छानां वाऽनियतदेशकालनिमित्तत्वात्पुरुषेच्छाविषयसाधनानां च पुरुषेष्टफलप्रयुक्तत्वात्। प्रतिप्राणि चेच्छावैचित्र्यात्फलानां तत्साधनानां चाऽऽनन्त्यसिद्धिः। तदानन्त्याच्चाशक्यमेतावत्त्वं पुरुषैर्ज्ञातुम्। अज्ञाते च साधनफलैतावत्त्वे कथं मोक्षस्य परिशेषसिद्धिरिति।

श्रुतार्थापत्तिः तरति शोकमात्मवित् ॥
दृष्टार्थापत्तिः पीनो देवदत्तः दिवा न भुङ्क्ते ॥

कर्मफलजातिपारिशेष्यमिति चेत्। सत्यपीच्छाविषयाणां तत्साधनानां चाऽऽनन्त्ये कर्मफलजातित्वं नाम सर्वेषां तुल्यम्। मोक्षस्त्वकर्मफलत्वात्परिशिष्टः स्यात्। तस्मात्परिशेषात्स एव युक्तः कल्पयितुमिति चेत्। न। तस्यापि नित्यकर्मफलत्वाभ्युपगमे कर्मफलसमानजातीयत्वोपपत्तेः परिशेषानुपपत्तिः। (4) तस्मादन्यथाऽप्युपपत्तेः क्षीणा श्रुतार्थापत्तिः। उत्पत्त्याप्तिविकारसंस्काराणामन्यतममपि नित्यानां कर्मणां फलमुपपद्यत इति क्षीणा श्रुतार्थापत्तिः। (4) नित्यकर्मणो मोक्षः इति पक्षः निरस्तः

चतुर्णामन्यतम एव मोक्ष इति चेत्। न तावदुत्पाद्यो, नित्यत्वात्। अत एवाविकार्योऽसंस्कार्यश्चात एवासाधनद्रव्यात्मकत्वाच्च। साधनात्मकं हि द्रव्यं संस्क्रियते। यथा पात्राज्यादि प्रोक्षणेक्षणादिना। न च संस्क्रियमाणः संस्कारनिर्वर्त्यो वा यूपादिवत्। पारिशेष्यादाप्यः स्यात्। नाऽऽप्योऽपि, आत्मस्वभावत्वादेकत्वाच्च।

इतरैः कर्मभिर्वैलक्षण्यान्नित्यानां कर्मणां तत्फलेनापि विलक्षणेन भवितव्यमिति चेत्। न। कर्मत्वसालक्षण्यात्सलक्षणं कस्मात्फलं न भवतीतरकर्मफलैः? निमित्तवैलक्षण्यादिति चेत्। न। क्षामवत्यादिभिः समानत्वात्।

यथा हि गृहदाहादौ निमित्ते क्षामवत्याद्येष्टिर्यथा भिन्ने जुहोति, स्कन्ने जुहोतीत्येवमादौ नैमित्तिकेषु कर्मसु न मोक्षः फलं कल्प्यते। तैश्चाविशेषान्नैमित्तिकत्वेन जीवनादिनिमित्ते च श्रवणात्। तथा नित्यानामपि न मोक्षः फलम्।

आलोकस्य सर्वेषां रूपदर्शनसाधनत्वे उलूकादय आलोकेन रूपं न पश्यन्तीत्युलूकादिचक्षुषो वैलक्षण्यादितरलोकचक्षुर्भिर्न रसादिविषयत्वं परिकल्प्यते। रसादिविषये सामर्थ्यस्यादृष्टत्वात्। सुदूरमपि गत्वा यद्विषये दृष्टं सामर्थ्यं तत्रैव कश्चिद्विशेषः कल्पयितव्यः। → नित्यापूर्वं अधिकं प्रतिभाति अन्यथानुपपत्त्या

A यत्पुनरुक्तं विद्यामन्त्रशर्करादिसंयुक्तविषदध्यादिवन्नित्यानि कर्माणि कार्यान्तरमारभन्त इति। आरभ्यतां विशिष्टं कार्यं तदिष्टत्वादविरोधः। निरभिसंधेः कर्मणो विद्यासंयुक्तस्य विशिष्टकार्यान्तरारम्भे न कश्चिद्विरोधः। देवयाज्यात्मयाजिनोरात्मयाजिनो विशेषश्रवणाद्देवयाजिनः श्रेयानात्मयाजीत्यादौ "यदेव विद्यया करोति"-इत्यादौ च।

यस्तु परमात्मदर्शनविषये मनुनोक्तः आत्मयाजीशब्दः संपश्यन्नात्मयाजीत्यत्र समं पश्यन्नात्मयाजी भवतीत्यर्थः। अथवा भूतपूर्वगत्या आत्मयाज्यात्मसंस्कारार्थं नित्यानि कर्माणि करोति "इदं मेऽनेनाङ्गं संस्क्रियते" इति श्रुतेः। तथा "गार्भैर्होमैः" इत्यादिप्रकरणे कार्यकरणसंस्कारार्थत्वं नित्यानां कर्मणां दर्शयति। संस्कृतश्च य आत्मयाजी तैः कर्मभिः समं द्रष्टुं समर्थो भवति। तस्येह वा जन्मान्तरे वा सममात्मदर्शनमुत्पद्यते। समं पश्यन्स्वाराज्यमधिगच्छतीत्येषोऽर्थः। आत्मयाजिशब्दस्तु भूतपूर्वगत्या प्रयुज्यते। ज्ञानयुक्तानां नित्यानां कर्मणां ज्ञानोत्पत्तिसाधनत्वप्रदर्शनार्थम्।

किंचान्यत्

"ब्रह्मा विश्वसृजो धर्मो महानव्यक्तमेव च।
उत्तमां सात्त्विकीमेतां गतिमाहुर्मनीषिणः"॥

इति च देवसार्ष्टिव्यतिरेकेण भूताप्ययं दर्शयति। भूतान्यप्येति पञ्च वै। भूतान्यत्येतीति पाठं ये कुर्वन्ति, तेषां वेदविषये परिच्छिन्नबुद्धित्वाददोषः।

न चार्थवादत्वमध्यायस्य ब्रह्मान्तकर्मविपाकार्थस्य तद्व्यतिरिक्तात्मज्ञानार्थस्य च कर्मकाण्डोपनिषद्भ्यां तुल्यार्थत्वदर्शनात्। विहिताकरणप्रतिषिद्धकर्मणां च स्थावरश्वसूकरादिफलदर्शनात्। वान्ताश्यादिप्रेतदर्शनाच्च।

न च श्रुतिस्मृतिविहितप्रतिषिद्धव्यतिरेकेण विहितानि वा प्रतिषिद्धानि वा कर्माणि केनचिदवगन्तुं शक्यन्ते। येषामकरणादनुष्ठानाच्च प्रेतश्वसूकरस्थावरादीनि कर्मफलानि प्रत्यक्षानुमानाभ्यामुपलभ्यन्ते। न चैषामकर्मफलत्वं केनचिदभ्युपगम्यते। तस्माद्विहिताकरणप्रतिषिद्धसेविनां यथैते कर्मविपाकाः प्रेततिर्यक्स्थावरादयस्तथोत्कृष्टेष्वपि ब्रह्मान्तेषु कर्मविपाकत्वं वेदितव्यम्। तस्मात् "स आत्मनो वपामुदखिदत्सोऽरोदीत्" इत्यादिवन्नाभूतार्थवादत्वम्।

तत्राप्यभूतार्थवादत्वं मा भूदिति चेत्। भवत्वेवम्। न चैतावताऽस्य न्यायस्य बाधो भवति। न चास्मत्पक्षो वा दुष्यति। न च "ब्रह्मा विश्वसृजः" इत्यादीनां

अथ हैनं भुज्युर्लाह्यायनिः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच। मद्रेषु चरकाः पर्यव्रजाम ते पतञ्चलस्य

उसके बाद याज्ञवल्क्य से लह्य के पुत्र भुज्यु ने पूछा— (हे याज्ञवल्क्य!) ऐसा उसने कहा। हम अध्ययन के लिए व्रताचरण करते हुए मद्रदेश में विचर रहे थे कि कपि गोत्रोत्पन्न

काम्यकर्मफलत्वं शक्यं वक्तुम्। तेषां देवसार्ष्टितायाः फलस्योक्तत्वात्। तस्मात्साभिसंधीनां नित्यानां कर्मणां सर्वमेधाश्वमेधादीनां च ब्रह्मत्वादीनि फलानि।

येषां पुनर्नित्यानि निरभिसंधीन्यात्मसंस्कारार्थानि, तेषां ज्ञानोत्पत्त्यर्थानि तानि। ''ब्राह्मीयं क्रियते तनुः'' इति स्मरणात्। तेषामारादुपकारकत्वान्मोक्षसाधनान्यपि कर्माणि भवन्तीति न विरुध्यते। यथा चायमर्थः षष्ठे जनकाख्यायिकासमाप्तौ वक्ष्यामः। यत्तु विषदध्यादिवदित्युक्तं, तत्र प्रत्यक्षानुमानविषयत्वादविरोधः। यस्त्वत्यन्तशब्दगम्योऽर्थस्तत्र वाक्यस्याभावे तदर्थप्रतिपादकस्य न शक्यं कल्पयितुं विषदध्यादिसाधर्म्यम्।

न च प्रमाणान्तरविरुद्धार्थविषये श्रुतेः प्रामाण्यं कल्प्यते, यथा शीतोऽग्निः क्लेदयतीति। श्रुते तु तादर्थ्ये वाक्यस्य प्रमाणान्तरस्याऽऽभासत्वम्। यथा खद्योतोऽग्निरिति तलमलिनमन्तरिक्षमिति वा बालानां यत्प्रत्यक्षमपि तद्विषयप्रमाणान्तरस्य यथार्थत्वे निश्चिते निश्चितार्थमपि बालप्रत्यक्षमाभासीभवति।

तस्माद्वेदप्रामाण्यस्याव्यभिचारात्तादर्थ्ये सति वाक्यस्य तथात्वं स्यात्। न तु पुरुषमतिकौशलम्। न हि पुरुषमतिकौशलात्सविता रूपं न प्रकाशयति। तथा वेदवाक्यान्यपि नान्यार्थानि भवन्ति। तस्मान्न मोक्षार्थानि कर्माणीति सिद्धम्। अतः कर्मफलानां संसारत्वप्रदर्शनायैव ब्राह्मणमारभ्यते —

अथानन्तरमुपरते जारत्कारवे **भुज्यु**रिति नामतो लह्यस्यापत्यं लाह्यस्तदपत्यं **लाह्यायनिः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच।** आदावुक्तमश्वमेधदर्शनं समष्टिव्यष्टिफलश्चाश्वमेधक्रतुः। ज्ञानसमुच्चितो वा केवलज्ञानसंपादितो वा सर्वकर्मणां

Computer & Mobile works through air. Same thing is told here.
वायु का प्रशंसा: ब्रह्म लोक प्राप्त करने वाला आदित्य मण्डल को भेदन करता है। अमानव पुरुष विद्युत् लोक से ब्रह्म लोक ले जाते हैं।

काप्यस्य गृहानैम तस्याऽऽसीद्दुहिता गन्धर्वगृहीता तमपृच्छाम कोऽसीति सोऽब्रवीत्सुधन्वाऽऽङ्गिरस इति तं यदा लोकानामन्तानपृच्छामाथैनमब्रूम क्व पारिक्षिता अभवन्निति क्व पारिक्षिता अभवन्स त्वा पृच्छामि याज्ञवल्क्य क्व पारिक्षिता अभवन्निति॥१॥

पतञ्चल नामक पुरुष के घर घूमते-घूमते पहुँच गये। उसकी पुत्री किसी गन्धर्व से आविष्ट थी। हमने उससे पूछा— तू कौन है ? अर्थात् तुम्हारा क्या काम और क्या स्वरूप है ? उसने कहा— मैं गोत्र से आङ्गिरस और नाम से सुधन्वा हूँ। जब हमने उससे भुवनकोशों के अन्त के विषय में पूछा और हमने अपनी प्रशंसा करते हुए उससे यह भी पूछा— परीक्षित कहाँ रहे ? (तब उस गन्धर्व ने हमें सभी बातें बता दीं। तात्पर्य यह कि हमने दिव्य प्राणी से ज्ञान प्राप्त किया है) वही हम तुमसे पूछते हैं कि परीक्षित कहां रहे॥१॥

परा काष्ठा। ''भ्रूणहत्याश्वमेधाभ्यां न परं पुण्यपापयोः''इति हि स्मरन्ति। तेन हि समष्टिं व्यष्टीश्च प्राप्नोति। तत्र व्यष्टयो निर्ज्ञाता अण्डान्तरविषया अश्वमेधयागफलभूताः। ''मृत्युरस्याऽऽत्मा भवत्येतासां देवतानामेको भवती''त्युक्तम्।

मृत्युश्चाशनायालक्षणो बुद्ध्यात्मा समष्टिः प्रथमजो वायुः सूत्रं सत्यं हिरण्यगर्भः। तस्य व्याकृतो विषयो यदात्मकं सर्वं द्वैतैकत्वं यः सर्वभूतान्तरात्मा लिङ्गममूर्तरसो यदाश्रितानि सर्वभूतकर्माणि यः कर्मणां कर्मसंबद्धानां च विज्ञानानां परा गतिः परं फलम्। तस्य कियान्गोचरः कियती व्याप्तिः सर्वतः परिमण्डलीभूता, सा वक्तव्या। तस्यामुक्तायां सर्वः संसारो बन्धगोचर उक्तो भवति। तस्य च समष्टिव्यष्ट्यात्मदर्शनस्यालौकिकत्वप्रदर्शनार्थमाख्यायिकामात्मनो वृत्तां प्रकुरुते। तेन च प्रतिवादिबुद्धिं व्यामोहयिष्यामीति मन्यते।

मद्रेषु मद्रा नाम जनपदास्तेषु **चरका** अध्ययनार्थं व्रतचरणाच्चरका अध्वर्यवो वा **पर्यव्रजाम** पर्यटितवन्तस्ते **पतञ्चलस्य** ते वयं पर्यटन्तः पतञ्चलस्य नामतः **काप्यस्य** कपिगोत्रस्य **गृहानैम** गतवन्तः। **तस्याऽऽसीद्दुहिता**

(परिक्षितों की गति का निरूपण)

**स होवाचोवाच वै सोऽगच्छन्वै ते तद्यत्राश्व- गन्धर्वः
मेधयाजिनो गच्छन्तीति क्व न्वश्वमेधयाजिनो गच्छ-
न्तीति द्वात्रिᳫंशतं वै देवरथाह्न्यान्ययं लोकस्तᳫं
समन्तं पृथिवी द्विस्तावत्पर्येति, ताᳫं समन्तं पृथिवीं** परम् लोक:

उस याज्ञवल्क्य ने कहा, निःसंदेह उस गन्धर्व ने यही कहा था कि वे परीक्षित वहाँ चले गये, जहाँ अश्वमेधयाजी जाते हैं। भुज्यु ने कहा— फिर अश्वमेधयाजी कहाँ जाते हैं? (इस प्रश्न के उत्तर में याज्ञवल्क्य ने भुवनकोश का वर्णन किया) यह लोक बत्तीस देवरथाह्न्य है, (आदित्य रथ की गति से एक दिन में संसार के जितने भाग को मापा जाता है, उसे देवरथाह्न्य कहते हैं) उसे चारों ओर से द्विगुणी पृथिवी ने घेर रखा है। पुनः उस पृथिवी को द्विगुण समुद्र ने घेर रखा है। अतः जितनी पतली छुरे की धार होती है या जितना छोटा मक्खी का पङ्ख होता है; बस उतना ही अण्डकपालों के मध्य में आकाशछिद्र है। परमेश्वर ने पङ्ख और पूँछ वाला पक्षी होकर उन परीक्षितों को वायु को दे दिया। उन्हें वायु ने अपना स्वरूपभूत बनाकर वहाँ पहुँचा दिया, जहाँ अश्वमेध यज्ञ करने वाले रहते हैं। इस प्रकार उस गन्धर्व ने

गन्धर्वगृहीता गन्धर्वेणाऽमानुषेण सत्त्वेन केनचिदाविष्टा गन्धर्वो वा धिष्ण्योऽग्निर्ऋत्विग्देवता विशिष्टविज्ञानत्वादवसीयते। न हि सत्त्वमात्रस्येदृशं विज्ञानमुपपद्यते। **तं सर्वे वयं परिवारिताः सन्तोऽपृच्छाम कोऽसीति** कस्त्वमसि किंनामा किंसतत्त्वः। **सोऽब्रवीद्गन्धर्वः सुधन्वा नामत आङ्गिरसो** गोत्रतः। **तं यदा** यस्मिन्काले **लोकानामन्तान्पर्यवसानान्यपृच्छामाथैनं** गन्धर्वम**ब्रूम** भुवनकोशपरिमाणज्ञानाय प्रवृत्तेषु सर्वेष्वात्मानं श्लाघयन्तः पृष्टवन्तो वयम्। कथं? **क्व पारिक्षिता अभवन्निति**। स च गन्धर्वः सर्वमस्मभ्यमब्रवीत्। तेन दिव्येभ्यो मया लब्धं ज्ञानं, तत्तव नास्त्यतो निगृहीतोऽसीत्यभिप्रायः। **सोऽहं** विद्यासंपन्नो लब्धागमो गन्धर्वात्त्वा **त्वां पृच्छामि याज्ञवल्क्य क्व पारिक्षिता अभवस्तत्त्वं** किं जानासि हे **याज्ञवल्क्य** कथय **पृच्छामि क्व पारिक्षिता अभवन्निति**॥१॥ तत्+लं

स होवाच याज्ञवल्क्य **उवाच वै सः**। वैशब्दः स्मरणार्थः। **उवाच वै स** गन्धर्वस्तुभ्यम्। **अगच्छन्वै ते** पारिक्षितास्**तत्तत्र** क्व **यत्र** यस्मिन्**नश्वमेधयाजिनो गच्छन्तीति** निर्णीते प्रश्नःआह— **क्व नु** कस्मिन्**नश्वमेधयाजिनो गच्छन्तीति।** तेषां गतिविवक्षया भुवनकोशपरिमाणमाह— **द्वात्रिंशतं वै द्वे**
अश्वमेधयाजिनां

द्विस्तावत्समुद्रः पर्येति, तद्यावती क्षुरस्य धारा यावद्वा मक्षिकायाः पत्रं तावानन्तरेणाऽऽकाशस्तानिन्द्रः सुपर्णो भूत्वा वायवे प्रायच्छत्तान्वायुरात्मनि धित्वा तत्रागमयद्यत्राश्वमेधयाजिनोऽभवन्नित्येवमिव वै स वायुमेव प्रशशꣳस तस्माद्वायुरेव व्यष्टिर्वायुः समष्टिरप पुनर्मृत्युं जयति य एवं वेद ततो ह भुज्युर्लाह्यायनिरुपरराम॥२॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि तृतीयाध्यायस्य

भुज्युनामतृतीयं ब्राह्मणम्॥३॥

परीक्षितों की गतिरूप वायु की ही प्रशंसा की थी। अतः अध्यात्मादि भाव से तीन प्रकार की वायु ही व्यष्टि है और सूत्र (हिरण्यगर्भ) रूप से वायु ही समष्टि है। ऐसा जो जानता है, वह पुनर्मृत्यु को जीत लेता है अर्थात् एक बार मर कर फिर नहीं मरता। तब अपने प्रश्न का उत्तर सुनकर लाह्यायनि भुज्यु चुप हो गया॥२॥

॥ इति तृतीयं ब्राह्मणम्॥

अधिके त्रिंशद्द्वात्रिंशतं वै **देवरथाह्न्यानि** देव आदित्यस्तस्य रथो देवरथस्तस्य रथस्य गत्याऽह्ना यावत्परिच्छिद्यते देशपरिमाणं तद्देवरथाह्न्यं तद्द्वात्रिंशद्गुणितं देवरथाह्न्यानि तावत्परिमाणो**ऽयं लोको**, लोकालोकगिरिणा परिक्षिप्तः। यत्र वैराजं शरीरं यत्र च कर्मफलोपभोगः प्राणिनां, स एष लोक एतावाँल्लोकोऽतः पर**म्लोकस्तं** लोकं **समन्तं** समन्ततो लोकविस्तारादद्विगुणपरिमाणविस्तारेण परिमाणेन तं लोकं परिक्षिप्ता **पर्येति पृथिवी। तां पृथिवीं** तथैव **समन्तं द्विस्तावद्**द्विगुणेन परिमाणेन **समुद्रः पर्येति** यं घनोदमाचक्षते पौराणिकाः।

है. vice नहीं। हनुमान लंका में तीन शिखर देखा। एक का ऊपर लंका, दूसरे पर अशोक वाटिका। तीसरे पर हनुमान जी खड़े होकर देखा! राक्षस काल में पूजा के समय लंकिनी रावण को पूजा सामग्री देती थी! ब्रह्माजी रावण को वरदान देकर लौटते समय लंकिनी को राक्षस नाश का पहचान बताया। vice officer को मार कर प्रवेश पत्र लिया।

सर्वान्तर आत्मा का वर्णन

।अथ तृतीयाध्यायस्योषस्तनामचतुर्थं ब्राह्मणम्।

अथ हैनमुषस्तश्चाक्रायणः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तं

* स्थिर चित्त का साक्षी अन्तरात्मा "मनसैवानु द्रष्टव्यम्" "यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः"

फिर उस याज्ञवल्क्य से चक्र के पुत्र उषस्त ने पूछा। हे याज्ञवल्क्य! ऐसा उषस्त ने कहा। जो ब्रह्म साक्षात् अपरोक्ष है और जो सबका अन्तरात्मा है, उसकी व्याख्या तुम मेरे प्रति करो।

प्रमाणचैतन्यस्याबाधित, योग्य, वर्तमान विषयावच्छिन्न चैतन्याभिन्नत्वं यथार्थ प्रत्यक्ष लक्षणम्

तत्राण्डकपालयोर्विवरपरिमाणमुच्यते। येन विवरेण मार्गेण बहिर्निर्गच्छन्तो व्याप्नुवन्त्यश्वमेधयाजिनः। **तत्त्र यावती** यावत्परिमाणा **क्षुरस्य धाराऽग्रं यावद्वा** सौक्ष्म्येण युक्तं **मक्षिकायाः पत्रं तावांस्तावत्परिमाणोऽन्तरेण** मध्येऽण्डकपालयो**राकाश**श्छिद्रं तेनाऽऽकाशेनेत्येतत्। **तान्पारिक्षितान**श्वमेधयाजिनः प्राप्ता**निन्द्रः** परमेश्वरो योऽश्वमेधेऽग्निश्चितः **सुपर्णो** यद्विषयं दर्शनमुक्तं "तस्य प्राची दिक्शिर" इत्यादिना सुपर्णः पक्षी भूत्वा पक्षपुच्छाद्यात्मकः सुपर्णो **भूत्वा वायवे प्रायच्छ**न्मूर्तत्वान्नास्त्यात्मनो गतिस्तत्रेति। **तान्पारिक्षिता-न्वायुरात्मनि धित्वा** स्थापयित्वा स्वात्मभूतान्कृत्वा **तत्र** तस्मि**न्नगमयत्। क्व?** यत्र पूर्वेऽतिक्रान्ताः पारिक्षिता **अश्वमेधयाजिनोऽभवन्निति। एवमिव वा** एवमेव **स गन्धर्वो वायुमेव प्रशशंस** पारिक्षितानां गतिम्।

समाप्ताऽऽख्यायिका। आख्यायिकानिर्वृत्तं त्वर्थमाख्यायिकातोऽपसृत्य श्रुतिः स्वमुखेनैवाऽऽचष्टेऽस्मभ्यम्। यस्माद्वायुः स्थावरजङ्गमानां भूतानामन्तरात्मा बहिश्च, स एव **तस्माद**ध्यात्माधिभूताधिदैवभावेन विविधा याऽष्टिर्व्याप्तिः **स वायुरेव। तथा समष्टिः** केवलेन सूत्रात्मना **वायुरेव**। एवं वायुमात्मानं समष्टिव्यष्टिरूपात्मकत्वे-नोपगच्छति **य एवं वेद**। तस्य किं फलमित्याह— **अप पुनर्मृत्युं जयति** सकृन्मृत्वा पुनर्न म्रियते। **तत** आत्मनः प्रश्ननिर्णयाद्**भुज्युर्लाह्यायनिरुपरराम**॥२॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये तृतीयाध्यायस्य भुज्युनामतृतीयं ब्राह्मणम्॥३॥

अथ हैनमुषस्तश्चाक्रायणः पप्रच्छ।पुण्यपापप्रयुक्तैर्ग्रहातिग्रहैर्गृहीतः पुनः पुनर्ग्रहातिग्रहांस्त्यजन्नुपाददत्संसरतीत्युक्तम्। पुण्यस्य च पर उत्कर्षो व्याख्यातो

यदस्मदीयं न तत् परेषां. यद् परेषां न तद् अस्मदीयं.

मे व्याचक्ष्वेत्येष त आत्मा सर्वान्तरः, कतमो याज्ञवल्क्य सर्वान्तरो यः प्राणेन प्राणिति, स त आत्मा सर्वान्तरो योऽपानेनापानीति स त आत्मा, सर्वान्तरो यो व्यानेन व्यानीति स त आत्मा सर्वान्तरो य उदानेनोदानिति स त आत्मा सर्वान्तर एष त आत्मा सर्वान्तरः॥१॥

याज्ञवल्क्य ने कहा— यह कार्यकरणसंघात के भीतर तेरा आत्मा ही सबका अन्तर्वर्ती ब्रह्मस्वरूप है। उषस्त ने कहा— हे याज्ञवल्क्य! वह सर्वान्तर कौन सा है अर्थात् कार्यकरणसंघात में से किसे सर्वान्तर आत्मा कहना चाहते हो? याज्ञवल्क्य ने कहा— जो मुख नासिका द्वारा संचरण करने वाले प्राण से प्राणनक्रिया करता है, वह विज्ञानमय ही तेरा आत्मा सर्वान्तर्वर्ती है। जो अपान से अपाननक्रिया करता है, वही विज्ञानमय तेरा आत्मा सर्वान्तर्वर्ती है। जो व्यान से व्याननक्रिया करता है, वही विज्ञानमय आत्मा तेरा सर्वान्तर्वर्ती है। जो उदान से उदाननक्रिया करता है, वही विज्ञानमय तेरा आत्मा सर्वान्तर्वर्ती है। जो व्यान से व्याननक्रिया करता है, वही विज्ञानमय आत्मा तेरा सर्वान्तर्वर्ती है। जो उदान से उदाननक्रिया करता है, वही विज्ञानमय तेरा आत्मा कार्यकरणसंघात से विलक्षण सर्वान्तर्वर्ती है॥१॥

व्याकृतविषयः समष्टिव्यष्टिरूपो द्वैतैकत्वात्मप्राप्तिः। यस्तु ग्रहातिग्रहैर्ग्रस्तः संसरति सोऽस्ति वा नास्त्यस्तित्वे च किंलक्षण इत्यात्मन एव विवेकाधिगमायोषस्तप्रश्न आरभ्यते। तस्य च निरुपाधिस्वरूपस्य क्रियाकारकविनिर्मुक्तस्वभावस्याधिगमाद्यथोक्ताद्बन्धनाद्विमुच्यते सप्रयोजकात्। आख्यायिकासंबन्धस्तु प्रसिद्धः।

अथ हैनं प्रकृतं याज्ञवल्क्य**मुषस्तो** नामतश्चक्रस्यापत्यं **चाक्रायणः पप्रच्छ। यद्ब्रह्म साक्षादव्यवहितं** केनचिद्द्रष्टु**रपरोक्षादगौणम्**। न श्रोत्रब्रह्मादिवत्। किं तत्? **य आत्मा**। आत्मशब्देन प्रत्यगात्मोच्यते। तत्राऽऽत्मशब्दस्य प्रसिद्धत्वात्। सर्वस्याभ्यन्तरः **सर्वान्तरः।** यद्यःशब्दाभ्यां प्रसिद्ध आत्मा ब्रह्मेति। **तमात्मानं मे** मह्यं **व्याचक्ष्वेति** विस्पष्टं शृङ्गे गृहीत्वा यथा गां दर्शयति तथाऽऽचक्ष्व सोऽयमित्येवं कथयस्वेत्यर्थः।

एवमुक्तः प्रत्याह याज्ञवल्क्यः— **एष ते** तवाऽऽ**त्मा सर्वान्तरः** सर्वस्याभ्यन्तरः। सर्वविशेषणोपलक्षणार्थं सर्वान्तरग्रहणम्। यत्साक्षादव्यवहितमपरोक्षादगौणं

स होवाचोषस्तश्चाक्रायणो यथा विब्रूयादसौ गौरसा-वश्व इत्येवमेवैतद्व्यपदिष्टं भवति, यदेव साक्षादपरो क्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तं मे व्याचक्ष्वेत्येष त आत्मा सर्वान्तरः, कतमो याज्ञवल्क्य सर्वान्तरः। न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येर्न श्रुतेः श्रोतारं शृणुया न मतेर्मन्तारं मन्वीथा न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीयाः।

तब उस उषस्त चाक्रायण ने कहा (अन्य प्रकार से प्रतिज्ञा कर फिर विपरीत भाषण करना अच्छा नहीं) जैसे कोई (चलनादि लिङ्ग से) कहे कि यह चलने वाला बैल है और दौड़ने वाला घोड़ा है, ऐसे ही यह तुम्हारा भी प्राणनादि लिङ्गों द्वारा ब्रह्म का व्यपदेश है। (अतः गौओं के लोभ से ब्रह्मवेत्ता होने के दावे को छोड़कर) जो भी साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है और जो सर्वान्तर आत्मा है, उसे मेरे प्रति स्पष्ट रूप से बतलाओ। याज्ञवल्क्य ने कहा— यह तेरा आत्मा ही सर्वान्तर्वर्ती साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है। उषस्त ने कहा— हे याज्ञवल्क्य! यह सर्वान्तर कौन सा है अर्थात् घटादि के समान आत्मा को भी स्पष्ट रूप

ब्रह्म बृहत्तममात्मा सर्वस्याभ्यन्तर एतैर्गुणैः समस्तैरुक्त एषः। कोऽसौ? तवाऽऽत्मा। योऽयं कार्यकरणसंघातस्तव येनाऽऽत्मनाऽऽत्मवान्स एष तवाऽऽत्मा। तव कार्य-करणसंघातस्येत्यर्थः। तत्र पिण्डस्तस्याभ्यन्तरे लिङ्गात्मा करणसंघातस्तृतीयो यश्च संदिह्यमानस्तेषु **कतमो** ममाऽऽत्मा सर्वान्तरस्त्वया विवक्षित इत्युक्ते इतर आह— **यः प्राणेन** मुखनासिकासंचारिणा **प्राणिति** प्राणचेष्टां करोति ''येन प्राणः प्रणीयते'' इत्यर्थः। **स ते** तव कार्यकरणसंघातस्या**ऽऽत्मा** विज्ञानमयः। समान-मन्यत्। योऽपानेनापानीति यो व्यानेन व्यानीतीति च्छान्दसं दैर्घ्यम्। सर्वाः कार्य-करणसंघातगताः प्राणनादिचेष्टा दारुयन्त्रस्येव येन क्रियन्ते। न हि चेतनावदन-धिष्ठितस्य दारुयन्त्रस्येव प्राणनादिचेष्टा विद्यन्ते। तस्माद्विज्ञानमयेनाधिष्ठितं विलक्ष-णेन दारुयन्त्रवत्प्राणनादिचेष्टां प्रतिपद्यते। तस्मात्सोऽस्ति कार्यकरणसंघातविलक्षणो यश्चेष्टयति॥१॥

स होवाचोषस्तश्चाक्रायणो यथा कश्चिदन्यथा प्रतिज्ञाय पूर्वं पुन-र्विप्रतिपन्नो **ब्रूयादन्यथाऽसौ गौरसावश्वो** यश्चलति धावतीति वा पूर्वं प्रत्यक्षं

एष त आत्मा सर्वान्तरोऽतोऽन्यदार्तं ततो होषस्तश्चाक्रायण उपरराम॥२॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि तृतीयाध्यायस्योषस्तनाम-चतुर्थं ब्राह्मणम्॥४॥

से विषय करा दो। याज्ञवल्क्य ने कहा— तुम अन्तःकरणादि के वृत्तिरूप दृष्टि के द्रष्टा को घटादि के समान नहीं देख सकते हो। वैसे ही श्रुति के श्रोता को नहीं सुन सकते। मति के मन्ता का मनन नहीं कर सकते। बुद्धिवृत्तिरूप विज्ञाति के विज्ञाता को नहीं जान सकते। तेरा यह आत्मा ही सर्वान्तर है। इससे भिन्न कार्य-करण देह नश्वर है। इसके बाद उषस्त चाक्रायण चुप हो गया॥२॥

॥ इति चतुर्थं ब्राह्मणम्॥

दर्शयामीति प्रतिज्ञाय पश्चाच्चलनादिलिङ्गैर्व्यपदिशत्येव**मेवैतद्**ब्रह्म प्राणनादिलिङ्गैर्**व्यपदिष्टं भवति** त्वया। किं बहुना, त्यक्त्वा गोतृष्णानिमित्तं व्याजं **यदेव साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तं मे व्याचक्ष्वेति।** इतर आह— यथा प्रथमं प्रतिज्ञातस्तवाऽऽत्मैवंलक्षण इति तां प्रतिज्ञामनुवर्त एव। तत्तथैव यथोक्तं मया।

यत्पुनरुक्तं तमात्मानं घटादिवद्विषयीकुर्विति, तदशक्यत्वान्न क्रियते। कस्मात्पुनस्तदशक्यमिति। आह। वस्तुस्वाभाव्यात्। किं पुनस्तद्वस्तुस्वाभाव्यम्? दृष्ट्यादिद्रष्टृत्वम्। दृष्टेर्द्रष्टा ह्यात्मा। दृष्टिरिति द्विविधा भवति लौकिकी पारमार्थिकी चेति। तत्र लौकिकी चक्षुःसंयुक्तान्तःकरणवृत्तिः। सा क्रियत इति जायते विनश्यति च। या त्वात्मनो दृष्टिरग्न्युष्णप्रकाशादिवत्सा च द्रष्टुः स्वरूपत्वान्न जायते न विनश्यति च। सा क्रियमाणयोपाधिभूतया संसृष्टेवेति व्यपदिश्यते द्रष्टेति। भेदवच्च द्रष्टा दृष्टिरिति च। याऽसौ लौकिकी दृष्टिश्चक्षुर्द्वारा रूपोपरक्ता जायमानैव नित्ययाऽऽत्मदृष्ट्या संसृष्टेव तत्प्रतिच्छाया तया व्याप्तैव जायते तथा विनश्यति च तेनोपचर्यते द्रष्टा सदा पश्यन्नपि पश्यति न पश्यति चेति। न तु पुनर्द्रष्टुर्दृष्टेः कदाचिदप्यन्यथात्वम्। तथा च वक्ष्यति षष्ठे— "ध्यायतीव लेलायतीव"। "न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते" इति च।

तमिममर्थमाह— लौकिक्या **दृष्टेः** कर्मभूताया **द्रष्टारं** स्वकीयया नित्यया दृष्ट्या व्याप्तारं **न पश्येः**। याऽसौ लौकिकी दृष्टिः कर्मभूता, सा रूपोपरक्ता रूपाभिव्यञ्जिका, नाऽऽत्मानं स्वात्मनो व्याप्तारं प्रत्यञ्चं व्याप्नोति। तस्मात्तं प्रत्यगात्मानं दृष्टेर्द्रष्टारं न पश्येः। तथा **श्रुतेः श्रोतारं न शृणुयाः**। तथा **मतेर्**मनोवृत्तेः केवलाया व्याप्तारं **न मन्वीथाः**। तथा **विज्ञातेः** केवलाया बुद्धिवृत्तेर्व्याप्तारं **न विजानीयाः**। **एष** वस्तुनः स्वभावोऽतो नैव दर्शयितुं शक्यते गवादिवत्।

न दृष्टेर्द्रष्टारमित्यत्राक्षराण्यन्यथा व्याचक्षते केचित्। न दृष्टेर्द्रष्टारं दृष्टेः कर्तारं दृष्टिभेदमकृत्वा दृष्टिमात्रस्य कर्तारं न पश्येरिति। दृष्टेरिति कर्मणि षष्ठी। सा दृष्टिः क्रियमाणा घटवत्कर्म भवति। द्रष्टारमिति तृजन्तेन द्रष्टुर्दृष्टिकर्तृत्वमाचष्टे। तेनासौ दृष्टेर्द्रष्टा दृष्टेः कर्तेति व्याख्यातॄणामभिप्रायः।

तत्र दृष्टेरिति षष्ठ्यन्तेन दृष्टिग्रहणं निरर्थकमिति दोषं न पश्यन्ति। पश्यतां वा पुनरुक्तमसारं प्रमादपाठ इति वा नाऽऽदरः। कथं पुनराधिक्यं तृजन्तेनैव दृष्टिकर्तृत्वस्य सिद्धत्वाद्दृष्टेरिति निरर्थकम्। तदा द्रष्टारं न पश्येरित्येतावदेव वक्तव्यम्। यस्माद्धातोः परस्तृच्छ्रूयते। तद्धात्वर्थकर्तरि हि तृच्स्मर्यते। गन्तारं भेत्तारं वा नयतीत्येतावानेव हि शब्दः प्रयुज्यते। न तु गतेर्गन्तारं भिदेर्भेत्तारमित्यसत्यर्थविशेषे प्रयोक्तव्यः। न चार्थवादत्वेन हातव्यं सत्यां गतौ। न च प्रमादपाठः। सर्वेषामविगानात्। तस्माद्व्याख्यातॄणामेव बुद्धिदौर्बल्यं, नाध्येतृप्रमादः।

यथा त्वस्माभिर्व्याख्यातं लौकिकदृष्टेर्विविच्य नित्यदृष्टिविशिष्ट आत्मा प्रदर्शयितव्यस्तथा कर्तृकर्मविशेषणत्वेन दृष्टिशब्दस्य द्विःप्रयोग उपपद्यत आत्मस्वरूपनिर्धारणाय। न हि द्रष्टुर्दृष्टेरिति च प्रदेशान्तरवाक्यैनैकवाक्यतोपपन्ना भवति। तथा च ''चक्षूंषि पश्यति'' ''श्रोत्रमिदं श्रुतम्'' इति श्रुत्यन्तरेणैकवाक्यतोपपन्ना। न्यायाच्च। एवमेव ह्यात्मनो नित्यत्वमुपपद्यते विक्रियाभावे, विक्रियावच्च नित्यमिति च विप्रतिषिद्धम्। ''ध्यायतीव लेलायतीव'' ''न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते'' ''एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य'' इति च श्रुत्यक्षराण्यन्यथा न गच्छन्ति।

ननु द्रष्टा श्रोता मन्ता विज्ञातेत्येवमादीन्यप्यक्षराण्यात्मनोऽविक्रियत्वे न गच्छन्तीति। न। यथाप्राप्तलौकिकवाक्यानुवादित्वात्तेषाम्। नाऽऽत्मतत्त्वनिर्धारणार्थानि

संसार धर्मातीत + अशना पिपासा रहित आत्मा वर्णन.
अष्टावक्र के पिता जनक सभा में.

संन्यास सहित आत्मज्ञान का वर्णन

।अथ तृतीयाध्यायस्य कहोलनामपञ्चमं ब्राह्मणम्।

अथ हैनं कहोलः कौषीतकेयः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच यदेव साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तं मे व्याचक्ष्वेत्येष त आत्मा सर्वान्तरः। कतमो याज्ञवल्क्य सर्वान्तरो योऽशनायापिपासे शोकं मोहं जरां मृत्युमत्येति। एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति या ह्येव पुत्रैषणा सा वित्तैषणा या वित्तैषणा सा लोकैषणोभे ह्येते

फिर उस याज्ञवल्क्य से कुषीतक के पुत्र कहोल ने पूछा— 'हे याज्ञवल्क्य' ऐसा उसने संबोधन किया। जो भी साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है और जो सर्वान्तर आत्मा है, तुम मेरे प्रति उसकी व्याख्या करो। याज्ञवल्क्य ने कहा— यह तुम्हारा आत्मा ही सर्वान्तर्वर्ती ब्रह्म है (यहाँ पर आत्मा के विषय में विशेष विवक्षा होने पर कहोल ने प्रश्न किया है, अतः उषस्त और कहोल के प्रश्न को अभिन्न मानकर पुनरुक्ति की आशंका नहीं करनी चाहिये)। कहोल ने कहा— हे याज्ञवल्क्य! वह सर्वान्तर कौन-सा है? याज्ञवल्क्य ने कहा— जो क्षुधा, पिपासा, शोक, मोह, जरा और

तानि। न दृष्टेर्द्रष्टारमित्येवमादीनामन्यार्थासंभवाद्यथोक्तार्थपरत्वमवगम्यते। तस्मादनवबोधादेव हि विशेषणं परित्यक्तं दृष्टेरिति। एष ते तवाऽऽत्मा सर्वैरुक्तैर्विशेषणैर्विशिष्टः। **अत** एतस्मादात्मनो**ऽन्यदार्तं** कार्यं वा शरीरं करणात्मकं वा लिङ्गम्। एतदेवैकमनार्तमविनाशि कूटस्थम्। **ततो होषस्तश्चाक्रायण उपरराम**॥२॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये तृतीयाध्याये
उषस्तनामचतुर्थं ब्राह्मणम्॥४॥

बन्धनं सप्रयोजकमुक्तम्। यश्च बद्धस्तस्याप्यस्तित्वमधिगतं व्यतिरिक्तत्वं च। तस्येदानीं बन्धमोक्षसाधनं ससंन्यासमात्मज्ञानं वक्तव्यमिति कहोलप्रश्न आरभ्यते—

एषणे एव भवतः। तस्माद्ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्। बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्याथ मुनिरमौनं च मौनं च निर्विद्याथ ब्राह्मणः स ब्राह्मणः केन स्याद्येन स्यात्तेनेदृश एवातोऽन्यदार्तं ततो ह कहोलः कौषीतकेय उपरराम॥१॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि तृतीयाध्यायस्य पञ्चमं कहोलब्राह्मणम्॥५॥

मरण को पार किये हुए है। इसी उस आत्मा को अपरोक्षरूप से जान कर ब्राह्मण लोग पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा से दूर हटकर भिक्षाचर्या किया करते हैं। जो भी पुत्रैषणा है, वही वित्तैषणा है, और जो वित्तैषणा है, वह लोकैषणा है क्योंकि साध्य-साधन भेद से ये दोनों एषणाएँ ही हैं। अतः ब्राह्मण पूर्णरूप से आत्मज्ञान का संपादन कर आत्मज्ञानरूप बल से स्थिर रहने की इच्छा करे। पुनः बाल्य और पाण्डित्य को पूर्णरूप से प्राप्त कर वह मुनि होता है तथा अमौन एवं मौन का पूर्ण रूप से संपादन करके ब्राह्मणत्व को प्राप्त कर कृतकृत्य हो जाता है। वह किस आचरण से ब्राह्मण होता है? जिस आचरण से भी हो, वह ऐसे ही लक्षण वाला ब्राह्मण होता है। इससे भिन्न सब नश्वर है (स्वप्न, माया, मरुमरीचिका के मसान असार है। केवल एक आत्मा ही नित्य मुक्त है)। इस पर कहोल चुप हो गया॥१॥

॥ इति पञ्चमं ब्राह्मणम्॥

अथ हैनं कहोलो नामतः कुषीतकस्यापत्यं **कौषीतकेयः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाचेति** पूर्ववत्। **यदेव साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तं मे व्याचक्ष्वेति।** यं विदित्वा बन्धनात्प्रमुच्यते। याज्ञवल्क्य आह— **एष ते तवाऽऽत्मा।**

किमुषस्तकहोलाभ्यामेक आत्मा पृष्टः। किं वा भिन्नावात्मानौ तुल्यलक्षणाविति। भिन्नाविति युक्तं प्रश्नयोरपुनरुक्तत्वोपपत्तेः। यदि ह्येक आत्मोषस्तकहोल-

प्रश्नयोर्विवक्षितस्तत्रैकेनैव प्रश्नेनाधिगतत्वात्तद्विषयो द्वितीयः प्रश्नोऽनर्थकः स्यात्। न चार्थवादरूपत्वं वाक्यस्य। तस्माद्भिन्नावेतावात्मानौ क्षेत्रज्ञपरमात्माख्याविति केचिद्व्याचक्षते।

तन्न। ते इति प्रतिज्ञानात्। एष ते आत्मेति हि प्रतिवचने प्रतिज्ञातम्। न चैकस्य कार्यकरणसंघातस्य द्वावात्मानावुपपद्येते। एको हि कार्यकरणसंघात एकेनाऽऽत्मनाऽऽत्मवान्। न चोषस्तस्यान्यः कहोलस्यान्यो जातितो भिन्न आत्मा भवति। द्वयोरगौणत्वात्मत्वसर्वान्तरत्वानुपपत्तेः। यद्येकमगौणं ब्रह्म द्वयोरितरेणावश्यं गौणेन भवितव्यं, तथाऽत्मत्वं सर्वान्तरत्वं च। विरुद्धत्वात्पदार्थानाम्। यद्येकं सर्वान्तरं ब्रह्माऽऽत्मा मुख्य इतरेणासर्वान्तरेणानात्मनाऽमुख्येनावश्यं भवितव्यम्। तस्मादेकस्यैव द्विः श्रवणं विशेषविवक्षया।

यत्तु पूर्वोक्तेन समानं द्वितीये प्रश्नान्तरम् उक्तं, तावन्मात्रं पूर्वस्यैवानुवादस्तस्यैवानुक्तः कश्चिद्विशेषो वक्तव्य इति। कः पुनरसौ विशेष इति। उच्यते— पूर्वस्मिन्प्रश्नेऽस्ति व्यतिरिक्त आत्मा, यस्यायं सप्रयोजको बन्ध उक्त इति। द्वितीये तु तस्यैवाऽऽत्मनोऽशनायादिसंसारधर्मातीत्वं विशेष उच्यते। यद्विशेषपरिज्ञानात्संन्याससहितात्पूर्वोक्ताद्बन्धनाद्विमुच्यते। तस्मात्प्रश्नप्रतिवचनयोरेष ते आत्मेत्येवमन्तयोस्तुल्यार्थतैव।

ननु कथमेकस्यैवाऽऽत्मनोऽशनायाद्यतीतत्वं तद्वत्त्वं चेति विरुद्धधर्मसमवायित्वमिति? न। परिहृतत्वात्। नामरूपविकारकार्यकरणलक्षणसंघातोपाधिभेदसपृक्र्क-जनितभ्रान्तिमात्रं हि संसारित्वमित्यसकृदवोचाम, विरुद्धश्रुतिव्याख्यानप्रसङ्गेन च। यथा रज्जुशुक्तिकागगनादयः सर्परजतमलिना भवन्ति पराध्यारोपितधर्मविशिष्टाः, स्वतश्च केवला एव रज्जुशुक्तिकागगनादयः। न चैवं विरुद्धधर्मसमवायित्वे पदार्थानां कश्चन विरोधः।

नामरूपोपाध्यस्तित्वे "एकमेवाद्वितीयम्" "नेह नानाऽस्ति किंचन" इति श्रुतयोविरुध्येरन्निति चेत्। न। सलिलफेनदृष्टान्तेन परिहृतत्वान्मृदादिदृष्टान्तैश्च। यदा

तु परमार्थदृष्ट्या परमात्मतत्त्वाच्छ्रुत्यनुसारिभिरन्यत्वेन निरूप्यमाणे नामरूपे मृदादिविकारवद्वस्त्वन्तरे तत्त्वतो न स्तः सलिलफेनघटादिविकारवदेव, तदा तदपेक्ष्यैकमेवाद्वितीयं ''नेह नानाऽस्ति किंचन''इत्यादिपरमार्थदर्शनगोचरत्वं प्रतिपद्यते।

यदा तु स्वाभाविक्याऽविद्यया ब्रह्मस्वरूपं रज्जुशुक्तिकागगनस्वरूपवदेव स्वेन रूपेण वर्तमानं केनचिदस्पृष्टस्वभावमपि सन्नामरूपकृतकार्यकरणोपाधिभ्यो विवेकेन नावधार्यते, नामरूपोपाधिदृष्टिरेव च भवति स्वाभाविकी, तदा सर्वोऽयं वस्त्वन्तरास्तित्वव्यवहारः। अस्ति चायं भेदकृतो मिथ्याव्यवहारो, येषां ब्रह्मतत्त्वादन्यत्वेन वस्तु विद्यते येषां च नास्ति।

परमार्थवादिभिस्तु श्रुत्यनुसारेण निरूप्यमाणे वस्तुनि किं तत्त्वतोऽस्ति वस्तु, किं वा नास्तीति, ब्रह्मैकमेवाद्वितीयं सर्वसंव्यवहारशून्यमिति निर्धार्यते, तेन न कश्चिद्विरोधः। न हि परमार्थावधारणनिष्ठायां वस्त्वन्तरास्तित्वं प्रतिपद्यामहे, ''एकमेवाद्वितीयम्'' ''अनन्तरमबाह्यम्'' इति श्रुतेः। न च नामरूपव्यवहारकाले त्वविवेकिनां क्रियाकारकफलादिसंव्यवहारो नास्तीति प्रतिषिध्यते। तस्माज्ज्ञानाज्ञाने अपेक्ष्य सर्वः संव्यवहारः शास्त्रीयो लौकिकश्च। अतो न काचन विरोधशङ्का। सर्ववादिनामप्यपरिहार्यः परमार्थसंव्यवहारकृतो व्यवहारः।

तत्र परमार्थात्मस्वरूपमपेक्ष्य प्रश्नः पुनः **कतमो याज्ञवल्क्य सर्वान्तर** इति। प्रत्याहेतरो **योऽशनायापिपासे**। अशितुमिच्छाऽशनाया। पातुमिच्छा पिपासा। ते अशनायापिपासे योऽत्येतीति वक्ष्यमाणेन संबन्धः। अविवेकिभिस्तलमलवदिव गगनं गम्यमानमेव तलमले अत्येति परमार्थतस्ताभ्यामसंसृष्टस्वभावत्वात्। तथा मूढैरशनायापिपासादिमद्ब्रह्म गम्यमानमपि क्षुधितोऽहं पिपासितोऽहमिति ते अत्येत्येव परमार्थतस्ताभ्यामसंसृष्टस्वभावत्वात्। ''न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः'' इति श्रुतेः। अविद्वल्लोकाध्यारोपितदुःखेनेत्यर्थः। प्राणैकधर्मत्वात्समासकरणमशनायापिपासयोः।

शोकं मोहं शोक इति कामः। इष्टं वस्तूद्दिश्य चिन्तयतो यदरमणं तत्तृष्णाभिभूतस्य कामबीजं, तेन हि कामो दीप्यते। मोहस्तु विपरीतप्रत्ययप्रभवोऽ–

विवेको भ्रमः। स चाविद्या सर्वस्यानर्थस्य प्रसवबीजम्। भिन्नकार्यत्वात्तयोः शोकमोहयोरसमासकरणम्। तौमनोधिकरणौ। तथा शरीराधिकरणौ **जरां मृत्युं चात्येति।** जरेति कार्यकरणसंघातविपरिणामो वलीपलितादिलिङ्गः। मृत्युरिति तद्विच्छेदो विपरिणामावसानः। तौ जरामृत्यू शरीराधिकरणावत्येति।

ये तेऽशनायादयः प्राणमनःशरीराधिकरणाः प्राणिष्वनवरतं वर्तमाना अहोरात्रादिवत्समुद्रोर्मिवच्च प्राणिषु संसार इत्युच्यते। योऽसौ दृष्टेर्द्रष्टेत्यादिलक्षणः साक्षादव्यवहितोऽपरोक्षादगौणः सर्वान्तर आत्मा ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तानां भूतानामशनायापिपासादिभिः संसारधर्मैः सदा न स्पृश्यते आकाश इव घनादिमलैः। **तमेतं वा आत्मानं** स्वं तत्त्वं **विदित्वा** ज्ञात्वाऽयमहमस्मि परं ब्रह्म सदा सर्वसंसारविनिर्मुक्तं नित्यतृप्तमिति **ब्राह्मणाः।** ब्राह्मणानामेवाधिकारो व्युत्थानेऽतो ब्राह्मणग्रहणम्। **व्युत्थाय** वैपरीत्येनोत्थानं कृत्वा। कुत इत्याह— **पुत्रैषणायाः** पुत्रार्थैषणा पुत्रैषणा। पुत्रेणेमं लोकं जयेयमिति लोकजयसाधनं पुत्रं प्रतीच्छैषणा दारसंग्रहः। दारसंग्रहमकृत्वेत्यर्थः। **वित्तैषणायाश्च** कर्मसाधनस्य गवादेरुपादानमनेन कर्म कृत्वा पितृलोकं जेष्यामीति, विद्यासंयुक्तेन वा देवलोकं, केवलया वा हिरण्यगर्भविद्यया दैवेन वित्तेन देवलोकम्।

दैवाद्वित्ताद्व्युत्थानमेव नास्तीति केचित्। यस्मात्तद्बलेन हि किल व्युत्थानमिति। तदसत्। "एतावान्वै कामः" इति पठितत्वादेषणामध्ये दैवस्य वित्तस्य। हिरण्यगर्भादिदेवताविषयैव विद्यावित्तमित्युच्यते। देवलोकहेतुत्वात्। न हि निरुपाधिकप्रज्ञानघनविषया ब्रह्मविद्या देवलोकप्राप्तिहेतुः। "तस्मात्तत्सर्वमभवत्" "आत्मा ह्येषां स भवति" इति श्रुतेः। तद्बलेन हि व्युत्थानम् "एतं वै तमात्मानं विदित्वा" इति विशेषवचनात्। तस्मात्त्रिभ्योऽप्येतेभ्योऽनात्मलोकप्राप्तिसाधनेभ्य एषणाविषयेभ्यो **व्युत्थाय।** एषणा कामः "एतावान्वै कामः" इति श्रुतेः। एतस्मिंस्त्रिविधेऽनात्मलोकप्राप्तिसाधने तृष्णामकृत्वेत्यर्थः।

सर्वा हि साधनेच्छा फलेच्छैव। अतो व्याचष्टे श्रुतिरेकैवैषणेति। कथम्? **या ह्येव पुत्रैषणा सा वित्तैषणा।** दृष्टफलसाधनत्वतुल्यत्वात्। **या वित्तैषणा**

सा लोकैषणा। फलार्थैव सा। सर्वः फलार्थप्रयुक्त एव हि सर्वं साधनमुपादत्ते। अत एकैवैषणा या लोकैषणा सा साधनमन्तरेण संपादयितुं न शक्यत इति। साध्यसाधनभेदेन**ोभे हि यस्मादेते एषणे एव भवतः।** तस्माद्ब्रह्मविदो नास्ति कर्म, कर्मसाधनं वा।

अतो येऽतिक्रान्ता ब्राह्मणाः सर्वं कर्म कर्मसाधनं च सर्वं देवपितृमानुषनिमित्तं यज्ञोपवीतादि। तेन हि दैवं पित्र्यं मानुषं च कर्म क्रियते। ''निवीतं मनुष्याणाम्'' इत्यादिश्रुतेः। तस्मात्पूर्वे ब्राह्मणा ब्रह्मविदो व्युत्थाय कर्मभ्यः कर्मसाधनेभ्यश्च यज्ञोपवीतादिभ्यः परमहंसपारिव्राज्यं प्रतिपद्य भिक्षाचर्यं चरन्ति, भिक्षार्थं चरणं भिक्षाचर्यं चरन्ति त्यक्त्वा स्मार्तं लिङ्गं केवलमाश्रममात्रशरणानां जीवनसाधनं पारिव्राज्यव्यञ्जकम्। ''विद्वाँल्लिङ्गवर्जितः''। ''तस्मादलिङ्गो धर्मज्ञोऽव्यक्तलिङ्गोऽव्यक्ताचारः'' इत्यादिस्मृतिभ्यः। ''अथ परिव्राड् विवर्णवासा मुण्डोऽपरिग्रहः'' इत्यादिश्रुतेः। सशिखान्केशन्निकृत्य विसृज्य यज्ञोपवीतमिति च।

ननु व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्तीति वर्तमानापदेशादर्थवादोऽयं न विधायकः प्रत्ययः कश्चिच्छ्रूयते लिङ्लोट्तव्यानामन्यतमोऽपि। तस्मादर्थवादमात्रेण श्रुतिस्मृतिविहितानां यज्ञोपवीतादीनां साधनानां न शक्यते परित्यागः कारयितुम्। यज्ञोपवीत्येवाधीयीत याजयेद्यजेत वा। पारिव्राज्ये तावदध्ययनं विहितम्—

''वेदसंन्यसनाच्छूद्रस्तस्माद्वेदं न संन्यसेत्'' इति।
''स्वाध्याय एवोत्सृज्यमानो वाचम्'' इति चाऽऽपस्तम्बः।
''ब्रह्मोज्झं वेदनिन्दा च कौटसाक्ष्यं सुहृद्वधः।
गर्हितान्नाद्ययोर्जग्धिः सुरापानसमानि षट्''॥

इति वेदपरित्यागे दोषश्रवणात्। उपासने गुरूणां वृद्धानामतिथीनां होमे जप्यकर्मणि भोजन आचमने स्वाध्याये च यज्ञोपवीती स्यादिति परिव्राजकधर्मेषु च गुरूपासनस्वाध्यायभोजनाचमनादीनां कर्मणां श्रुतिस्मृतिषु कर्तव्यता चोदितत्वाद्गुर्वाद्युपासनाङ्गत्वेन यज्ञोपवीतस्य विहितत्वात्तत्परित्यागो नैवावगन्तुं शक्यते।

यद्यप्येषणाभ्यो व्युत्थानं विधीयते एव, तथाऽपि पुत्राद्येषणाभ्यस्तिसृभ्य एव व्युत्थानं, न तु सर्वस्मात्कर्मणः कर्मसाधनाच्च व्युत्थानम्। सर्वपरित्यागे चाश्रुतं कृतं स्याच्छ्रुतं च यज्ञोपवीतादि हापितं स्यात्। तथाच महानपराधो विहिताकरण-प्रतिषिद्धाचरणनिमित्तः कृतः स्यात्। तस्माद्यज्ञोपवीतादिलिङ्गपरित्यागोऽन्ध-परम्परैव।

न। ''यज्ञोपवीतं वेदांश्च सर्वं तद्वर्जयेद्यतिः'' इति श्रुतेः। अपि चाऽऽत्मज्ञानपरत्वात्सर्वस्या उपनिषदः। आत्मा द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्य इति हि प्रस्तुतं, स चाऽऽत्मैव साक्षादपरोक्षात्सर्वान्तरोऽशनायादिसंसारधर्मवर्जित इत्येवं विज्ञेय इति तावत्प्रसिद्धम्। सर्वा हीयमुपनिषदेवंपरेति विध्यन्तरशेषत्वं तावन्नास्त्यतो नार्थवादः। आत्मज्ञानस्य कर्तव्यत्वात्। आत्मा चाशनायादिधर्मवान्न भवतीति साधनफलविलक्षणो ज्ञातव्यः। अतोऽव्यतिरेकेणाऽऽत्मनो ज्ञानमविद्या। ''अन्योऽ-सावन्योऽहमस्मीति न स वेद'' ''मृत्योः स मृत्युमाप्नोति'' ''य इह नानेव पश्यति'' ''एकधैवानुद्रष्टव्यम्'' ''एकमेवाद्वितीयम्'' ''तत्त्वमसि'' इत्यादिश्रुतिभ्यः। क्रियाफलं साधनं चाशनायादिसंसारधर्मातीतादात्मनोऽन्यदविद्याविषयम्। ''यत्र हि द्वैतमिव भवति'' ''अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद'' ''अथ येऽन्यथाऽतो विदुः'' इत्यादिवाक्यशतेभ्यः।

न च विद्याविद्ये एकस्य पुरुषस्य सह भवतो, विरोधात्तमःप्रकाशा-विव। तस्मादात्मविदोऽविद्याविषयोऽधिकारो न द्रष्टव्यः क्रियाकारकफलभेदरूपः। ''मृत्योः स मृत्युमाप्नोति'' इत्यादि निन्दितत्वात्। सर्वक्रियासाधनफलानां चा-विद्याविषयाणां तद्विपरीतात्मविद्यया हातव्यत्वेनेष्टत्वात्। यज्ञोपवीतादिसाधनानां च तद्विषयत्वात्। तस्मादसाधनफलस्वभावादात्मनोऽन्यविषया विलक्षणैषणा। **उभे ह्येते साधनफले एषणे एव भवतः।** यज्ञोपवीतादेस्तत्साध्यकर्मणां च साधनत्वात्। उभे ह्येते एषणे एवेति हेतुवचनेनावधारणात्। यज्ञोपवीतादिसाधना-त्तत्साध्येभ्यश्च कर्मभ्योऽविद्याविषयत्वादेषणारूपत्वाच्च जिहासितव्यरूपत्वाच्च व्युत्थानं विधित्सितमेव।

ननूपनिषद आत्मज्ञानपरत्वाद्व्युत्थानश्रुतिस्तत्स्तुत्यर्था न विधिः। न। विधित्सितविज्ञानेन समानकर्तृकत्वश्रवणात्। न ह्यकर्तव्येन कर्तव्यस्य समानकर्तृकत्वेन वेदे कदाचिदपि श्रवणं संभवति। कर्तव्यानामेव ह्यभिषवहोमभक्षणानां यथा श्रवणम् ''अभिषुत्य हुत्वा भक्षयन्ती''ति तद्वदात्मज्ञानैषणाव्युत्थानभिक्षाचर्याणां कर्तव्यानामेव समानकर्तृकत्वश्रवणं भवेत्।

अविद्याविषयत्वादेषणात्वाच्चार्थप्राप्त आत्मज्ञानविधेरेव यज्ञोपवीतादिपरित्यागो न तु विधातव्य इति चेन्न। सुतरामात्मज्ञानविधिनैव विहितस्य समानकर्तृकत्वश्रवणेन दार्ढ्योपपत्तिस्तथा भिक्षाचर्यस्य च। यत्पुनरुक्तं वर्तमानापदेशादर्थवादमात्रमिति। न। औदुम्बरयूपादिविधिसमानत्वाददोषः।

व्युत्थाय भिक्षाचर्यं चरन्तीत्यनेन पारिव्राज्यं विधीयते। पारिव्राज्याश्रमे च यज्ञोपवीतादिसाधनानि विहितानि लिङ्गं च श्रुतिभिः स्मृतिभिश्च। अतस्तद्वर्जयित्वाऽन्यस्माद्व्युत्थानमेषणात्वेऽपीति चेत्। न। विज्ञानसमानकर्तृकात्पारिव्राज्यादेषणाव्युत्थानलक्षणात्पारिव्राज्यान्तरोपपत्तेः। यद्धि तदेषणाभ्यो व्युत्थानलक्षणं पारिव्राज्यं, तदात्मज्ञानाङ्गम्। आत्मज्ञानविरोध्येषणापरित्यागरूपत्वात्। अविद्याविषयत्वाच्चैषणायाः। तद्व्यतिरेकेण चास्त्याश्रमरूपं पारिव्राज्यं ब्रह्मलोकादिफलप्राप्तिसाधनं यद्विषयं यज्ञोपवीतादिसाधनविधानं लिङ्गविधानं च।

न चैषणारूपसाधनोपादानस्याऽऽश्रमधर्ममात्रेण पारिव्राज्यान्तरे विषये संभवति सति सर्वोपनिषद्विहितस्याऽऽत्मज्ञानस्य बाधनं युक्तम्। यज्ञोपवीताद्यविद्याविषयैषणारूपसाधनोपादित्सायां चावश्यमसाधनफलरूपस्याशनायादिसंसारधर्मवर्जितस्याहं ब्रह्मास्मीति विज्ञानं बाध्यते। न च तद्बाधनं युक्तम्। सर्वोपनिषदां तदर्थपरत्वात्।

भिक्षाचर्यं चरन्तीत्येषणां ग्राहयन्ती श्रुतिः स्वयमेव बाधते इति चेत्। अथाप्येषणाभ्यो व्युत्थानं विधाय पुनरेषणैकदेशं भिक्षाचर्यं ग्राहयन्ती तत्संबद्धमन्यदपि ग्राहयतीति चेत्। न। भिक्षाचर्यस्याप्रयोजकत्वाद्धुत्वोत्तरकालभक्षणवत्। शेषप्रति-

विपदो नैवविपदः संपदो नैव संपदः विपद् विस्मरणं विष्णोः
संपद् नारायण स्मृतिः

पत्तिकर्मत्वादप्रयोजकं हि तत् असंस्कारकत्वाच्च। भक्षणं पुरुषसंस्कारकमपि स्यान्न तु भिक्षाचर्यम्। नियमादृष्टस्यापि ब्रह्मविदोऽनिष्टत्वात्।

नियमादृष्टस्यानिष्टत्वे किं भिक्षाचर्येणेति चेत्। न। अन्यसाधनाद्व्युत्थानस्य विहितत्वात्। तथाऽपि किं तेनेति चेत्। यदि स्याद्बाढमभ्युपगम्यते हि तत्। यानि पारिव्राज्येऽभिहितानि वचनानि यज्ञोपवीत्येवाधीयीतेत्यादीनि, तान्यविद्वत्पारिव्राज्यमात्रविषयाणीति परिहृतानि। इतरथाऽऽत्मज्ञानबाधः स्यादिति ह्युक्तम्।

''निराशिषमनारम्भं निर्नमस्कारमस्तुतिम्।
अक्षीणं क्षीणकर्माणं तं देवा ब्राह्मणं विदुः''॥

इति सर्वकर्माभावं दर्शयति स्मृतिर्विदुषः। विद्वाँल्लिङ्गवर्जितस्तस्मादलिङ्गो धर्मज्ञ इति च। तस्मात्परमहंसपारिव्राज्यमेव व्युत्थानलक्षणं प्रतिपद्येताऽऽत्मवित्सर्वकर्मसाधनपरित्यागरूपमिति।

यस्मात्पूर्वे ब्राह्मणा एतमात्मानमसाधनफलस्वभावं विदित्वा सर्वस्मात्साधनफलस्वरूपादेषणालक्षणाद्व्युत्थाय भिक्षाचर्यं चरन्ति स्म, दृष्टादृष्टार्थं कर्म तत्साधनं च हित्वा। **तस्मादद्यत्वेऽपि ब्राह्मणो** ब्रह्मवित्**पाण्डित्यं** पण्डितभावमेतदात्मविज्ञानं पाण्डित्यं **निर्विद्य** निःशेषं विदित्वाऽऽत्मविज्ञानं निरवशेषं कृत्वेत्यर्थः। आचार्यत आगमतश्चैषणाभ्यो व्युत्थाय। एषणाव्युत्थानावसानमेव हि तत्पाण्डित्यम्। एषणातिरस्कारोद्भवत्वादेषणाविरुद्धत्वात्। एषणामतिरस्कृत्य न ह्यात्मविषयस्य पाण्डित्यस्योद्भव इत्यात्मज्ञानेनैव विहितमेषणाव्युत्थानम्। आत्मज्ञानसमानकर्तृकत्वाप्रत्ययोपादानलिङ्गश्रुत्या दृढीकृतम्।

तस्मादेषणाभ्यो व्युत्थाय ज्ञानबलभावेन **बाल्येन तिष्ठासेत्**स्थातुमिच्छेत्। साधनफलाश्रयणं हि बलमितरेषामनात्मविदाम्। तद्बलं हित्वा विद्वानसाधनफलस्वरूपात्मविज्ञानमेव बलं तद्भावमेव केवलमाश्रयेत्। तदाश्रयणे हि करणान्येषणाविषय एनं हन्त्वा स्थापयितुं नोत्सहन्ते। ज्ञानबलहीनं हि मूढं दृष्टादृष्टविषयायामेषणायामेवैनं करणानि नियोजयन्ति। बलं नामाऽऽत्मविद्याऽ-

शास्त्र द्वारा परोक्ष ज्ञान ·
श्रवण → पदार्थाधिगतिः पूर्वं ततस्तदधिसंगतिः विरुद्धार्थहुतिः पश्चात्ततो वाक्यार्थबोधनमिति॥

(जलादि में उत्तरोत्तर अधिष्ठान तत्त्वों का वर्णन)

पदि = जाने
पण्डा + इतच्

।अथ तृतीयाध्यायस्य गार्गीनामषष्ठं ब्राह्मणम्।

अथ हैनं गार्गी वाचक्नवी पप्रच्छ, याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदꣳ सर्वमप्स्वोतं च प्रोतं च कस्मिन्नु खल्वाप

फिर उस याज्ञवल्क्य से वचक्नु की पुत्री गार्गी ने पूछा— हे याज्ञवल्क्य! ऐसा उसने कहा। यह जो कुछ (पार्थिव धातुसमुदाय) है सब जल में ओत-प्रोत है अर्थात् वस्त्र में

शेषविषयदृष्टितिरस्करणम्। अतस्तद्भावेन बाल्येन तिष्ठासेत्। तथा ''आत्मना विन्दते वीर्यम्'' इति श्रुत्यन्तरात्। ''नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः'' इति च।

बाल्यं च पण्डित्यं च निर्विद्य निःशेषं कृत्वाऽथ मननान्**मुनि**-र्योगी भवति। एतावद्धि ब्राह्मणेन कर्तव्यं, यदुत सर्वानात्मप्रत्ययतिरस्करणमेतत्कृत्वा कृतकृत्यो योगी भवति। **अमौनं** चाऽऽत्मज्ञानानात्मप्रत्ययतिरस्कारौ पाण्डित्यबाल्यसंज्ञकौ निःशेषं कृत्वा **मौनं** नामानात्मप्रत्ययतिरस्करणस्य पर्यवसानं फलं तच्च **निर्विद्याथ ब्राह्मणः** कृतकृत्यो भवति। ब्रह्मैव सर्वमिति प्रत्यय उपजायते। स ब्राह्मणः कृतकृत्योऽतो ब्राह्मणः।

निरुपचरितं हि तदा तस्य ब्राह्मण्यं प्राप्तमत आह— **स ब्राह्मणः केन स्यात्केन** चरणेन भवेद्येन स्या**द्येन** चरणेन भवे**त्तेनेदृश एवायम्**। येन केनचिच्चरणेन स्यात्तेनेदृश एवोक्तलक्षण एव ब्राह्मणो भवति। येन केनचिच्चरणेनेति स्तुत्यर्थं येयं ब्राह्मण्यावस्था सेयं स्तूयते न तु चरणेऽनादरः। **अत** एतस्माद्ब्राह्मण्यावस्थानादशनायाद्यतीतात्मस्वरूपान्नित्यतृप्ता**दन्यद**विद्याविषयमेषणालक्षणं वस्त्वन्तर**मार्तं** विनाश्यार्तिपरिगृहीतं स्वप्नमायामरीच्युदकसममसारमात्मैवैकः केवलो नित्यमुक्त इति। **ततो ह कहोलः कौषीतकेय उपरराम**॥१॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये तृतीयाध्यायस्य पञ्चमं कहोलब्राह्मणम्॥५॥

॥इति त्रयोदशाह्निकम्॥१३॥



यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तर इत्युक्तं, तस्य सर्वान्तरस्य स्वरूपा-

ओताश्च प्रोताश्चेति वायौ गार्गीति कस्मिन्नु खलु वायुरोतश्च प्रोतश्चेत्यन्तरिक्षलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खल्वन्तरिक्षलोका ओताश्च प्रोताश्चेति गन्धर्वलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खलु गन्धर्वलोका ओताश्च प्रोताश्चेत्यादित्यलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खल्वादित्यलोका ओताश्च प्रोताश्चेति चन्द्रलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खलु चन्द्रलोका ओताश्च प्रोताश्चेति नक्षत्रलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खलु नक्षत्रलोका ओताश्च

तन्तु के आतान-वितान के समान ओत-प्रोत है। याज्ञवल्क्य ने कहा— हे गार्गी! वायु में (जलीय या पार्थिव धातु के आश्रय लिये बिना अग्नि का स्वरूप सिद्ध नहीं होता। इसलिये अग्नि का ओत-प्रोत भाव सिद्ध नहीं होता। गार्गी ने कहा—) वायु किसमें ओत-प्रोत है? (याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—) हे गार्गि! अन्तरिक्षलोक में। गार्गी बोली— अन्तरिक्षलोक किसमें ओत-प्रोत है? याज्ञवल्क्य ने कहा— हे गार्गि! वह गन्धर्वलोक में ओत-प्रोत है। गार्गी बोली— गन्धर्वलोक किसमें ओत-प्रोत है? याज्ञवल्क्य ने कहा— हे गार्गि! आदित्यलोक में। गार्गी ने कहा— आदित्यलोक किसमें ओत प्रोत है? याज्ञवल्क्य ने कहा— हे गार्गि! चन्द्रलोक में। गार्गी बोली— चन्द्रलोक किसमें ओत-प्रोत है? याज्ञवल्क्य ने कहा— हे गार्गि! नक्षत्रलोक में। गार्गी बोली— नक्षत्रलोक किसमें ओत-प्रोत है? याज्ञवल्क्य ने कहा — हे गार्गि! देवलोक में। गार्गी बोली — देवलोक किसमें ओत-प्रोत है? याज्ञवल्क्य ने कहा— हे गार्गि! इन्द्रलोक में। गार्गी ने कहा— इन्द्रलोक किसमें ओत-प्रोत है? याज्ञवल्क्य ने कहा—

धिगमायाशाकल्यब्राह्मणाद्ग्रन्थ आरभ्यते। पृथिव्यादीनि ह्याकाशान्तानि भूतान्यन्तर्बहिर्भावेन व्यवस्थितानि, तेषां यद्बाह्यं बाह्यमधिगम्याधिगम्य निराकुर्वन्द्रष्टुः साक्षात्सर्वान्तरोऽगौण आत्मा सर्वसंसारधर्मविनिर्मुक्तो दर्शयितव्य इत्यारम्भः— **अथ हैनं गार्गी** नामतो **वाचक्रवी** वचक्नोर्दुहिता **पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच। यदिदं सर्वं** पार्थिवं धातुजातमप्सूदक **ओतं च प्रोतं** चौतं दीर्घपटतन्तुवत्प्रोतं तिर्यक्तन्तुवद्विपरीतं वा। अद्भिः सर्वतोऽन्तर्बहिर्भूताभिर्व्याप्तमित्यर्थः। अन्यथा

प्रोताश्चेति देवलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खलु देवलोका ओताश्च प्रोताश्चेतीन्द्रलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खल्विन्द्रलोका ओताश्च प्रोताश्चेति प्रजापतिलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खलु प्रजापतिलोका ओताश्च प्रोताश्चेति ब्रह्मलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खलु ब्रह्मलोका ओताश्च प्रोताश्चेति स होवाच गार्गि माऽतिप्राक्षीर्मा ते मूर्धा व्यपप्तदनतिप्रश्न्यां वै देवतामतिपृच्छसि गार्गि माऽतिप्राक्षीरिति ततो ह गार्गी वाचक्नव्युपरराम ॥१॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद तृतीयाध्यायस्य
गार्गीनामषष्ठं ब्राह्मणम् ॥६॥

प्रजापतिलोक में। गार्गी ने कहा— प्रजापतिलोक किसमें ओत-प्रोत है? याज्ञवल्क्य ने कहा— ब्रह्मलोक में (यहाँ पर परस्पर भूतों के संघात को अन्तरिक्षलोक शब्द से कहा गया है। एवं विराट् शरीर के आरम्भक भूतों को प्रजापति शब्द से कहा तथा ब्रह्माण्ड के आरम्भक भूतों को ब्रह्मलोक शब्द से कहा। इन सभी लोकों में सूक्ष्मता के तारतम्य से जीवों के भोगाश्रय देहाकाररूप में पंचभूत ही परस्पर संघात हो रहे हैं। इसलिये सभी जगह बहुवचन का प्रयोग किया है।) गार्गी ने कहा— अच्छा तो ब्रह्मलोक किसमें ओत-प्रोत है? इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा— हे गार्गि! अतिप्रश्न न कर। अर्थात् न्यायोचित प्रकार को छोड़कर केवल अनुमान से शास्त्रगम्य देव के विषय में प्रश्न मत पूछ। ऐसा करने पर तेरा शिर न गिर जाय। जिसके विषय में अतिप्रश्न नहीं करना चाहिये, उस देव के विषय में तू अतिप्रश्न कर रही है। हे गार्गि! यदि तू जीवित रहना चाहती है, तो तू अतिप्रश्न मत कर। इसके ऊपर अनिर्वचन हो गार्गी चुप हो गयी॥१॥

॥ इति षष्ठं ब्राह्मणम् ॥

सक्तुमुष्टिवद्विशीर्येत। इदं तावदनुमानमुपन्यस्तम्। यत्कार्यं परिच्छिन्नं स्थूलं कारणे-

नापरिच्छिन्नेन सूक्ष्मेण व्याप्तमिति दृष्टम्। यथा पृथिव्यद्भिस्तथा पूर्वपूर्वमुत्तरेणोत्तरेण व्यापिना भवितव्यमित्येष आसर्वान्तरादात्मनः प्रश्नार्थः।

तत्र भूतानि पञ्च संहतान्येवोत्तरमुत्तरं सूक्ष्मभावेन व्यापकेन कारणरूपेण च व्यवतिष्ठन्ते। न च परमात्मनोऽर्वाक्तद्व्यतिरेकेण वस्त्वन्तरमस्ति "सत्यस्य सत्यम्" इति श्रुतेः। सत्यं च भूतपञ्चकं, सत्यस्य सत्यं च पर आत्मा। **कस्मिन्नु खल्वाप ओताश्च प्रोताश्चेति।** तासामपि कार्यत्वात्स्थूलत्वात्परिच्छिन्नत्वाच्च क्वचिद्ध्योतप्रोतभावेन भवितव्यम्। क्व तासामोतप्रोतभाव इत्येवमुत्तरोत्तरप्रश्नप्रसङ्गो योजयितव्यः। **वायौ गार्गीति।** नन्वग्नाविति वक्तव्यम्। नैष दोषः। अग्नेः पार्थिवं वाऽऽप्यं वा धातुमनाश्रित्येतरभूतवत्स्वातन्त्र्येणाऽऽत्मलाभो नास्तीति तस्मिन्नोतप्रोतभावो नोपदिश्यते।

कस्मिन्नु खलु वायुरोतश्च प्रोतश्चेत्यन्तरिक्षलोकेषु गार्गीति। तान्येव भूतानि संहतान्यन्तरिक्षलोकास्तान्यपि गन्धर्वलोकेषु गन्धर्वलोका आदित्यलोकेष्वादित्यलोकाश्चन्द्रलोकेषु चन्द्रलोका नक्षत्रलोकेषु नक्षत्रलोका देवलोकेषु देवलोका इन्द्रलोकेष्विन्द्रलोका विराट्शरीराम्भकेषु भूतेषु प्रजापतिलोकेषु प्रजापतिलोका ब्रह्मलोकेषु। ब्रह्मलोका नामाण्डारम्भकाणि भूतानि। सर्वत्र हि सूक्ष्मतारतम्यक्रमेण प्राण्युपभोगाश्रयाकारपरिणतानि भूतानि संहतानि तान्येव पञ्चेति बहुवचनभाञ्जि। **कस्मिन्नु खलु ब्रह्मलोका ओताश्च प्रोताश्चेति। स होवाच** याज्ञवल्क्यो हे **गार्गि! माऽतिप्राक्षीः** स्वं प्रश्नं न्यायप्रकारमतीत्याऽऽगमेन प्रष्टव्यां देवतामनुमानेन मा प्राक्षीरित्यर्थः। पृच्छन्त्याश्च **मा ते** तव **मूर्धा** शिरो **व्यपप्तद्** विस्पष्टं पतेत्। देवतायाः स्वप्रश्न आगमविषयस्तं प्रश्नविषयमतिक्रान्तो गार्ग्याः प्रश्न आनुमानिकत्वात्स यस्या देवतायाः प्रश्नः साऽतिप्रश्न्या नातिप्रश्न्याऽनतिप्रश्न्या स्वप्रश्नविषयैव केवलागमगम्येत्यर्थः। **तामनतिप्रश्न्यां वै देवतामतिपृच्छसि।** अतो **गार्गि माऽतिप्राक्षीर्मर्तुं** चेन्नेच्छसि। **ततो ह गार्गी वाचक्रव्युपरराम**॥१॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये तृतीयाध्यायस्य षष्ठं गार्गीब्राह्मणम्॥६॥

।अथ तृतीयाध्यायस्यारुणिनामसप्तमं ब्राह्मणम्।

अथ हैनमुद्दालक आरुणिः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच मद्रेष्ववसाम पतञ्चलस्य काप्यस्य गृहेषु यज्ञमधीयानास्तस्याऽऽसीद्भार्या गन्धर्वगृहीता तमपृच्छाम कोऽसीति सोऽब्रवीत्कबन्ध आथर्वण, इति सोऽब्रवीत्पतञ्चलं काप्यं याज्ञिकाꣳश्च वेत्थ नु त्वं काप्य तत्सूत्रं येनायं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि संदृब्धानि भवन्तीति, सोऽब्रवीत्पतञ्चलः काप्यो नाहं तद्भगवन्वेदेति, सोऽब्रवीत्पतञ्चलं काप्यं याज्ञिकाꣳश्च वेत्थ नु त्वं काप्य तमन्तर्यामिणं य इमं च लोकं परं च लोकꣳ सर्वाणि च भूतानि

फिर उस याज्ञवल्क्य से अरुण के पुत्र उद्दालक ने कहा— हे याज्ञवल्क्य! हम मद्रदेश में यज्ञशास्त्र का अध्ययन करते हुए कपि गोत्र में उत्पन्न पतञ्चल के घर में रहते थे। उसकी भार्या गन्धर्व से आविष्ट थी। हमने उस गन्धर्व से पूछा— तू कौन है? उसने कहा— मैं गोत्र से अथर्वा का पुत्र कबंध नाम वाला हूँ। उस गन्धर्व ने पतञ्चल काप्य और उसके याज्ञिक शिष्यों से पूछा— हे काप्य! क्या तुम उस सूत्र को जानते हो, जिसके द्वारा यह जन्म, परजन्म और ब्रह्मा से लेकर स्तम्बपर्यन्त सम्पूर्ण भूत गुथे हुए हैं। उस पर उस काप्य पतञ्चल ने कहा— भगवन्!

इदानीं ब्रह्मलोकानामन्तरतमं सूत्रं वक्तव्यमिति तदर्थ आरम्भः। तच्चाऽऽगमेनैव प्रष्टव्यमितीतिहासेनाऽऽगमोपन्यासः क्रियते—**अथ हैनुमुद्दालको** नामतोऽरुणस्यापत्य**मारुणिः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच। मद्रेषु** देशेष्व**वसा**मोषितवन्तः **पतञ्चलस्य** पतञ्चलो नामतस्तस्यैव कपिगोत्रस्य **काप्यस्य गृहेषु यज्ञमधीयाना** यज्ञशास्त्राध्ययनं कुर्वाणाः। **तस्याऽऽसीद्भार्या गन्धर्वगृहीता तमपृच्छाम कोऽसीति। सोऽब्रवीत्कबन्धो** नामतोऽथर्वणोऽपत्यमाथर्वण **इति**।

योऽन्तरो यमयतीति सोऽब्रवीत्पतञ्चलः काप्यो नाहं तं भगवन्वेदेति, सोऽब्रवीत्पतञ्चलं काप्यं याज्ञिकाꣳश्च यो वै तत्काप्य सूत्रं विद्यात्तं चान्तर्यामिणमिति स ब्रह्मवित्स, लोकवित्स, देववित्स वेदवित्स भूतवित्स आत्मवित्स सर्वविदिति तेभ्योऽब्रवीत्तदहं वेद तच्चेत्त्वं याज्ञवल्क्य सूत्रमविद्वाꣳस्तं चान्तर्यामिणं ब्रह्मगवीरुदजसे, मूर्धा ते विपतिष्यतीति वेद वा अहं गौतम तत्सूत्रं तं चान्तर्यामिणमिति यो वा इदं कश्चिद्‌ब्रूयाद्वेद वेदेति यथा वेत्थ तथा ब्रूहीति॥१॥

मैं उस सूत्रात्मा को नहीं जानता। फिर उस गन्धर्व ने उस काप्य पतञ्चल से पूछा—हे काप्य! क्या उस अन्तर्यामी को जानते हो, जो इस लोक, परलोक और समस्त भूतों को काष्ठ यन्त्र के समान भीतर रह कर उचित व्यापार कराता है? इस पर पतञ्चल काप्य ने कहा— हे भगवन्! मैं नहीं जानता। उस गन्धर्व ने पतञ्चल काप्य और उसके याज्ञिकों से पूछा— तुममें से जो कोई भी उस सूत्र और अन्तर्यामी को उक्त रीति से जानता है, वही परमात्मा को जानने वाला है और वही भूरादि लोकों को जानता है, एवं वही वेदवेत्ता है, वह भूतवेत्ता है, वह आत्मवेत्ता है, सर्ववेत्ता है। तत्पश्चात् गन्धर्व ने उन काप्य आदि से सूत्र और अन्तर्यामी को बतलाया। इस प्रकार गन्धर्व से उपदेश प्राप्त कर मैं उसे जानता हूँ। अतः हे याज्ञवल्क्य! यदि उस सूत्र और अन्तर्यामी को न जानकर ब्रह्मज्ञानियों की सम्पत्ति गौओं को अन्याय से ले जाओगे, तो मेरे शाप से तुम्हारा मस्तक गिर जायगा। याज्ञवल्क्य ने कहा— हे गौतम! मैं उस सूत्र और अन्तर्यामी को जानता हूँ। उद्दालक ने कहा— अपनी प्रशंसा के लिये ऐसा तो कोई साधारण पुरुष भी कह सकता है कि मैं उसे जानता हूँ, वास्तव में यदि तुम्हें उसका ज्ञान है तो जैसा जानते हो, वैसे तुम कहो॥१॥

सोऽब्रवीद्गन्धर्वः पतञ्चलं काप्यं याज्ञिकांश्च तच्छिष्यानस्मान्**वेत्थ** नु त्वं हे **काप्य** जानीषे **तत्सूत्रम्**। किं तत्? **येन सूत्रेणायं च लोक** इदं च जन्म **परश्च लोकः** परं च प्रतिपत्तव्यं जन्म **सर्वाणि च भूतानि** ब्रह्मादिस्तम्बपर्य-

स होवाच वायुर्वै गौतम तत्सूत्रं वायुना वै गौतम

उस याज्ञवल्क्य ने कहा— हे गौतम! वह सूत्र वायु ही है और कुछ नहीं है। हे गौतम!

न्तानि **संदृब्धानि** संग्रथितानि स्रगिव सूत्रेण विष्टब्धानि **भवन्ति** येन, तत्किं सूत्रं वेत्थ। **सोऽब्रवीदेवं** पृष्टः **काप्यो नाहं तद्भगवन्वेदेति** तत्सूत्रं नाहं जाने, हे भगवन्निति संपूजयन्नाह। **सोऽब्रवीत्**पुनर्गन्धर्व उपाध्यायमस्मांश्च **वेत्थ नु त्वं काप्य तमन्तर्यामिणम**न्तर्यामीति विशेष्यते—**य इमं च लोकं परं च लोकं सर्वाणि च भूतानि योऽन्तरो**ऽभ्यन्तरः सन्**यमयति** नियमयति दारुयन्त्रमिव भ्रामयति स्वं स्वमुचितव्यापारं कारयतीति। **सोऽब्रवीदे**वमुक्तः **पतञ्चलः काप्यो नाहं तं** जाने **भगवन्निति** संपूजयन्नाह।

सोऽब्रवीत्पुनर्गन्धर्वः सूत्रतदन्तर्गतान्तर्यामिणोर्विज्ञानं स्तूयते। **यः कश्चिद्वै तत्सूत्रं हे काप्य विद्याद्वि**जानीयात्**तं चान्तर्यामिणं** सूत्रान्तर्गतं, तस्यैव सूत्रस्य नियन्तारं विद्याद्य इत्येवमुक्तेन प्रकारेण **स** हि **ब्रह्मवित्**परमात्मवित्**स** लोकांश्च भूरादीनन्तर्यामिणा नियम्यमानाँल्लोकान्वेत्ति, स देवांश्चाग्न्यादीँल्लोकिनो जानाति, वेदांश्च सर्वप्रमाणभूतान्वेत्ति भूतानि च ब्रह्मादीनि सूत्रेण ध्रियमाणानि तदन्तर्गतेनान्तर्यामिणा नियम्यमानानि वेत्ति स आत्मानं च कर्तृत्वभोक्तृत्वविशिष्टं तेनैवान्तर्यामिणा नियम्यमानं वेत्ति सर्वं च जगत्तथाभूतं वेत्तीत्येवं स्तुते सूत्रान्तर्यामिविज्ञाने प्रलुब्धः काप्योऽभिमुखीभूतो वयं च, तेभ्यश्चास्मभ्यमभिमुखीभूतेभ्योऽब्रवीद्गन्धर्वः सूत्रमन्तर्यामिणं च। **तदहं** सूत्रान्तर्यामिविज्ञानं **वेद** गन्धर्वाल्लब्धागमः सन्। **तच्चेद्याज्ञवल्क्य सूत्रं** तं चान्तर्यामिण**मविद्वांश्**चेदब्रह्मवित्सन्यदि **ब्रह्मगवीरुदजसे** ब्रह्मविदां स्वभूता गा **उदजसे** उन्नयसि त्वमन्यायेन, ततो मच्छापदग्धस्य **मूर्धा** शिरस्**ते** तव विस्पष्टं **पतिष्यति**। एवमुक्तो याज्ञवल्क्य आह—**वेद** जानाम्**यहं** हे **गौतमेति** गोत्रतस्**तत्सूत्रं** यद्गन्धर्वस्तुभ्यमुक्तवान्यं गन्धर्वाद्विदितवन्तो यूयं **तं चान्तर्यामिणं** वेदाहमित्येवमुक्ते प्रत्याह गौतमो **यः कश्चित्**प्राकृत इदं यत्त्वयोक्तं **ब्रूयात्कथं वेद वेदेत्**यात्मानं श्लाघयन्किं तेन गर्जितेन, कार्येण दर्शय **यथा वेत्थ तथा ब्रूहीति**॥१॥

स होवाच याज्ञवल्क्यः। ब्रह्मलोका यस्मिन्नोताश्च प्रोताश्च वर्तमाने काले

सूत्रेणायं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि संदृब्धानि भवन्ति तस्माद्वै गौतम पुरुषं प्रेतमाहु-र्व्यस्रꣳसिषतास्याङ्गानीति वायुना हि गौतम सूत्रेण संदृब्धानि भवन्तीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्यान्तर्यामिणं ब्रूहीति ॥२॥

वायुरूप सूत्र के द्वारा ही यह लोक, परलोक और सम्पूर्ण भूत जुड़े हुए हैं। हे गौतम! इसी से अमृत पुरुष के विषय में ऐसा कहते हैं कि इसके अंग बिखर गये हैं, क्योंकि हे गौतम! वायुरूप सूत्र से ही भली प्रकार गुंथे हुए हैं। उद्दालक ने कहा— हे याज्ञवल्क्य! यह ठीक ऐसा ही है। अब तुम उसके अन्तर्वर्ती और अन्तर्यामी नियामक को बतलाओ ॥२॥

यथा पृथिव्यप्सु तत्सूत्रमागमगम्यं वक्तव्यमिति तदर्थं प्रश्नान्तरमुत्थापितमिति तन्निर्णयायाऽऽह—**वायुर्वै गौतम तत्सूत्रं** नान्यद्वायुरिति सूक्ष्ममाकाशवद्विष्टम्भकं पृथिव्यादीनां यदात्मकं सप्तदशविधं लिङ्गं कर्मवासनासमवायि प्राणिनां यत्तत्समष्टिव्यष्ट्यात्मकं यस्य बाह्या भेदाः सप्त सप्त मरुद्गणाः समुद्रस्येवोर्मयस्तदेतद्वायव्यं तत्त्वं सूत्रमित्यभिधीयते। **वायुना वै गौतम सूत्रेणायं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि संदृब्धानि भवन्ति** संग्रथितानि भवन्तीति प्रसिद्धमेतत्। अस्ति च लोके प्रसिद्धिः। कथं? यस्माद्वायुः सूत्रं वायुना विधृतं सर्वं **तस्माद्वै गौतम पुरुषं प्रेतमाहुः** कथयन्ति **व्यस्रंसिषत** विस्रस्तान्यस्य **पुरुषस्याङ्गानीति**। सूत्रापगमे हि मण्यादीनां प्रोतानामवस्रंसनं दृष्टमेवं वायुः सूत्रं तस्मिन्मणिवत्प्रोतानि यद्यस्याङ्गानि स्युस्ततो युक्तमेतद्वाय्वपगमेऽवस्रंसनमङ्गानाम्। अतो **वायुना हि गौतम सूत्रेण संदृब्धानि भवन्तीति** निगमयति। **एवमेवैतद्याज्ञवल्क्य** सम्यगुक्तं सूत्रं तदन्तर्गतं त्विदानीं तस्यैव सूत्रस्य नियन्तार**मन्तर्यामिणं ब्रूही**त्युक्त आह ॥२॥

यः पृथिव्यां तिष्ठन्पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥३॥

योऽप्सु तिष्ठन्नद्भ्योऽन्तरो यमापो न विदुर्यस्याऽऽपः शरीरं योऽपोऽन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥४॥

जो पृथिवी में रहने वाला है, पृथिवी के भीतर है, जिसे पृथिवी नहीं जानती, जिसका शरीर पृथिवी है और जो भीतर रहकर पृथिवी को नियमन करता है, वहीं तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥३॥

जो जल में रहने वाला जल के भीतर है, जिसे जल नहीं जानता, जल जिसका शरीर है और जो जल के भीतर रहकर जल का नियमन करता है, वह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥४॥

यः पृथिव्यां तिष्ठन्भवति सोऽन्तर्यामी। सर्वः पृथिव्यां तिष्ठतीति सर्वत्र प्रसङ्गो मा भूदिति विशिनष्टि—**पृथिव्या अन्तरो**ऽभ्यन्तरः। तत्रैतत्स्यात्पृथिवी देवतैवान्तर्यामीत्यत आह—**यमन्तर्यामिणं पृथिवी** देवताऽपि **न वेद** मय्यन्यः कश्चिद्वर्तत इति। **यस्य पृथिवी शरीरं** यस्य च पृथिव्येव शरीरं नान्यत्पृथिवीदेवताया यच्छरीरं तदेव शरीरं यस्य। शरीरग्रहणं चोपलक्षणार्थं करणं च पृथिव्यास्तस्य। स्वकर्मप्रयुक्तं हि कार्यं करणं च पृथिवीदेवतायाः। तदस्य स्वकर्माभावादन्तर्यामिणो नित्यमुक्तत्वात्। परार्थकर्तव्यतास्वभावत्वात्परस्य यत्कार्यं करणं च तदेवास्य, न स्वतस्तदाह—**यस्य पृथिवी शरीरमिति**। देवताकार्यकरणस्येश्वरसाक्षिमात्रसांनिध्येन हि नियमेन प्रवृत्तिनिवृत्ती स्याताम्। **य** ईदृगीश्वरो नारायणाख्यः **पृथिवीं** पृथिवीदेवतां यमयति नियमयति स्वव्यापारेऽन्तरोऽभ्यन्तरस्तिष्ठन्**नेष त आत्मा** ते तव मम च सर्वभूतानां चेत्युपलक्षणार्थमेत**दन्तर्यामी** यस्त्वया पृष्टो**ऽमृतः** सर्वसंसारधर्मवर्जित इत्येतत् ॥३॥

समानमन्यत्। **योऽप्सु तिष्ठन्न**ग्नावन्तरिक्षे वायौ दिव्यादित्ये दिक्षु

11·30 से 2·30 बजे तक दिन में अविजित मुहूर्त

योऽग्नौ तिष्ठन्नग्नेरन्तरो यमग्निर्न वेद यस्याग्निः शरीरं योऽग्निमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥५ ॥

योऽन्तरिक्षे तिष्ठन्नन्तरिक्षादन्तरो यमन्तरिक्षं न वेद यस्यान्तरिक्षꣳ शरीरं योऽन्तरिक्षमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥६ ॥

यो वायौ तिष्ठन्वायोरन्तरो यं वायुर्न वेद यस्य वायुः शरीरं यो वायुमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥७ ॥

यो दिवि तिष्ठन्दिवोऽन्तरो यं द्यौर्न वेद यस्य द्यौः

जो अग्नि में रहने वाला अग्नि के भीतर है, जिसे अग्नि जानता नहीं, जिनका शरीर अग्नि है और जो अग्नि के भीतर रहकर उसका नियन्त्रण करता है, वह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥५ ॥

जो अन्तरिक्ष में रहने वाला है, अन्तरिक्ष के भीतर है, जिसे अन्तरिक्ष जानता नहीं, जिसका शरीर अन्तरिक्ष है और जो उसके भीतर रहकर अन्तरिक्ष का नियमन करता है, वह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥६ ॥

जो वायु में रहने वाला है, वायु के भीतर है, जिसे वायु जानता नहीं, जिसका शरीर वायु है और जो वायु के भीतर रहकर नियन्त्रण करता है, वही तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥७ ॥

जो द्युलोक में रहने वाला है, द्युलोक के भीतर है, जिसे द्युलोक नहीं जानता, जिसका

चन्द्रतारक आकाशे यस्तमस्यावरणात्मके बाह्ये तमसि तेजसि तद्विपरीते प्रकाश-

* रथ समेत रवि भाके· "एक मासका एक दिन"

शरीरं यो दिवमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्यामी-
म्यमृतः ॥८ ॥

य *आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद यस्याऽऽदित्यः शरीरं य आदित्यमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥९ ॥

यो दिक्षु तिष्ठन्दिग्भ्योऽन्तरो यं दिशो न विदुर्यस्य दिशः शरीरं यो दिशोऽन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥१० ॥

यश्चन्द्रतारके तिष्ठꣳश्चन्द्रतारकान्तरो यं चन्द्रतारकं न वेद यस्य चन्द्रतारकꣳ शरीरं यश्चन्द्रतारकमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥११ ॥

यशोदा जी कृष्ण कालापन का उत्तर = काली कम्बले; काली गायका दूध; अंधेरी रात को उपजे.

शरीर द्युलोक है और जो द्युलोक के भीतर रहकर द्युलोक का नियन्त्रण करता है, यही तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥८ ॥

जो आदित्य में रहने वाला है एवं आदित्य के भीतर है, जिसे आदित्य जानता नहीं, आदित्य जिसका शरीर है, जो आदित्य के भीतर रहकर आदित्य का नियन्त्रण करता है, वह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥९ ॥

जो दिशाओं में रहने वाला है, एवं दिशाओं के भीतर है, जिसे दिशाएँ जानती नहीं, जिसका शरीर दिशाएँ है, जो दिशाओं के भीतर रहकर दिशाओं का नियन्त्रण करता है, वह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥१० ॥

जो चन्द्रमा तथा तारों के भीतर है, जिसे चन्द्रमा और ताराएँ जानती नहीं, जिसका शरीर चन्द्रमा और ताराएँ हैं। जो चन्द्रमा और ताराओं के भीतर रहकर चन्द्रमा और ताराओं का नियन्त्रण करता है, वह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥११ ॥

सामान्य **इत्येवमधिदैवतम**न्तर्यामिविषयं दर्शनं देवतासु। **अथाधिभूतं** भूतेषु

य आकाशे तिष्ठन्नाकाशादन्तरो यमाकाशो न वेद यस्याऽऽकाशः शरीरं य आकाशमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥१२॥

यस्तमसि तिष्ठंस्तमसोऽन्तरो यं तमो न वेद यस्य तमः शरीरं यस्तमोऽन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥१३॥

यस्तेजसि तिष्ठंस्तेजसोऽन्तरो यं तेजो न वेद यस्य तेजः शरीरं यस्तेजोऽन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृत इत्यधिदैवतमथाधिभूतम् ॥१४॥

जो आकाश में रहने वाला है, एवं आकाश के भीतर है, जिसे आकाश जानता नहीं, जिसका शरीर आकाश है, जो आकाश के भीतर रहकर आकाश का नियन्त्रण करता है, वह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है॥१२॥

जो अंधेरे में रहने वाला है एवं अंधेरे के भीतर है, जिसे अंधेरा जानता नहीं, जिसका शरीर अंधेरा है, जो अंधेरे के भीतर रहकर अंधेरे का नियन्त्रण करता है, वह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है॥१३॥

जो प्रकाश में रहने वाला है, एवं प्रकाश के भीतर है, प्रकाश जिसे जानता नहीं, जिसका शरीर प्रकाश है, जो प्रकाश के भीतर रहकर प्रकाश का नियन्त्रण करता है, वह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। इस प्रकार यह अन्तर्यामीविषयक देवताओं के अन्तर्गत दर्शन कहा गया। अब ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त सम्पूर्ण भूतों में अन्तर्यामी विषयक दर्शन कहा जाता है॥१४॥

ब्रह्मादिस्तंम्बपर्यन्तेष्वन्तर्यामि दर्शनमधिभूतम् ॥४॥ ॥५॥ ॥६॥ ॥७॥ ॥८॥ ॥९॥ ॥१०॥ ॥११॥ ॥१२॥ ॥१३॥ ॥१४॥

यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरो यꣳ सर्वाणि भूतानि न विदुर्यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं यः सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृत इत्यधिभूतमथाध्यात्मम् ॥१५॥

यः प्राणे तिष्ठन्प्राणादन्तरो यं प्राणो न वेद यस्य प्राणः शरीरं यः प्राणमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥१६॥

वही तेरा आत्मा है। तेरा स्वरूप है।

यो वाचि तिष्ठन्वाचोऽन्तरो यं वाङ्न वेद यस्य वाक्शरीरं यो वाचमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥१७॥

जो सम्पूर्ण भूतों में रहने वाला है एवं सम्पूर्ण भूतों के भीतर है, जिसे सम्पूर्ण भूत जानते नहीं हैं, जिसके सम्पूर्ण भूत शरीर हैं और जो भीतर रहकर सभी भूतों का नियन्त्रण करता है, वह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। यह अधिभूत दर्शन है। अब आगे अध्यात्म दर्शन कहा जाता है॥१५॥

जो प्राण में स्थित है, एवं प्राण के भीतर है। जिसे प्राण जानता नहीं, जिसका शरीर प्राण है और जो भीतर रहकर प्राण का नियन्त्रण करता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है॥१६॥

जो वाणी में स्थित है, और वाणी के भीतर है, जिसे वाणी जानती नहीं, वाणी जिसका शरीर है और जो वाणी के भीतर रहकर वाणी का नियन्त्रण करता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमरणधर्मा है॥१७॥

अथाध्यात्मं यः प्राणे प्राणवायुसहिते घ्राणे **यो वाचि चक्षुषि श्रोत्रे मनसि त्वचि विज्ञाने** बुद्धौ **रेतसि** प्रजनने। कस्मात्पुनः कारणात्पृथिव्यादि-

यश्चक्षुषि तिष्ठंश्चक्षुषोऽन्तरो यं चक्षुर्न वेद यस्य चक्षुः शरीरं यश्चक्षुरन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥१८॥

यः श्रोत्रे तिष्ठञ्छ्रोत्रादन्तरो यꣳ श्रोत्रं न वेद यस्य श्रोत्रꣳ शरीरं यः श्रोत्रमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥१९॥

यो मनसि तिष्ठन्मनसोऽन्तरो यं मनो न वेद यस्य मनः शरीरं यो मनोऽन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥२०॥

जो नेत्र में स्थित है और नेत्र के भीतर है, जिसे नेत्र जानता नहीं, नेत्र जिसका शरीर है, और जो नेत्र के भीतर रहकर नेत्र का नियमन करता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमरणधर्मा है॥१८॥

जो श्रोत्र के भीतर श्रोत्र में रहने वाला है, जिसे श्रोत्र जानता नहीं, श्रोत्र जिसका शरीर है और जो श्रोत्र के भीतर रहकर श्रोत्र का नियमन करता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है॥१९॥

जो मन के भीतर मन में स्थित है, जिसे मन जानता नहीं, जिसका शरीर मन है, जो मन के भीतर रहकर मन का नियमन करता है यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है॥२०॥

देवता महाभागाः सत्यो मनुष्यादिवदात्मनि तिष्ठन्तमात्मनो नियन्तारमन्तर्यामिणं न विदुरित्यत आह—**अदृष्टो** न दृष्टो न विषयीभूतश्चक्षुर्दर्शनस्य कस्यचित्स्वयं तु चक्षुषि संनिहितत्वाद्दृशिस्वरूप इति **द्रष्टा**। तथाऽ**श्रुतः** श्रोत्रगोचरत्वमनापन्नः कस्यचित्स्वयं त्वलुप्तश्रवणशक्तिः सर्वश्रोत्रेषु संनिहितत्वाच्छ्**रोता**। तथाऽ**मतो** मनःसंकल्पविषयतामनापन्नः। दृष्टश्रुते एव हि सर्वः संकल्पयत्यदृष्टत्वादश्रुतत्वादेवामतोऽलुप्तमननशक्तित्वात्सर्वमनःसु संनिहितत्वाच्च मन्ता। तथाऽ**विज्ञातो**

यस्त्वचि तिष्ठꣳस्त्वचोऽन्तरो यं त्वङ्न वेद यस्य त्वक्शरीरं यस्त्वचमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥२१॥

यो विज्ञाने तिष्ठन्विज्ञानादन्तरो यं विज्ञानं न वेद यस्य विज्ञानꣳ शरीरं यो विज्ञानमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥२२॥

यो रेतसि तिष्ठन्रेतसोऽन्तरो यꣳ रेतो न वेद यस्य रेतः शरीरं यो रेतोऽन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतोऽदृष्टो द्रष्टाऽश्रुतः श्रोताऽमतो मन्ताऽविज्ञातो विज्ञाता नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्योऽतोऽस्ति

जो त्वचा के भीतर त्वचा में रहने वाला है, जिसे त्वचा नहीं जानती, जिसका शरीर त्वचा है, जो त्वचा के भीतर रहकर त्वचा का नियमन करता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है॥२१॥

जो बुद्धि में रहने वाला बुद्धि के भीतर है, बुद्धि जिसे जानती नहीं, जिसका शरीर बुद्धि है, जो बुद्धि के भीतर रहकर बुद्धि का नियमन करता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है॥२२॥

जो प्रजनन इन्द्रिय में रहने वाला प्रजनन के भीतर रहता है, जिसे वीर्य जानता नहीं, वीर्य जिसका शरीर है जो वीर्य के भीतर रहकर वीर्य का नियमन करता है, वह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। वह दिखायी नहीं देता, किन्तु देखता है। सुनायी नहीं देता,

---

निश्चयगोचरतामनापन्नो रूपादिवत्सुखादिवद्वा स्वयं त्वलुप्तविज्ञानशक्तित्वात्तत्संनिधानाच्च **विज्ञाता**। तत्र यं पृथिवी न वेद यं सर्वाणि भूतानि न विदुरिति चान्ये नियन्तव्या विज्ञातारोऽन्यो नियन्ताऽन्तर्यामीति प्राप्तं तदन्यत्वाशङ्कानिवृत्त्यर्थमुच्यते— **नान्योऽतो** नान्यः अतोऽस्मादन्तर्यामिणो नान्यो**ऽस्ति द्रष्टा** तथा

श्रोता नान्योऽतोऽस्ति मन्ता नान्योऽतोऽस्ति विज्ञातैष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतोऽतोऽन्यदार्तं ततो होद्दालक आरुणिरुपरराम ॥२३ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि तृतीयाध्यायस्य सप्तममन्तर्यामिब्राह्मणम् ॥७ ॥

। अथ तृतीयाध्यायस्याक्षरनामाष्टमं ब्राह्मणम् ।

अथ ह वाचक्नव्युवाच ब्राह्मणा भगवन्तो हन्ताहमिमं द्वौ प्रश्नौ प्रक्ष्यामि तौ चेन्मे वक्ष्यति न वै जातु

किन्तु सुनता है। मनन का विषय नहीं होता, किन्तु मनन करने वाला है। जो विशेषरूप से ज्ञात नहीं होता, किन्तु विशेषरूप से जानता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। इससे भिन्न सभी नश्वर है। इसके बाद आरुणि उद्दालक चुप हो गया ॥२३ ॥

॥ इति सप्तमं ब्राह्मणम् ॥

तत्पश्चात् वचक्नु की पुत्री गार्गी ने कहा— हे पूज्य ब्राह्मणगण! यदि आप लोगों की अनुमति हो तो मैं इस याज्ञवल्कय से दो प्रश्न पूछूँगी, मेरे उन प्रश्नों का उत्तर यदि याज्ञवल्क्य

नान्योऽतोऽस्ति श्रोता नान्योऽतोऽस्ति मन्ता नान्योऽतोऽस्ति विज्ञाता। यस्मात्परो नास्ति द्रष्टा श्रोता मन्ता विज्ञाता योऽदृष्टो द्रष्टाऽश्रुतः श्रोताऽमतो मन्ताऽविज्ञातो विज्ञाताऽमृतः सर्वसंसारधर्मवर्जितः सर्वसंसारिणां कर्मफलविभागकर्तैष **त आत्माऽन्तर्याम्यमृतो**ऽस्मादीश्वरादात्मनो**ऽन्यदार्तं ततो होद्दालक आरुणिरुपरराम ॥**१५ ॥ ॥१६ ॥ ॥१७ ॥ ॥१८ ॥ ॥१९ ॥ ॥२० ॥ ॥२१ ॥ ॥२२ ॥ ॥२३ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये तृतीयाध्यायस्य सप्तममन्तर्यामिब्राह्मणम् ॥७ ॥

अतः परमशनायादिविनिर्मुक्तं निरुपाधिकं साक्षादपरोक्षात्सर्वान्तरं ब्रह्म वक्तव्यमित्यत आरम्भः—

युष्माकमिमं कश्चिद्ब्रह्मोद्यं जेतेति पृच्छ गार्गीति ॥१ ॥

सा होवाचाहं वै त्वा याज्ञवल्क्य यथा काश्यो वा वैदेहो वोग्रपुत्र उज्ज्यं धनुरधिज्यं कृत्वा द्वौ बाणवन्तौ सपत्नातिव्याधिनौ हस्ते कृत्वोपोत्तिष्ठेदेवमेवाहं त्वा द्वाभ्यां प्रश्नाभ्यामुपोदस्थां तौ मे ब्रूहीति पृच्छ गार्गीति ॥२ ॥

ने दे दिया, तो आप में से कोई इन्हें ब्रह्मसम्बन्धी वाद-विवाद में नहीं जीत सकते। इस पर ब्राह्मणों ने अनुमति दे दी। हे गार्गि! पूछ ॥१ ॥

गार्गी ने कहा— हे याज्ञवल्क्य! जैसे लोक में काशी या विदेहदेश का रहने वाला राजा वीरवंश में उत्पन्न प्रत्यञ्चारहित धनुष पर पुनः प्रत्यञ्चा चढ़ाकर शत्रुओं को अत्यन्त पीड़ित करने वाले दो बाणों से युक्त शर हाथ में लेकर उपस्थित हो, वैसे ही दो प्रश्न लेकर मैं तुम्हारे सामने उपस्थित होती हूँ। (यदि तुम ब्रह्मज्ञानी हो तो) मुझे उनका उत्तर दो। तब याज्ञवल्क्य ने कहा— हे गार्गि! पूछ ॥२ ॥

अथ ह वाचक्रव्युवाच पूर्वं याज्ञवल्क्येन निषिद्धा मूर्धपातभयादुपरता सती पुनः प्रष्टुं ब्राह्मणानुज्ञां प्रार्थयते। हे **ब्राह्मणा भगवन्तः** पूजावन्तः! शृणुत मम वचो **हन्ताहमिमं** याज्ञवल्क्यं पुनर्द्वौ **प्रश्नौ प्रक्ष्यामि** यद्यनुमतिर्भवतामस्ति। **तौ** प्रश्नौ **चे**द्यदि **वक्ष्यति** कथयिष्यति **मे** कथंचिन्न **वै जातु** कदाचिद्युष्माकं मध्ये **इमं** याज्ञवल्क्यं **कश्चिद्ब्रह्मोद्यं** ब्रह्मवदनं प्रति **जेता** न वै कश्चिद्भवेदित्येवमुक्ता ब्राह्मणा अनुज्ञां प्रददुः **पृच्छ गार्गीति** ॥१ ॥

लब्धानुज्ञा ह याज्ञवल्क्यं **सा होवाचाहं वै त्वा** द्वौ प्रश्नौ प्रवक्ष्यामीत्यनुषज्यते। कौ ताविति जिज्ञासायां तयोर्दुरुत्तरत्वं द्योतयितुं दृष्टान्तपूर्वकं तावाह—हे **याज्ञवल्क्य! यथा** लोके **काश्यः** काशीषु भवः काश्यः प्रसिद्धं शौर्यं काश्ये **वैदेहो**

सा होवाच यदूर्ध्वं याज्ञवल्क्य दिवो यदवाक्पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद्भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षते कस्मिंश्स्तदोतं च प्रोतं चेति ॥३ ॥

स होवाच यदूर्ध्वं गार्गि दिवो यदवाक्पृथिव्या

गार्गी ने कहा— हे याज्ञवल्क्य! जो द्युलोक से ऊपर है, जो पृथिवी से नीचे है, जो द्यावापृथिवीरूप इन अण्डकपालों के बीच में है और स्वयं भी जो ये द्युलोक और पृथिवी हैं, एवं जिन्हें भूत, वर्तमान और भविष्यत् ऐसा कहते हैं, वे सम्पूर्ण द्वैतवर्ग किसमें ओत-प्रोत हैं ॥३ ॥

उस याज्ञवल्क्य ने कहा— हे गार्गि! जो द्युलोक से ऊपर, पृथिवी से नीचे और जो

वा विदेहानां वा राजो**ग्र**पुत्रः शूरान्वय इत्यर्थः। **उज्ज्यमवतारितज्याकं धनुः पुनरधिज्यमारोपितज्याकं कृत्वा द्वौ बाणवन्तौ** बाणशब्देन शराग्रे यो वंशखण्डः संधीयते। तेन विनाऽपि शरो भवतीत्यतो विशिनष्टि बाणवन्ताविति। द्वौ बाणवन्तौ शरौ तयोरेव विशेषणं **सपत्नातिव्याधिनौ** शत्रोः पीडाकरावतिशयेन **हस्ते कृत्वोपोत्तिष्ठे**त्समीपत आत्मानं दर्शये**देवमेवाहं त्वा** त्वां शरस्थानीयाभ्यां **प्रश्नाभ्यां द्वाभ्यामुपोदस्थामु**त्थितवत्यस्मि त्वत्समीपे। **तौ मे ब्रूहीति** ब्रह्मविच्चेत्। आहेतरः **पृच्छ गार्गीति** ॥२ ॥

सा होवाच यदूर्ध्वमुपरि **दिवो**ऽण्डकपालाद्यच्चा**वागधः पृथिव्या** अधोऽण्डकपालाद्यच्चा**न्तरा** मध्ये **द्यावापृथिवी** द्यावापृथिव्योरण्डकपालयो**रिमे च** द्यावापृथिवी **यद्भूतं** यच्चातीतं **भवच्च** वर्तमानं स्वव्यापारस्थं **भविष्यच्च** वर्तमानादूर्ध्वकालभाविलिङ्गगम्यं यत्सर्वमेतदा**चक्षते** कथयन्त्यागमतस्तत्सर्वं द्वैतजातं यस्मिन्नेकीभवतीत्यर्थः। तत्सूत्रसंज्ञं पूर्वोक्तं **कस्मिन्नोतं च प्रोतं च** पृथिवीधातुरिवाप्सु ॥३ ॥

स होवाचेतरो हे **गार्गि यत्त्वयोक्तमूर्ध्वं दिव** इत्यादि तत्सर्वं यत्सूत्र-

निर्गुण ज्ञान सुलभ अति सगुण जानि नहीं कोय।
सुगम अगम नाना चरित, सुनि मुनि मन भ्रम होय॥ (उ.काण्ड)
निषेध मुख से कहना सुलभ है, विधि मुख से कहना कठिन है!

जीतने की इच्छा से यहाँ विजिगीषु कथा (जल्प).

यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद्भूतं च भवच्च भविष्य-
च्चेत्याचक्षत आकाशे तदोतं च प्रोतं चेति ॥४॥

un-manifested ether

सा होवाच नमस्तेऽस्तु याज्ञवल्क्य यो म एतं
व्यवोचोऽपरस्मै धारयस्वेति पृच्छ गार्गीति ॥५॥

(द्वितीय प्रश्न)

सा होवाच यदूर्ध्वं याज्ञवल्क्य दिवो यदवाक्पृथिव्या
यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद्भूतं च भवच्च भविष्य-
च्चेत्याचक्षते कस्मिंश्स्तदोतं च प्रोतं चेति ॥६॥

द्युलोक पृथिवी के बीच में है एवं स्वयं भी जो ये द्युलोक और पृथिवी हैं तथा जिन्हें भूत, भविष्य, वर्तमान ऐसा कहते हैं, वे सभी अव्याकृत आकाश में ओत-प्रोत हैं ॥४॥

उस गार्गी ने फिर कहा— हे याज्ञवल्क्य! आपको नमस्कार है जो कि आपने मेरे इस प्रश्न का उत्तर दे दिया। अब आप दूसरे प्रश्न के लिये तैयार हो जावें। याज्ञवल्क्य ने कहा— हे गार्गि! पूछ ॥५॥

उसने कहा— हे याज्ञवल्क्य! जो द्युलोक से ऊपर, पृथिवी से नीचे, तथा द्युलोक और पृथिवी के बीच में है, एवं जो यह स्वयं द्युलोक और पृथिवी लोक है जिन्हें 'भूत, वर्तमान तथा भविष्यत्' ऐसे शब्दों से कहते हैं, वे सब किसमें ओत-प्रोत हैं ॥६॥

माचक्षते तत्सूत्रमाकाशे **तदोतं च प्रोतं च** यदेतद्व्याकृतं सूत्रात्मकं जगद-व्याकृताकाशेऽप्स्विव पृथिवीधातुस्त्रिष्वपि कालेषु वर्तते उत्पत्तौ स्थितौ लये च ॥४॥

पुनः **सा होवाच नमस्तेऽस्त्वि**त्यादि प्रश्नस्य दुर्वचत्वप्रदर्शनार्थम्। यो मे ममैतं प्रश्नं व्यवोचो विशेषेणापाकृतवानसि। एतस्य दुर्वचत्वे कारणं सूत्रमेव तावदगम्यमितरैर्दुर्वाच्यं किमुत तद्यस्मिन्नोतं च प्रोतं चेत्यतो **नमोऽस्तु** ते तुभ्य-**मपरस्मै द्वितीयाय** प्रश्नाय **धारयस्व** दृढीकुर्वात्मानमित्यर्थः। **पृच्छ गार्गी-तीतर** आह ॥५॥

व्याख्यातमन्यत्। **सा होवाच यदूर्ध्वं याज्ञवल्क्ये**त्यादिप्रश्नः प्रतिवचनं चोक्तस्यैवार्थस्यावधारणार्थं पुनरुच्यते। न किंचिदपूर्वमर्थान्तरमुच्यते ॥६॥

स होवाच यदूर्ध्वं गार्गि दिवो यदवाक्पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद्भूतं च भवच्च भविष्य- च्चेत्याचक्षत आकाशे एव तदोतं च प्रोतं चेति कस्मिन्नु खल्वाकाशः ओतश्च प्रोतश्चेति ॥७ ॥

स होवाचैतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्य- स्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमो-

तब उस याज्ञवल्क्य ने कहा— हे गार्गि! जो द्युलोक से ऊपर, पृथिवी से नीचे और द्युलोक तथा पृथिवी के बीच में हैं एवं जो स्वयं द्युलोक तथा पृथिवी हैं तथा जिन्हें भूत, भविष्यत् और वर्तमान ऐसे शब्दों से कहते हैं, वे सब आकश में ही ओत-प्रोत हें (पूर्वोक्तवाक्य से प्रथम प्रश्नोत्तर को ही पुष्ट किया गया है, जिसे अग्रिम प्रश्न के उप- क्रमरूप से गार्गी ने कहा है)। किन्तु आकाश किसमें ओत-प्रोत है? (गार्गी समझती है जब आकाशतत्त्व को बतलाना कठिन हैं, फिर भला आकाश के ओत-प्रोत के स्थान को बतलाना कठिन होगा। अतः प्रश्न के उत्तर न आने पर याज्ञवल्क्य स्वयं ही निगृहीत हो जायेगा)॥७॥

उस याज्ञवल्क्य ने कहा— हे गार्गि! आकाश के ओत-प्रोत स्थानरूप उस इस तत्त्व को तो ब्रह्मवेत्ता पुरुष 'अक्षर' कहते हैं। वह अक्षर न स्थूल है, न सूक्ष्म है,

---

सर्वं यथोक्तं गार्ग्या प्रत्युच्चार्य तमेव पूर्वोक्तमर्थमवधारितवानाकाशे **एवेति** याज्ञवल्क्यः। गार्ग्याह—**कस्मिन्नु खल्वाकाशः ओतश्च प्रोतश्चेति**। आकाशमेव तावत्कालत्रयातीतत्वाद्दुर्वाच्यम्। ततोऽपि कष्टतरमक्षरं यस्मिन्नाकाशमोतं च प्रोतं चातोऽवाच्यमिति कृत्वा न प्रतिपद्यते साऽप्रतिपत्तिर्नाम निग्रहस्थानं तार्किकसमये। अथावाच्यमपि वक्ष्यति तथाऽपि विप्रतिपत्तिर्नाम निग्रहस्थानं विरुद्धा प्रतिपत्तिर्हि सा यदवाच्यस्य वदनमतो दुर्वचनं प्रश्नं मन्यते गार्गी॥७॥

तद्दोषद्वयमपि परिजिहीर्षन्नाह—**स होवाच एतद्वै तद्यत्पृष्टवत्यसि** कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्चेति। किं **तदक्षरं** यन्न क्षीयते न क्षरतीति वाऽक्षरं तदक्षरं हे **गार्गि ब्राह्मणा** ब्रह्मविदो**ऽभिवदन्ति**। ब्राह्मणाभिवदनकथनेन

ऽवाय्वनाकाशमसङ्गमरसमगन्धमचक्षुष्कमश्रोत्रमवाग-मनोऽतेजस्कमप्राणममुखममात्रमनन्तरमबाह्यं न तदश्नाति किंचन, न तदश्नाति कश्चन ॥८॥

न छोटा है, न बड़ा है, न लाल है, न जल का गुण द्रवरूप है, न छाया है, न अन्धेरा है, न वायु है, न आकाश है, न लाक्षादि के समान संगवाला है, न रस है, न गन्ध है, न नेत्रवाला है, न श्रोत्रवाला है, न मनवाला है, न तेजवाला है, न प्राणवाला है, न मुखवाला है, न मापवाला है, उसके न अन्दर है, न बाहर है, किंबहुना न वह स्वयं कुछ खाता है, न उसे कोई खाता है (तात्पर्य यह है कि न वह विशेषणरूप है और न विशेषणवाला है। वह तो समस्त विशेषणों से रहित, एक अद्वितीय तत्त्व है)॥८॥

नाहमवाच्यं वक्ष्यामि न च न प्रतिपद्येयमित्येवं दोषद्वयं परिहरति। एवमपाकृते प्रश्ने पुनर्गार्ग्याः प्रतिवचनं द्रष्टव्यं ब्रूहि किं तदक्षरं यद्ब्राह्मणा अभिवदन्तीत्युक्त आह— **अस्थूलं** तत्स्थूलादन्यत् एवं तर्ह्यणु **अनणु**। अस्तु तर्हि ह्रस्वम**ह्रस्वम्**। एवं तर्हि दीर्घं नापि दीर्घम**दीर्घम्**। एवमेतैश्चतुर्भिः परिमाणप्रतिषेधैर्द्रव्यधर्मः प्रतिषिद्धो न द्रव्यं तदक्षरमित्यर्थः। अस्तु तर्हि लोहितो गुणस्ततोऽप्यन्य**दलोहितम्**। आग्नेयो गुणो लोहितः। भवतु तर्ह्यपां स्नेहनं **नास्नेहम्।** अस्तु तर्हि छाया सर्वथाऽप्यनिर्देश्यत्वाच्छायाया अप्यन्य**दच्छायम्**। अस्तु तर्हि तमो**ऽतमः**। भवतु वायुस्तर्ह्य**वायुः**। भवेत्तर्ह्याकाशम**नाकाशम्**। भवतु तर्हि सङ्गात्मकं जतुव**दसङ्गम्**। रसोऽस्तु तर्ह्य**रसम्**। तथा गन्धोऽस्त्व**गन्धम्**। अस्तु तर्हि चक्षु**रचक्षुष्कं** न हि चक्षुरस्य करणं विद्यतेऽतोऽचक्षुष्कम्। "पश्यत्यचक्षुः" इति मन्त्रवर्णात्। तथा**ऽश्रोत्रं** "स शृणोत्यकर्णः"इति। भवतु तर्हि वाग**वाक्**। तथा**ऽमनः।** तथा**ऽतेजस्कम**विद्यमानं तेजोऽस्य त**दतेजस्कम्**। न हि तेजोऽग्न्यादित्यादि प्रकाशवदस्य विद्यते। **अप्राण**माध्यात्मिको वायुः प्रतिषिध्यते**ऽप्राण**मिति। मुखं तर्हि द्वारं त**दमुखम्**। **अमात्रं** मीयते येन तन्मात्रम**मात्रं** मात्रारूपं तन्न भवति न तेन किंचिन्मीयते। अस्तु तर्हि च्छिद्रव**दनन्तरं** नास्यान्तरमस्ति। सम्भवेत्तर्हि बहिस्तस्य**बाह्यम्**। अस्तु तर्हि भक्षयितृ, तन्न **तदश्नाति किंचन**। भवेत्तर्हि भक्ष्यं कस्यचिन्न **तदश्नाति कश्चन।** सर्वविशेषणरहितमित्यर्थः। एकमेवाद्वितीयं हि तत्केन किं विशिष्यते॥८॥

एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः, एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठतः, एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि निमेषा मुहूर्ता अहोरात्राण्यर्धमासा मासा ऋतवः संवत्सरा इति विधृतास्तिष्ठन्त्येतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि प्राच्योऽन्या नद्यः स्यन्दन्ते श्वेतेभ्यः पर्वतेभ्यः प्रतीच्योऽन्या यां यां च दिशमन्वेतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ददतो मनुष्याः प्रशꣳसन्ति यजमानं देवा दर्वीं पितरोऽन्वायत्ताः ॥९ ॥

हे गार्गि! इसी अक्षर के प्रशासन में सूर्य-चन्द्र विशेषरूप से धारण किये हुए स्थिर हैं। हे गार्गि! इस अक्षर के ही प्रशासन में निमेष, मुहूर्त, दिन, रात, पक्ष, मास, ऋतु और संवत्सर विशेषरूप से धारण किये हुए नियन्त्रित होकर स्थित हैं। हे गार्गि! इस अक्षर के ही प्रशासन में पूर्व दिशा की ओर बहने वाली नदियाँ एवं अन्य नदियाँ श्वेत (हिमालय) पर्वतों से बहती हैं। तथा पश्चिम की ओर बहने वाली नदियाँ जिस-जिस दिशा की ओर अनुप्रवत्त कर दी गयी हैं, उस दिशा का अनुसरण आज भी करती रहती हैं। हे गार्गि! इस अक्षर के प्रशासन में सुवर्णादि दान लेने वाले प्रमाणज्ञ मनुष्य दाता की प्रशंसा करते हैं तथा देवगण यजमान का और पितृगण दर्वी होम का अनुवर्तन करते हैं (उक्त सभी लिङ्गों से उस अक्षरतत्त्व का अनुमान किया जाता है)॥९ ॥

अनेकविशेषणप्रतिषेधप्रयासादस्तित्वं तावदक्षरस्योपगमितं श्रुत्या, तथाऽपि लोकबुद्धिमपेक्ष्याऽऽशङ्क्यते यतोऽतोऽस्तित्वायानुमानं प्रमाणमुपन्यस्यति—**एतस्य वा अक्षरस्य**। यदेतदधिगतमक्षरं सर्वान्तरं साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्माऽशनायादिधर्मातीत **एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने**। यथा राज्ञः प्रशासने राज्यमस्फुटितं नियतं वर्तत एवमेतस्याक्षरस्य प्रशासने हे **गार्गि! सूर्याचन्द्रमसौ** सूर्यश्च चन्द्रमाश्च सूर्याचन्द्रमसावहोरात्रयोर्लोकप्रदीपौ तादर्थ्येन प्रशासित्रा ताभ्यां

निर्वर्त्यमानलोकप्रयोजनविज्ञानवता निर्मितौ **विधृतौ** च स्यातां साधारणसर्व-प्राणिप्रकाशोपकारकत्वाल्लौकिकप्रदीपवत्। तस्मादस्ति तद्येन **विधृता**वीश्वरौ स्वतन्त्रौ सन्तौ निर्मितौ **तिष्ठतो** नियतदेशकालनिमित्तोदयास्तमयवृद्धिक्षयाभ्यां च वर्तेते तदस्त्येवमेतयोः प्रशासित्रक्षरं प्रदीपकर्तृविधारयितृवत्।

एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिव्यौ द्यौश्च **पृथिवी** च सावयवत्वात्स्फुटनस्वभावे अपि सत्यौ गुरुत्वात्पतनस्वभावे संयुक्त-त्वाद्वियोगस्वभावे चेतनावदभिमानिदेवताधिष्ठितत्वात्स्वतन्त्रे अप्येतस्याक्षरस्य प्रशासने वर्तेते **विधृते तिष्ठतः**।

एतद्ध्यक्षरं सर्वव्यवस्थासेतुः सर्वमर्यादाविधरणमतो नास्याक्षरस्य प्रशासनं द्यावापृथिव्यावतिक्रामतस्तस्मात्सिद्धमस्यास्तित्वमक्षरस्य। अव्यभिचारि हि तल्लिङ्गं यद्द्यावापृथिव्यौ नियते वर्तेते। चेतनावन्तं प्रशासितारमसंसारिणमन्तरेण नैत्तद्युक्तम्। ''येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा'' इति मन्त्रवर्णात्।

एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि निमेषा मुहूर्ता इत्येते कालावयवाः सर्वस्यातीतानागतवर्तमानस्य जनिमतः कलयितारः। यथा लोके प्रभुणा नियतो गणकः सर्वमायं व्ययं चाप्रमत्तो गणयति, तथा प्रभुस्थानीय एषां कालावयवानां नियन्ता।

तथा **प्राच्यः** प्रागञ्चनाः पूर्वदिग्गमना **नद्यः स्यन्दन्ते** स्रवन्ति **श्वेते-भ्यो** हिमवदादिभ्यः **पर्वतेभ्यो** गिरिभ्यो गङ्गाद्या नद्यास्ताश्च यथा प्रवर्तिता एव नियताः प्रवर्तन्तेऽन्यथाऽपि प्रवर्तितुमुत्सहन्त्यस्तदेतल्लिङ्गं प्रशास्तुः। **प्रतीच्योऽन्याः** प्रतीचीं दिशमञ्चन्ति सिन्ध्वाद्या नद्यः। अन्याश्च **यां यां दिशमनु**प्रवृत्तास्तां तां न व्यभिचरन्ति, तच्च लिङ्गम्।

किंच **ददतो** हिरण्यादीन्प्रयच्छत आत्मपीडां कुर्वतोऽपि प्रमाणज्ञा अपि **मनुष्याः प्रशंसन्ति**। तत्र यच्च दीयते ये च ददति ये च प्रतिगृह्णन्ति तेषामिहैव समागमो विलयश्चान्वक्षो दृश्यते। अदृष्टस्तु परः समागमः। तथाऽपि मनुष्या ददतां दानफलेन संयोगं पश्यन्तः प्रमाणज्ञतया प्रशंसन्ति। तच्च कर्मफलेन संयोजयितरि

यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्मिँल्लोके जुहोति यजते तपस्तप्यते बहूनि वर्षसहस्राण्यन्तवदेवास्य

हे गार्गि! इस लोक में जो कोई इस अक्षर को जाने बिना हवन करता है, यज्ञ करता है और अनेक सहस्र वर्ष पर्यन्त तप भी करता है, उसका वह सभी कर्म नाशवान

कर्तुः कर्मफलविभागज्ञे प्रशास्तर्यसति न स्यात्। दानक्रियायाः प्रत्यक्षविनाशित्वात्। तस्मादस्ति दानकर्तॄणां फलेन संयोजयिता।

अपूर्वमिति चेन्न। तत्सद्भावे प्रमाणानुपपत्तेः। प्रशास्तुरपीति चेन्न। आगमतात्पर्यसिद्धत्वात्। अवोचाम ह्यागमस्य वस्तुपरत्वम्। किंचान्यदपूर्वकल्पनायां चार्थापत्तेः क्षयोऽन्यथैवोपपत्तेः। सेवाफलस्य सेव्यात्प्राप्तिदर्शनात्।

सेवायाश्च क्रियात्वात्तत्सामान्याच्च यागदानहोमादीनां सेव्यादीश्वरादेः फलप्राप्तिरुपपद्यते। दृष्टक्रियाधर्मसामर्थ्यमपरित्यज्यैव फलप्राप्तिकल्पनोपपत्तौ दृष्टक्रियाधर्मसामर्थ्यपरित्यागो न न्याय्यः। कल्पनाधिक्याच्च। ईश्वरः कल्प्योऽपूर्वं वा। तत्र क्रियायाश्च स्वभावः सेव्यात्फलप्राप्तिर्दृष्टा न त्वपूर्वान्न चापूर्वं दृष्टम्। तत्रापूर्वमदृष्टं कल्पयितव्यं तस्य च फलदातृत्वे सामर्थ्यं सामर्थ्ये च सति दानं चाभ्यधिकमिति इह त्वीश्वरस्य सेव्यस्य सद्भावमात्रं कल्प्यं, नतु फलदानसामर्थ्यं दातृत्वं च। सेव्यात्फलप्राप्तिदर्शनात्। अनुमानं च दर्शितं द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठत इत्यादि।

तथा च **यजमानं देवा** ईश्वराः सन्तो जीवनार्थेऽनुगताश्चरुपुरोडाशाद्युपजीवनप्रयोजनेनान्यथाऽपि जीवितुमुत्सहन्तः कृपणां हीनां वृत्तिमाश्रित्य स्थितास्तच्च प्रशास्तुः प्रशसनात्स्यात्। तथा **पितरोऽ**पि तदर्थं **दर्वीं** दर्वीहोमम**न्वायत्ता** अनुगता इत्यर्थः। समानं सर्वमन्यत्॥९॥

इतश्चास्ति तदक्षरं यस्मात्तदज्ञाने नियता संसारोपपत्तिर्भवितव्यं तु तेन, यद्विज्ञानात्तद्विच्छेदो न्यायोपपत्तेः। ननु क्रियात एव तद्विच्छित्तिः स्यादिति चेन्न। **यो वा एतदक्षरं** हे **गार्ग्यविदित्वा**ऽविज्ञाया**स्मिल्लोके जुहोति यजते तपस्तप्यते** यद्यपि **बहूनि वर्षसहस्राण्यन्तवदेवास्य** तत्फलं **भवति**,

**तद्भवति यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्माल्लो-
कात्प्रैति स कृपणोऽथ य एतदक्षरं गार्गि विदित्वा-
ऽस्माल्लोकात्प्रैति स ब्राह्मणः ॥१०॥**

**तद्वा एतदक्षरं गार्ग्यदृष्टं द्रष्टृश्रुतꣳ श्रोत्रमतं मन्त्र-
विज्ञातं विज्ञातृ नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ नान्यदतोऽस्ति**

ही होता है, क्योंकि भोग के पीछे उसका नाश होना अनिवार्य है। अतः जो कोई भी उस अक्षर को जाने बिना ही इस लोक से मर कर प्रयाण करता है; वह दीन और कृपण है। अर्थात् वह मर कर पुनः संसारबन्धन को प्राप्त हो जाता है। वह देवादिलोक में जाने पर भी पैसे से खरीदे हुए दास के समान ही रहता है। पर हे गार्गि! जो इस अक्षर को जानकर इस लोक से मरकर जाता है, वह संसारबन्धन से मुक्त हुआ पुरुष ब्राह्मण है ॥१०॥

हे गार्गि! यह अक्षर किसी की दृष्टि का विषय नहीं होता, किन्तु स्वयं दृष्टिस्वरूप होने के कारण द्रष्टा है। वैसे ही श्रोत्र का विषय नहीं है, किन्तु स्वयं श्रुतिरूप होने से श्रोता है।

तत्फलोपभोगान्ते क्षीयन्त एवास्य कर्माणि। अपि च यद्विज्ञानात्कार्पण्यात्ययः संसार-विच्छेदो यद्विज्ञानाभावाच्च कर्मकृत्कृपणः कृतफलस्यैवोपभोक्ता जननमरणप्रबन्धा-रूढः संसरति। तदस्त्यक्षरं प्रशासितृ, तदेतदुच्यते— **यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्माल्लोकात्प्रैति स कृपणः** पणक्रीत इव दासादिः। **अथ य एतदक्षरं गार्गि विदित्वाऽस्माल्लोकात्प्रैति स ब्राह्मणः** ॥१०॥

अग्नेर्दहनप्रकाशकत्ववत्स्वाभाविकमस्य प्रशास्तृत्वमचेतनस्यैवेत्यत आह—

तद्वा एतदक्षरं गार्ग्यदृष्टं न केनचिद्दृष्टमविषयत्वात्स्वयं तु **द्रष्टृ** दृष्टिस्वरूपत्वात्। तथा**ऽश्रुतं** श्रोत्राविषयत्वात्स्वयं **श्रोतृ** श्रुतिस्वरूपत्वात्। तथा**ऽमतं** मनसोऽविषयत्वात्। स्वयं **मन्तृ** मतिस्वरूपत्वात्। तथा**ऽविज्ञातं** बुद्धेरविषयत्वात्स्वयं **विज्ञातृ** विज्ञानस्वरूपत्वात्। किं च **नान्यदतो**ऽस्मादक्षरा**दस्ति** नास्ति किंचिद्**द्रष्टृ** दर्शनक्रियाकर्तृ। एतदेवाक्षरं दर्शनक्रियाकर्तृ सर्वत्र।

श्रोतृ नान्यदतोऽस्ति मन्तृ नान्यदतोऽस्ति विज्ञात्रे-तस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्चेति॥११॥

सा होवाच ब्राह्मण भगवन्तस्तदेव बहु मन्येध्वं यदस्मान्नमस्कारेण मुच्येध्वं न वै जातु युष्माकमिमं

मनन का विषय नहीं, किन्तु मतिरूप होने से मन्ता है। बुद्धि का अविषय होने से स्वयं अविज्ञाता होता हुआ भी विज्ञातस्वरूप होने से दूसरों का विज्ञाता है। इससे भिन्न कोई द्रष्टा नहीं, इससे भिन्न कोई श्रोता नहीं, इससे भिन्न कोई मननकर्ता नहीं और न इससे भिन्न कोई विज्ञाता ही है। अतः हे गार्गि! निःसन्देह इस अक्षर में ही आकाश ओत-प्रोत है॥११॥

उस गार्गी ने कहा— हे पूजनीय ब्राह्मणो! आप लोग इसी को बहुत समझो, जो इनसे नमस्कार के द्वारा छुटकारा पा जाओ। आप में से कोई भी इन याज्ञवल्क्य को ब्रह्मवाद में जीत नहीं सकता, (क्योंकि पहले ही मैंने ऐसी प्रतिज्ञा की थी। आज भी मेरा यही निश्चय है कि

तथा **नान्यदतोऽस्ति श्रोतृ**। तदेवाक्षरं श्रोतृ सर्वत्र। **नान्यदतोऽस्ति मन्तृ** तदेवाक्षरं मन्तृ सर्वत्र सर्वमनोद्वारेण। **नान्यदतोऽस्ति विज्ञातृ** विज्ञान-क्रियाकर्तृ तदेवाक्षरं सर्वबुद्धिद्वारेण विज्ञानक्रियाकर्तृ नाचेतनं प्रधानमन्यद्वा। **एतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्चेति**। यदेव साक्षाद-परोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरोऽशनायादिसंसारधर्मातीतो यस्मिन्नाकाशः ओतश्च प्रोतश्चैषा परा काष्ठैषा परा गतिरेतत्परं ब्रह्मैतत्पृथिव्यादेराकाशान्तस्य सत्यस्य सत्यम्॥११॥

सा होवाच हे **ब्राह्मणा भगवन्तः!** शृणुत मदीयं वच**स्तदेव बहु मन्येध्वं** मन्यध्वम्। किं **तद्यदस्माद्याज्ञवल्क्यान्नमस्कारेण मुच्येध्वं** मुच्य-ध्वमस्मै नमस्कारं कृत्वा तदेव बहु मन्यध्वमित्यर्थः। जयस्त्वस्य मनसाऽपि नाऽऽशं-सनीयः किमुत कार्यतः। कस्मान्न **वै युष्माकं** मध्ये **जातु** कदाचिदपी**मं** याज्ञ-वल्क्यं **ब्रह्मोद्यं** प्रति **जेता**। प्रश्नौ चेन्मह्यं वक्ष्यति न वै जेता भवितेति पूर्वमेव मया प्रतिज्ञातमद्यापि ममायमेव निश्चयो ब्रह्मोद्यं प्रत्येतत्तुल्यो न कश्चिद्विद्यत **इति**।

निर्गुणनिराकारब्रह्म = पुरुष, अक्षर, तुरीय.
माया = अव्याकृत, कूटस्थ.
ईश्वर = अंतर्यामि, सगुणब्रह्म, सुषुप्ति.
सूत्रात्मा = हिरण्यगर्भ, स्वप्न.
विराट् = जाग्रद्.

best.

कश्चिद्ब्रह्मोद्यं जेतेति ततो ह वाचक्नव्युपरराम॥१२॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि तृतीयाध्यायस्याक्षरनामाष्टमं ब्राह्मणम्॥८॥

ब्रह्मवाद में याज्ञवल्क्य के समान दूसरा कोई नहीं है) इसके बाद वचक्नु की पुत्री गार्गी चुप हो गयी॥१२॥

॥ इत्यष्टमं ब्राह्मणम्॥

ततो ह वाचक्नव्युपरराम।

अत्रान्तर्यामिब्राह्मण एतदुक्तम्। यं पृथिवी न वेद यं सर्वाणि भूतानि न विदुरिति च। यमन्तर्यामिणं न विदुर्ये च न विदुर्यच्च तदक्षरं दर्शनादिक्रियाकर्तृत्वेन सर्वेषां चेतनाधातुरित्युक्तम्। कस्त्वेषां विशेषः किं वा सामान्यमिति।

तत्र केचिदाचक्षते। परस्य महासमुद्रस्थानीयस्य ब्रह्मणोऽक्षरस्याप्रचलितस्वरूपस्येषत्प्रचलितावस्थाऽन्तर्यामी। अत्यन्तप्रचलितावस्था क्षेत्रज्ञो यस्तं न वेदान्तर्यामिणम्। तथाऽन्याः पञ्चावस्थाः परिकल्पयन्ति। तथाऽष्टावस्था ब्रह्मणो भवन्तीति वदन्ति। अन्येऽक्षरस्य शक्तय एता इति वदन्त्यनन्तशक्तिमदक्षरमिति च। अन्ये त्वक्षरस्य विकारा इति वदन्ति।

अवस्थाशक्तित्वे तावन्नोपपद्येते। अक्षरस्याशनायादिसंसारधर्मातीतत्वश्रुतेः। न ह्यशनायाद्यतीतत्वमशनायादिधर्मवदवस्थावत्त्वं चैकस्य युगपदुपपद्यते। तथा शक्तिमत्त्वं च। विकारावयवत्वे च दोषाः प्रदर्शिताश्चतुर्थे। तस्मादेता असत्याः सर्वाः कल्पनाः।

कस्तर्हि भेद एषाम्। उपाधिकृत इति ब्रूमो न स्वत एषां भेदोऽभेदो वा सैन्धवघनवत्प्रज्ञानघनैकरसस्वाभाव्यात्। "अपूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्" "अयमात्मा ब्रह्म" इति च श्रुतेः। "सबह्याभ्यन्तरो ह्यजः" इति चाऽऽथर्वणे। तस्मान्निरुपाधिकस्याऽऽत्मनो निरुपाख्यात्वान्निर्विशेषत्वादेकत्वाच्च नेति नेतीति व्यपदेशो भवति। अविद्याकामकर्मविशिष्टकार्यकरणोपाधिरात्मा संसारी जीव उच्यते। नित्यनिरतिशयज्ञानशक्त्युपाधिरात्माऽन्तर्यामीश्वर उच्यते।

। अथ तृतीयाध्यायस्य शाकल्यनामनवमं ब्राह्मणम्।

अथ हैनं विदग्धः शाकल्यः पप्रच्छ कति देवा याज्ञवल्क्येति स हैतयैव निविदा प्रतिपेदे यावन्तो वैश्वदेवस्य निविद्युच्यन्ते त्रयश्च त्री च शता, त्रयश्च त्री च सहस्रेत्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति त्रयस्त्रिꣳशदित्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति षडित्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञ-

इसके बाद इस याज्ञवल्क्य से शकल के पुत्र विदग्ध ने पूछा— हे याज्ञवल्क्य! देवता कितने हैं? इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा— इस (आगे बतलायी जाने वाली निविद) देव संख्या सम्बन्धी मन्त्र पद से ही उन देवताओं की संख्या निविद में बतलायी गयी है। वे सभी तीन और तीन एवं तीन सौ और तीन हजार हैं, अर्थात् तीन हजार तीन सौ छः। तब शाकल्य ने कहा— ठीक है। उसन फिर पूछा— हे याज्ञवल्क्य! देवता कितने हैं? याज्ञवल्क्य ने कहा— तैंतीस। (देवताओं के संकोचविषयक देवसंख्या को सुनकर शाकल्य

स एव निरुपाधिः केवलः शुद्धः स्वेन स्वभावेनाक्षरं पर उच्यते। तथा हिरण्यगर्भ-व्याकृतदेवता जातिपिण्डमनुष्यतिर्यक्प्रेतादिकार्यकरणोपाधिभिर्विशिष्टस्तदाख्यस्तद्रूपो भवति। तथा तदेजति तन्नैजतीति व्याख्यातम्। तथा ''एष त आत्मा'' ''एष सर्वभूतान्तरात्मा'' ''एष सर्वेषु भूतेषु गूढः'' ''तत्त्वमसि'' ''अहमेवेदं सर्वम्'' ''आत्मैवेदं सर्वम्'' ''नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा'' इत्यादिश्रुतयो न विरुध्यन्ते। कल्पनान्तरेष्वेताः श्रुतयो न गच्छन्ति। तस्मादुपाधिभेदेनैवैषां भेदो, नान्यथैकमेवाद्वितीयमित्यवधारणात्सर्वोपनिषत्सु॥१२॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये तृतीयाध्यायस्याक्षरनामाष्टमं ब्राह्मणम्॥८॥

॥इति चतुर्दशाह्निकम्॥१४॥

❀❀❀

अथ हैनं विदग्धः शाकल्यः पप्रच्छ। पृथिव्यादीनां सूक्ष्मतारतम्य-

वल्क्येति त्रय इत्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति द्वावित्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञवल्क्येत्यध्यर्ध इत्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञवल्क्येत्येक इत्योमिति होवाच कतमे ते त्रयश्च त्री च शता त्रयश्च त्री च सहस्रेति॥१॥

ने कहा—) ठीक है और फिर पूछा— याज्ञवल्क्य! कितने देव हैं? याज्ञवल्क्य ने कहा— छः। शाकल्य ने 'ठीक है' ऐसा कहकर पुनः प्रश्न किया, हे याज्ञवल्क्य! कितने देव हैं? याज्ञवल्क्य ने कहा— तीन। शाकल्य ने कहा— 'ठीक है' और ऐसा कहकर फिर पूछा— हे याज्ञवल्क्य! कितने देव हैं? याज्ञवल्क्य ने कहा— दो। शाकल्य ने 'ठीक है' ऐसा कहकर पुनः पूछा— हे याज्ञवल्क्य! कितने देव हैं? याज्ञवल्क्य ने कहा— डेढ़। शाकल्य ने 'ठीक है' ऐसा कहकर पुनः पूछा— हे याज्ञवल्क्य! कितने देव हैं? याज्ञवल्क्य ने कहा— एक। शाकल्य ने ''ठीक है'' ऐसा कहकर संख्येय के विषय में पूछा— वे तीन हजार तीन सौ छः देव कौन से हैं?॥१॥

क्रमेण पूर्वस्य पूर्वस्योत्तरस्मिन्नुत्तरस्मिन्नोतप्रोतभावं कथयन्सर्वान्तरं ब्रह्म प्रकाशितवान्। तस्य च ब्रह्मणो व्याकृतविषये सूत्रभेदेषु नियन्तृत्वमुक्तम्। व्याकृतविषये व्यक्ततरं लिङ्गमिति। तस्यैव ब्रह्मणः साक्षादपरोक्षत्वे नियन्तव्यदेवताभेदसंकोचविकासद्वारेणाधिगन्तव्ये इति तदर्थं शाकल्यब्राह्मणमारभ्यते।

अथ हैनं विदग्ध इति नामतः शकलस्यापत्यं **शाकल्यः पप्रच्छ कतिसंख्याका देवा** हे **याज्ञवल्क्येति**। **स** याज्ञवल्क्यो **ह** किलै**तयैव** वक्ष्यमाणया **निविदा प्रतिपेदे** संख्यां, यां संख्यां पृष्टवाञ्शाकल्यो **यावन्तो** यावत्संख्याका देवा **वैश्वदेवस्य** शस्त्रस्य **निविदि**। निविन्नाम देवतासंख्यावाचकानि मन्त्रपदानि कानिचिद्वैश्वदेवे शस्त्रे शस्यन्ते, तानि निवित्संज्ञकानि। तस्यां निविदि यावन्तो देवाः श्रूयन्ते, तावन्तो देवा इति। का पुनः सा निविदिति। तानि निवित्पदानि प्रदर्श्यन्ते— **त्रयश्च त्री च शता** त्रयश्च देवा देवानां त्री च त्रीणि च शतानि पुनरप्येवं **त्रयश्च त्री च सहस्रा** सहस्राण्येतावन्तो देवा इति। शाकल्योऽप्यो**मिति होवाच**। एवमेषां मध्यमा संख्या सम्यक्तया ज्ञाता। पुनस्तेषामेव देवानां संकोचविषयां संख्यां

स होवाच महिमान एवैषामेते त्रयस्त्रिꣳशत्त्वेव देवा इति कतमे ते त्रयस्त्रिꣳशदित्यष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशाऽऽदित्यास्त एकत्रिꣳ शदिन्द्रश्चैव प्रजापतिश्च त्रयस्त्रिꣳशाविति ॥२ ॥

कतमे वसव इत्यग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं चाऽऽदित्यश्च द्यौश्च चन्द्रमाश्च नक्षत्राणि चैते वसव एतेषु हीदं वसु सर्वꣳ हितमिति तस्माद्वसव इति ॥३ ॥

इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा— (३६०६) इतनी संख्या तो इनकी महिमाएँ हैं, वस्तुतः देवगण तो तैंतीस ही हैं। शाकल्य ने कहा— वे तैंतीस देव कौन से हैं? याज्ञवल्क्य ने कहा— आठ वसु, एकादश रुद्र और द्वादश आदित्य, ये एकतीस देवगण हैं तथा इन्द्र एवं प्रजापति इनके सहित तैंतीस हो जाते हैं ॥२ ॥

शाकल्य ने पूछा— अष्ट वसु कौन हैं? याज्ञवल्क्य ने कहा— अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्युलोक, चन्द्रमा तथा नक्षत्र ये आठ वसु हैं (क्योंकि प्राणियों के कर्मफल के आश्रय बनकर देहादिसंघातरूप से परिणत होकर सम्पूर्ण जगत् को बसा रहे हैं और स्वयं भी बनते हैं)। इन्हीं में यह सब जगत् निहित है, इसीलिये ये वसु हैं ॥३ ॥

पृच्छति। **कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति त्रयस्त्रिंशत्षट्त्रयो द्वावध्यर्ध एक इति।** देवतासंकोचविकासविषयां संख्यां पृष्ट्वा पुनः संख्येयस्वरूपं पृच्छति—**कतमे ते त्रयश्च त्री च शता त्रयश्च त्री च सहस्रेति** ॥१ ॥

स होवाचेतरो महिमानो विभूतय **एषां** त्रयस्त्रिंशतां देवानामेते त्रयश्च त्री च शतेत्यादयः। परमार्थतस्तु **त्रयस्त्रिंशत्त्वेव देवा इति। कतमे ते त्रयस्त्रिंशदित्युच्यते। अष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशाऽऽदित्यास्त एकत्रिंशदिन्द्रश्चैव प्रजापतिश्च** त्रयस्त्रिंशतां पूरणौ ॥२ ॥

कतमे वसव इति तेषां स्वरूपं प्रत्येकं पृच्छ्यते। **अग्निश्च पृथिवी**

कतमे रुद्रा इति दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशस्ते यदाऽस्माच्छरीरान्मर्त्यादुत्क्रामन्त्यथ रोदयन्ति तद्यद्रोदयन्ति तस्माद्रुद्रा इति॥४॥

कतम आदित्या इति द्वादश वै मासाः संवत्सरस्यैत आदित्या एते हीदꣳ सर्वमाददाना यन्ति ते यदिदꣳ सर्वमाददाना यन्ति तस्मादादित्या इति॥५॥

शाकल्य ने कहा— रुद्र कौन है? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया— इस पुरुष में कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ ये दस प्राण और ग्यारहवाँ मन है। जिस समय प्राणियों के प्रारब्धकर्म समाप्त हो जाते हैं, उस समय यही एकादश रुद्र मरणशील शरीर से उत्क्रमण करते हैं, तब ये उसके संबन्धियों को रुलाते हैं। इसलिए उत्क्रमणकाल में अपने संबन्धियों को रुलाते हैं। इसी रोदन के निमित्त होने से ये रुद्र कहे जाते हैं॥४॥

शाकल्य ने कहा— आदित्य कौन हैं? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया— जो बारह मास संवत्सररूप काल के अवयव प्रसिद्ध हैं, यही आदित्य हैं। क्योंकि पुनः पुनः बदलते हुए इन सब प्राणियों की आयु एवं कर्मफल का ग्रहण करते हुए चलते हैं, इसीलिये ये आदित्य कहे जाते हैं॥५॥

चैत्यग्न्याद्या नक्षत्रान्ता **एते वसवः**। प्राणिनां कर्मफलाश्रयत्वेन कार्यकरणसंघातरूपेण तन्निवासत्वेन च विपरिणमन्तो जगदिदं सर्वं वासयन्ति वसन्ति च। ते यस्माद्वासयन्ति **तस्माद्वसव इति**॥३॥

कतमे रुद्रा इति दशेमे पुरुषे कर्मबुद्धीन्द्रियाणि **प्राणा, आत्मा** मन **एकादश** एकादशानां पूरणस्त एते प्राणा **यदाऽस्माच्छरीरान्मर्त्या**त्प्राणिनां कर्मफलोपभोगक्षय **उत्क्रामन्ति अथ** तदा **रोदयन्ति** तत्संबन्धिनः। **तत्त**त्र **यस्माद्रोदयन्ति** ते तत्संबन्धिनस्त**स्माद्रुद्रा** इति॥४॥

कतमे आदित्या इति, द्वादश वै मासाः संवत्सरस्य कालस्यावयवाः प्रसिद्धा **एत आदित्याः**। कथम्? **एते हि** यस्मात्पुनः परिवर्तमानाः

कतम इन्द्रः कतमः प्रजापतिरिति स्तनयित्नुरेवेन्द्रो यज्ञः प्रजापतिरिति कतमः स्तनयित्नुरित्यशनिरिति कतमो यज्ञ इति पशव इति॥६॥

कतमे षडित्यग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं चाऽऽदित्यश्च द्यौश्चैते षडेते हीदꣳ सर्वꣳ षडिति॥७॥

शाकल्य ने कहा— इन्द्र कौन है और प्रजापति कौन है? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया— विद्युत् ही इन्द्र है और यज्ञ ही प्रजापति है। शाकल्य ने पूछा— विद्युत् कौन है? ''अशनि'' जो प्राणियों की हिंसा करता है (यह इन्द्र का ही क्रूर कर्म है)। शाकल्य ने पूछा— यज्ञ कौन है? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया— यज्ञ के साधन होने से पशुगण यज्ञ है (क्योंकि यज्ञ का स्वयं अपना रूप नहीं है)॥६॥

शाकल्य ने पूछा— छः देवगण कौन से हैं? याज्ञवल्क्य ने कहा— अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य तथा द्युलोक बस यही छः देवगण हैं (पहले बतलाए गये वसुओं में से चन्द्रमा और नक्षत्र को छोड़ देने पर शेष देवता षट्संख्याविशिष्ट होते हैं), क्योंकि ये वसु आदि तैंतीस देवताओं के रूप में अग्नि आदि छः देवगण ही हैं। इन्हीं छः के विस्तार अन्य सभी देव हैं॥७॥

प्राणिनामायूंषि कर्मफलं चा**ऽऽददाना** गृह्णन्त उपाददतो **यन्ति** गच्छन्ति **ते यद्यस्मादेवमिदं सर्वमाददाना यन्ति तस्मादादित्या इति**॥५॥

कतम इन्द्रः प्रजापतिरिति स्तनयित्नुरेवेन्द्रो यज्ञः प्रजापतिरिति कतमः स्तनयित्नुरित्यशनिरिति। अशनिर्वज्रं वीर्यं बलं यत्प्राणिनः प्रमापयति स इन्द्रः। इन्द्रस्य हि तत्कर्म। **कतमो यज्ञ इति पशव इति।** यज्ञस्य हि साधनानि पशवः। यज्ञस्यारूपत्वात्पशुसाधनाश्रयत्वाच्च पशवो यज्ञ इत्युच्यते॥६॥

कतमे षडिति। त एवाग्न्यादयो वसुत्वेन पठिताश्चन्द्रमसं नक्षत्राणि च वर्जयित्वा षड्भवन्ति षट्संख्याविशिष्टाः। **एते हि** यस्मात्त्रयस्त्रिंशदादि यदुक्त**मिदं**

(देवगण की तीन, दो या डेढ़ संख्याओं का तात्पर्य)

कतमे ते त्रयो देवा इतीम एव त्रयो लोका एषु हीमे सर्वे देवा इति कतमौ तौ द्वौ देवावित्यन्नं चैव प्राणश्चेति कतमोऽध्यर्ध इति योऽयं पवत इति॥८॥

(डेढ़ और एक देव का विवरण)

तदाहुर्यदयमेक इवैव पवतेऽथ कथमध्यर्ध इति यदस्मिन्निदꣳ सर्वमध्यार्ध्नोत्तेनाध्यर्ध इति कतम एको देव

all attain surpassing glory

शाकल्य ने पूछा— वे तीन देव कौन हैं? याज्ञवल्क्य ने कहा— ये तीन लोक ही तीन देव हैं अर्थात् पृथिवी और अग्नि मिलाकर एक देव, अन्तरिक्ष और वायु मिलाकर दूसरे देव, एवं द्युलोक और आदित्य मिलाकर तीसरे देव हैं। इन्हीं में ये सब देवगण अन्तर्भूत हैं। शाकल्य ने पूछा— वे दो देव कौन हैं? याज्ञवल्क्य ने कहा— अन्न और प्राण (इन्हीं में पूर्वोक्त सभी देवताओं का अन्तर्भाव हो जाता है)। शाकल्य ने पूछा— डेढ़ देव कौन हैं? याज्ञवल्क्य ने कहा— जो यह बहता है, वह वायु ही डेढ़ देव है॥८॥

इस विषय में ऐसा कहते हैं, यह जो वायु है, यह एक ही-सा बहता है, फिर यह अध्यर्ध यानी डेढ़ कैसे कहा जाता है। इसका उत्तर यह है क्योंकि इसी में यह सब जगत् अधिऋद्धि को प्राप्त है, इसीलिये यह वायु अध्यर्ध है यानी डेढ़ है। शाकल्य

सर्वमेत एव षड् भवन्ति। सर्वो हि वस्वादिविस्तार एतेष्वेव षट्स्वन्तर्भवतीत्यर्थः॥७॥

कतमे ते त्रयो देवा इति। इम एव त्रयो लोका इति। पृथिवीमग्निं चैकीकृत्यैको देवोऽन्तरिक्षं वायुं चैकीकृत्यं द्वितीयो दिवमादित्यं चैकीकृत्य तृतीयस्त एव त्रयो देवा इति। **एषु हि** यस्मात्त्रिषु देवेषु **सर्वे देवा** अन्तर्भवन्ति, तेनैत एव देवास्त्रय इत्येष नैरुक्तानां केषांचित्पक्षः। **कतमौ** तौ **द्वौ देवाविति। अन्नं चैव प्राणश्चै**तौ द्वौ देवावनयोः सर्वेषामुक्तानामन्तर्भावः। **कतमोऽध्यर्ध इति। योऽयं पवते** वायुः॥८॥

तत्तत्राऽऽहुश्चोदयन्ति **यदयं** वायुरेकं **इवैवैक** एव **पवते**। **अथ**

हिरण्यगर्भः vital force

इति प्राण इति स ब्रह्म त्यदित्याचक्षते ॥९ ॥

(प्राण ब्रह्म का अष्टधा भेद)

पृथिव्येव यस्याऽऽयतनमग्निर्लोको मनोज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्याऽऽत्मनः परायणꣳ स वै वेदिता स्यात् याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषꣳ सर्वस्या-

ने कहा— एक देव कौन है? याज्ञवल्क्य ने कहा— "प्राण" है, वह प्राण ब्रह्मस्वरूप है। उस ब्रह्म को ही परोक्षवाचक "त्यत्" इस शब्द से भी कहते हैं॥९॥

शाकल्य ने पूछा— पृथिवी ही जिस देव का आश्रय है, अग्नि जिसका लोक (देखने का साधन) है और मन जिसकी ज्योति (संकल्प-विकल्प की साधन) है, जो भी उस पुरुष को सम्पूर्ण आध्यात्मिक कार्यकरणसंघात का परम आश्रय जानता है; वही पंडित है (हे याज्ञवल्क्य! तुम तो उसे जाने बिना ही पंडित होने का दम्भ कर रहे हो)। याज्ञवल्क्य ने कहा— जिसे तुम सम्पूर्ण आध्यात्मिक कार्यकरणसंघात का परम आश्रय कहते हो, उसे

कथमध्यर्ध इति। यदस्मिन्निदं सर्वमध्यार्ध्नोत्दस्मिन्वायौ सतीदं सर्वमध्यार्ध्नोदधि ऋद्धिं प्राप्नोति **तेनाध्यर्ध इति। कतम एको देव इति प्राण इति। स** प्राणो **ब्रह्म** सर्वदेवात्मकत्वान्महद्ब्रह्म तेन, स ब्रह्म **त्यदित्याचक्षते**। त्यदिति तद्ब्रह्माऽऽचक्षते परोक्षाभिधायकेन शब्देन। देवानामेतदेकत्वं नानात्वं च। अनन्तानां देवानां निवित्संख्याविशिष्टेष्वन्तर्भावः। तेषामपि त्रयस्त्रिंशदादिषूत्तरोत्तरेषु यावदेकस्मिन्प्राणे प्राणस्यैव चैकस्य सर्वोऽनन्त संख्यातो विस्तारः। एवमेकश्चानन्तश्चावान्तरसंख्याविशिष्टश्च प्राण एव। तत्र च देवस्यैकस्य नामरूपकर्मगुणशक्तिभेदोऽधिकारभेदात्॥९॥

इदानीं तस्यैव प्राणस्य ब्रह्मणः पुनरष्टधा भेद उपदिश्यते—

पृथिव्येव यस्य देवस्याऽऽ**यतन**माश्रयो**ऽग्निर्लोको** यस्य लोकयत्यनेनेति लोकः पश्यतीत्यग्निना पश्यतीत्यर्थः। **मनोज्योति**र्मनसा ज्योतिषा संकल्पविकल्पादिकार्यं करोति यः, सोऽयं मनोज्योतिः। पृथिवीशरीरोऽग्निदर्शनो

ऽऽत्मनः परायणं यमात्थ य एवायꣳ शारीरः पुरुषः स एष वदैव शाकल्य। तस्य का देवतेत्यमृतमिति होवाच॥१०॥

मैं जानता हूँ। यह जो भी शारीर पुरुष है; वहीं यह देव है। हे शाकल्य! इस संबन्ध में फिर से पूछो। शाकल्य ने कहा— उस शारीर पुरुष का देवता कौन है? याज्ञवल्क्य ने कहा—यह अमृत है (शुक्र-शोणित से निष्पन्न पार्थिव शरीर को "शारीर पुरुष" शब्द से कहा गया है, जो अन्न के रस से निष्पन्न होता है)॥१०॥

मनसा संकल्पयिता पृथिव्यभिमानी कार्यकरणसंघातवान्देव इत्यर्थः। **य** एवंविशिष्टं **वै तं पुरुषं विद्याद्वि**जानीयात्**सर्वस्याऽऽत्मन** आध्यात्मिकस्य कार्यकरण-संघातस्याऽऽत्मनः परमयनं पर आश्रयस्तं **परायणम्**। मातृजेन त्वङ्मांसरुधिररूपेण क्षेत्रस्थानीयेन बीजस्थानीयस्य पितृजस्यास्थिमज्जाशुक्ररूपस्य परमयनं करणात्मनश्च **स वै वेदिता स्याद्य** एतदेवं वेत्ति स वै वेदिता पण्डितः स्यादित्य-भिप्रायः। **याज्ञवल्क्य** त्वं तमजानन्नेव पण्डिताभिमानीत्यभिप्रायः।

यदि तद्विज्ञानेन पाण्डित्यं लभ्यते, **वेद वा अहं तं पुरुषं सर्वस्याऽऽत्मनः परायणं यमात्थ** यं कथयसि तमहं वेद, तत्र शाकल्यस्य वचनं द्रष्टव्यम्। यदि त्वं वेत्थ तं पुरुषं ब्रूहि किंविशेषणोऽसौ। शृणु यद्विशेषणः सः। **य एवायं शारीरः** पार्थिवांशे शरीरे भवः शारीरो मातृजकोशत्रयरूप इत्यर्थः। **स एष** देवो यस्त्वया पृष्टो हे शाकल्य! किंत्वस्ति तत्र वक्तव्यं विशेषणान्तरं **तद्वदैव** पृच्छैवेत्यर्थो हे **शाकल्य।** "स" एवं प्रक्षोभितोऽमर्षवशग आह— तोत्रार्दित इव गज**स्तस्य** देवस्य शारीरस्य **का देवता** यस्मान्निष्पद्यते यः स तस्य देवतेत्यस्मिन्प्रकरणे विवक्षितम्। **अमृतमिति होवाचा**मृतमिति यो भुक्त-स्यान्नस्य रसो मातृजस्य लोहितस्य निष्पत्तिहेतुस्तस्माद्ध्यन्नरसाल्लोहितं निष्पद्यते स्त्रियां श्रितं ततश्च लोहितमयं शरीरं बीजाश्रयम्। समानमन्यत्॥१०॥

काम एव यस्याऽऽयतनꣳ हृदयं लोको मनोज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्याऽऽत्मनः परायणꣳ स वै वेदिता स्यात् याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषꣳ सर्वस्याऽऽत्मनः परायणं यमात्थ य एवायं काममयः पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति स्त्रिय इति होवाच ॥११ ॥

रूपाण्येव यस्याऽऽयतनं चक्षुर्लोको मनोज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्याऽऽत्मनः परायणꣳ स वै वेदिता

शाकल्य ने पूछा— जिसका आश्रय दाम्पत्य सुखाभिलाषारूप काम ही है, हृदयस्थ बुद्धि लोक है और मन ज्योति है; उस पुरुष को जो भी कोई सम्पूर्ण आध्यात्मिक कार्यकरणसंघात का आश्रय जानता है; वही ज्ञाता है (हे याज्ञवल्क्य! तुम तो उसे जाने बिना ही पंडित होने का दावा करते हो)। याज्ञवल्क्य ने कहा— जिसे तुम सम्पूर्ण आध्यात्मिक कार्यकरणसंघात का परम आश्रय कहते हो, उसे मैं जानता हूँ। जो भी यह काममय पुरुष है; वही यह देव है। हे शाकल्य! इस विषय में और भी पूछो। शाकल्य ने कहा— उसका देवता कौन है ? तब याज्ञवल्क्य ने कहा— स्त्रियाँ हैं (क्योंकि स्त्री से ही उक्त काम का उद्दीपन होता है)॥११ ॥

शाकल्य ने पूछा— शुक्लादिरूप ही जिसका आयतन है, नेत्र लोक है और मन ज्योति है, जो भी उस पुरुष को सम्पूर्ण आध्यात्मिक कार्यकरणसंघात का परम आश्रय

काम एव यस्याऽऽयतनम्। स्त्रीव्यतिकराभिलाषः कामः कामशरीर इत्यर्थः। **हृदयं लोको** हृदयेन बुद्ध्या पश्यति। **य एवायं काममयः पुरुषो**ऽध्यात्ममपि काममय एव **तस्य का देवतेति स्त्रिय इति होवाच।** स्त्रीतो हि कामस्य दीप्तिर्जायते॥११ ॥

रूपाण्येव यस्याऽऽयतनम्। **रूपाणि** शुक्लकृष्णादीनि। **य**

स्यात्। याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषꣳ सर्वस्याऽऽत्मनः परायणं यमात्थ य एवासावादित्ये पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति सत्यमिति होवाच ॥१२॥

आकाश एव यस्याऽऽयतनꣳ श्रोत्रं लोको मनोज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्याऽऽत्मनः परायणꣳ स वै वेदिता स्यात्। याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषꣳ सर्वस्याऽऽत्मनः परायणं यमात्थ य एवायꣳ

जानता है, वही पंडित है (हे याज्ञवल्क्य! तुम तो उसे जाने बिना ही पंडित होने का मिथ्याभिमान कर रहे हो)। याज्ञवल्क्य ने कहा— तुम जिसे समस्त आध्यात्मिक कार्यकरणसंघात का परम आश्रय कह रहे हो, उसे मैं जानता हूँ। जो भी यह आदित्य में पुरुष है; वही यह है। हे शाकल्य! इस संबन्ध में और भी पूछो। शाकल्य ने कहा— उसका देवता कौन है? तब याज्ञवल्क्य ने कहा— सत्य है (क्योंकि अध्यात्म चक्षु से ही अधिदैविक आदित्य की निष्पत्ति होती है)॥१२॥

शाकल्य ने पूछा—आकाश ही जिसका आयतन है, श्रोत्र लोक है, और मन ज्योति है, जो भी उस पुरुष को समस्त आध्यात्मिक कार्यकरणसंघात का परम आश्रय जानता है, वहीं पंडित है (हे याज्ञवल्क्य! तुम उसे न जानते हुए भी पंडित होने का मिथ्याभिमान कर रहे हो)। याज्ञवल्क्य ने कहा— तुम जिसे समस्त आध्यात्मिक कार्यकरणसंघात का परम आश्रय कहते हो, उस पुरुष को तो मैं जानता हूँ। जो भी यह श्रोत्र में रहने वाला प्रातिश्रुत्क (प्रतिश्रवण के समय विशेषरूप से रहने वाला) पुरुष है; यही वह है। हे शाकल्य!

एवासावादित्ये पुरुषः सर्वेषां हि रूपाणां विशिष्टं कार्यमादित्ये पुरुष**स्तस्य का देवतेति। सत्यमिति होवाच। सत्यमिति** चक्षुरुच्यते। चक्षुषो ह्यध्यात्मत आदित्यस्याधिदैवतस्य निष्पत्तिः ॥१२॥

आकाश एव यस्याऽऽयतनम्। य एवायं श्रोत्रे भवः **श्रौत्रस्तत्रापि**

श्रौत्रः प्रातिश्रुत्कः पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति दिश इति होवाच॥१३॥

तम एव यस्याऽऽयतनꣳहृदयं लोको मनोज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्याऽऽत्मनः परायणꣳस वै वेदिता स्यात् याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषꣳ सर्वस्याऽऽत्मनः परायणं यमात्थ य एवायं छायामयः पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति मृत्युरिति होवाच॥१४॥

इस विषय में और पूछो! शाकल्य ने कहा— उसका देवता कौन है? तब याज्ञवल्क्य ने कहा— दिशाएँ हैं (क्योंकि दिशाओं से यह आध्यात्मिक पुरुष निष्पन्न होता है)॥१३॥

शाकल्य ने कहा— अंधकार ही जिसका आश्रय है, हृदय लोक हे, मन ज्योति है, जो भी कोई उस पुरुष को समस्त आध्यात्मिक कार्यकरणसंघात का परम आश्रय जानता है। हे याज्ञवल्क्य! वही पंडित है (तुम तो उसे जाने बिना ही पंडित होने का मिथ्याभिमान कर रहे हो)। याज्ञवल्क्य ने कहा—तुम जिसे सम्पूर्ण आध्यात्मिक कार्यकरणसंघात का परम आश्रय कहते हो, उस पुरुष को मैं जानता हूँ। जो भी यह छायामय पुरुष है; वही यह है। है शाकल्य! इस विषय में और भी पूछो। शाकल्य ने कहा—उसका देवता कौन है? तब याज्ञवल्क्य ने कहा— अव्याकृत ईश्वररूप मृत्यु ही उसका देवता है॥१४॥

प्रतिश्रवणवेलायां विशेषतो भवतीति **प्रातिश्रुत्कस्तस्य का देवतेति। दिश इति होवाच।** दिग्भ्यो ह्यसावाध्यात्मिको निष्पद्यते॥१३॥

तम एव यस्याऽऽयतनम्। तम इति शार्वराद्यन्धकारः परिगृह्यते। अध्यात्मं **छायामयो**ऽज्ञानमयः **पुरुषस्तस्य का देवतेति। मृत्युरिति होवाच।** मृत्युरधिदैवतं तस्य निष्पत्तिकारणम्॥१४॥

रूपाण्येव यस्याऽऽयतनं चक्षुर्लोको मनोज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्याऽऽत्मनः परायणꣳ स वै वेदिता स्यात् याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषꣳ सर्वस्याऽऽत्मनः परायणं यमात्थ य एवायमादर्शे पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेत्यसुरिति होवाच॥१५॥

आप एव यस्याऽऽयतनꣳ हृदयं लोको मनो ज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्याऽऽत्मनः परायणꣳ स वै

शाकल्य ने पूछा— प्रकाशक रूप ही जिसका आश्रय है, नेत्र लोक है, तथा मन ज्योति है, उस पुरुष को जो कोई भी समस्त आध्यात्मिक कार्यकरणसंघात का परम आश्रय जानता है, हे याज्ञवल्क्य! वही पंडित है (तुम तो उसे न जानकर ही पंडित होने का दम्भ कर रहे हो)। याज्ञवल्क्य ने कहा— तुम जिसे समस्त आध्यात्मिक कार्यकरणसंघात का परम आश्रय कहते हो; उस पुरुष को मैं जानता हूँ। जो भी यह प्रतिबिम्ब के आश्रयभूत दर्पण में पुरुष है; वही यह है। हे शाकल्य! इस विषय में और भी पूछो। शाकल्य ने कहा— उसका देवता कौन है? इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा— प्राण ही उसक देवता है (क्योंकि उस प्रतिबिम्ब नामक पुरुष की निष्पत्ति प्राण द्वारा दर्पण के घर्षण करने पर ही होती है)॥१५॥

शाकल्य ने कहा— सर्वसाधारण जल ही जिसका आश्रय है, हृदय लोक है, तथा मन ज्योति है, उस पुरुष को जो भी कोई समस्त आध्यात्मिक कार्यकरणसंघात का परम आश्रय जानता है, हे याज्ञवल्क्य! वही विद्वान् है (तुम जो उसे जाने बिना ही विद्वान् होने

रूपाण्येव यस्याऽऽयतनम्। पूर्वं साधारणानि रूपाण्युक्तानीह तु प्रकाशकानि विशिष्टानि रूपाणि गृह्यन्ते। रूपायतनस्य देवस्य विशेषायतनं प्रतिबिम्बाधारमादर्शादि **तस्य का देवतेत्यसुरिति होवाच** तस्य प्रतिबिम्बाख्यस्य पुरुषस्य निष्पत्तिरसोः प्राणात्॥१५॥

आप एव यस्याऽऽयतनम्। साधारणाः सर्वा आप आयतनं वापी-

वेदिता स्यात् याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषꣳ सर्वस्याऽऽत्मनः परायणं यमात्थ य एवायमप्सु पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति वरुण इति होवाच॥१६॥

(शाकल्य को सावधान करना)

रेत एव यस्याऽऽयतनꣳ हृदयं लोको मनोज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्याऽऽत्मनः परायणꣳ स वै वेदिता स्यात् याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषꣳ सर्वस्या-ऽऽत्मनः परायणं यमात्थ य एवायं पुत्रमयः पुरुषः स

का दावा कर रहे हो)। याज्ञवल्क्य ने कहा— जिसे तुम समस्त कार्यकरणसंघात का परम आश्रय कहते हो; उस पुरुष को मैं जानता हूँ। जो भी यह तड़ागादि स्थित जल में विशेषरूप से पुरुष विद्यमान है; वही यह है। हे शाकल्य! इस विषय में और भी पूछो। शाकल्य ने कहा— उसका देवता कौन है? तब याज्ञवल्क्य ने कहा— वरुण उसका देवता है (क्योंकि वरुण के द्वारा संघातकर्ता आध्यात्मिक जल ही स्थूल जल की निष्पत्ति का कारण है)॥१६॥

शाकल्य ने कहा— वीर्य ही जिसका आश्रय है, हृदय लोक है, और मन ज्योति है, जो भी कोई उस पुरुष को सभी आध्यात्मिक कार्यकरणसंघात का परम आश्रय जानता है, हे याज्ञवल्क्य! वही पंडित है (तुम तो उसे जाने बिना ही पंडित होने का दावा कर रहे हो)। याज्ञवल्क्य ने कहा— जिसे तुम सभी आध्यात्मिक कार्यकरणसंघात का परम आश्रय कहते हो; उस पुरुष को मैं जानता हूँ। जो भी वह पुत्ररूप पुरुष है; वही यह है। हे

कूपतडागाद्याश्रयास्वप्सु विशेषावस्थानम्। **तस्य का देवतेति वरुण इति।** वरुणात्संघातकर्त्र्योऽध्यात्ममाप एव वाप्याद्यपां निष्पत्तिकारणम्॥१६॥

रेत एव यस्याऽऽयतनं य एवायं पुत्रमयो विशेषायतनं रेत आय-तनस्य पुत्रमय इति चास्थिमज्जाशुक्राणि पितुर्जातानि। **तस्य का देवतेति।**

एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति प्रजापतिरिति होवाच॥१७॥

शाकल्येति होवाच याज्ञवल्क्यस्त्वाꣳस्विदिमे ब्राह्मणा अङ्गारावक्षयणमक्रता३ इति॥१८॥

याज्ञवल्क्येति होवाच शाकल्यो यदिदं कुरुपञ्चालानां ब्राह्मणानत्यवादीः किं ब्रह्म विद्वानिति दिशो वेद

शाकल्य! इस विषय में और भी पूछो। शाकल्य ने कहा— उसका देवता कौन है? इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा प्रजापति देवता है। (क्योंकि पितारूप प्रजापति से ही पुत्र की उत्पत्ति होती है)॥१७॥

हे शाकल्य! ऐसा याज्ञवल्क्य ने कहा— निःसन्देह इन ब्राह्मणों ने तुम्हे अंगारे निकालने के लिए चिमटा बना रखा है (क्योंकि मेरे द्वारा तुम्हारा दाह तो हो रहा है, फिर भी तुम्हे इसका पता नहीं)॥१८॥

हे याज्ञवल्क्य! ऐसा शाकल्य ने कहा— जो यह तुमने कुरुपाञ्चालदेशीय ब्राह्मणों का आक्षेप द्वारा तिरस्कार किया है, वह क्या तुम वस्तुतः ब्रह्मज्ञानी हो अर्थात् ऐसा समझकर तिरस्कार

प्रजापतिरिति होवाच। प्रजापतिः पितोच्यते। पितृतो हि पुत्रस्योत्पत्तिः॥१७॥

अष्टधा देवलोकपुरुषभेदेन त्रिधा त्रिधाऽऽत्मानं प्रविभज्यावस्थित एकैको देवःप्राणभेद एवोपासनार्थं व्यपदिष्टः। अधुना दिग्विभागेन पञ्चधा प्रविभक्तस्याऽऽत्मन्युपसंहारार्थमाह। तूष्णींभूतं शाकल्यं याज्ञवल्क्यो ग्रहेणेवाऽऽवेशयन्नाह। **शाकल्येति होवाच याज्ञवल्क्यस्त्वां स्विदिति** वितर्के। **इमे** नूनं **ब्राह्मणा अङ्गारावक्षयणम**ङ्गारा अवक्षीयन्ते यस्मिन्संदंशादौ तदङ्गारावक्षयणं तन्नूनं त्वा**मक्रत** कृतवन्तो ब्राह्मणास्त्वं तु तन्न बुध्यसे आत्मानं मया दह्यमानमित्यभिप्रायः॥१८॥

याज्ञवल्क्येति होवाच शाकल्यः। यदिदं कुरुपञ्चालानां

सदेवाः सप्रतिष्ठा इति यद्दिशो वेत्थ सदेवाः सप्रतिष्ठाः ॥१९॥

किं देवतोऽस्यां प्राच्यां दिश्यसीत्यादित्यदेवत इति स आदित्यः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति चक्षुषीति कस्मिन्नु चक्षुः प्रतिष्ठितमिति रूपेष्विति चक्षुषा हि रूपाणि पश्यति कस्मिन्नु रूपाणि प्रतिष्ठितानीति हृदय इति होवाच हृदयेन हि रूपाणि जानाति हृदये

करते हो? याज्ञवल्क्य ने कहा— मेरा ब्रह्मज्ञान यह है कि मैं देवता तथा आश्रय के सहित दिशाओं को जानता हूँ। शाकल्य ने कहा— यदि तुम देवता और आश्रय के सहित दिशाओं को जानते हो (अर्थात् फल सहित विज्ञान की प्रतिज्ञा की है) तो॥१९॥

इस पूर्वदिशा में तुम किस देवता से युक्त होकर स्थित हो? याज्ञवल्क्य ने कहा— वहाँ पर मैं सूर्य देवता से युक्त हूँ। शाकल्य ने कहा— वह सूर्य किसमें प्रतिष्ठित है? याज्ञवल्क्य ने कहा— नेत्र में। शाकल्य ने पूछा— नेत्र किसमें प्रतिष्ठित है? याज्ञवल्क्य ने कहा— रूपों में, क्योंकि नेत्र से ही पुरुष नीलादिरूपों को देखता है। शाकल्य ने कहा—रूप किसमें

ब्राह्मणानत्यवादीरित्युक्तवानसि स्वयं भीतास्त्वामङ्गारावक्षयणं कृतवन्त इति। **किं ब्रह्म विद्वान्**सन्नेवमधिक्षिपसि ब्राह्मणान्। याज्ञवल्क्य आह ब्रह्मविज्ञानं तावदिदं मम, किं **तद्दिशो वेद** दिग्विषयं विज्ञानं जाने। तच्च न केवलं दिश एव सदेवा देवैः सह दिगधिष्ठातृभिः। किं च **सप्रतिष्ठाः** प्रतिष्ठाभिश्च सह। इतर आह। **यद्यदि दिशो वेत्थ सदेवाः सप्रतिष्ठा** इति। सफलं यदि विज्ञानं त्वया प्रतिज्ञातम्॥१९॥

किं देवतः का देवताऽऽस्य तव दिग्भूतस्य। असौ हि याज्ञवल्क्यो हृदयमात्मानं दिक्षु पञ्चधा विभक्तं दिगात्मभूतं तद्द्वारेण सर्वं जगदात्मत्वेनोप-

ह्येव रूपाणि प्रतिष्ठितानि भवन्तीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य॥२०॥

प्रतिष्ठित है? याज्ञवल्क्य ने कहा— हृदय में, क्योंकि पुरुष वासनात्मक रूपों का हृदय से ही स्मरण करता है। अतः हृदय में ही रूप प्रतिष्ठित है। शाकल्य ने कहा— हे याज्ञवल्क्य! ठीक है॥२०॥

गम्याहमस्मि दिगात्मेति व्यवस्थितः। पूर्वाभिमुखः सप्रतिष्ठावचनाद्यथा याज्ञवल्क्यस्य प्रतिज्ञा तथैव पृच्छति। **किंदेवतस्त्वमस्यां दिश्यसीति**। सर्वत्र हि वेदे यां यां देवतामुपास्त इहैव तद्भूतस्तां तां प्रतिपद्यत इति। तथा च वक्ष्यति—'देवो भूत्वा देवानप्येतीति'। **अस्यां प्राच्यां** का देवता दिगात्मनस्तवाधिष्ठात्री, कया देवतया त्वं प्राचीदिग्रूपेण संपन्न इत्यर्थः। इतर आहाऽऽ**दित्यदेवत इति**। प्राच्यां दिशि ममाऽऽदित्यो देवता सोऽहमादित्यदेवतः। सदेवा इत्येतदुक्तम्। सप्रतिष्ठा इति तु वक्तव्यमित्याह। **स आदित्य कस्मिन्प्रतिष्ठित इति। चक्षुषीति**। अध्यात्मतश्चक्षुष आदित्यो निष्पन्न इति हि मन्त्रब्राह्मणवादाः "चक्षोः सूर्यो अजायत" "चक्षुष आदित्य" इत्यादयः। कार्यं हि कारणे प्रतिष्ठितं भवति। **कस्मिन्नु चक्षुः प्रतिष्ठितमिति। रूपेष्विति**। रूपग्रहणाय हि रूपात्मकं चक्षू रूपेण प्रयुक्तम्। यैर्हि रूपैः प्रयुक्तं तैरात्मग्रहणायाऽऽरब्धं चक्षुस्तस्मात्सादित्यं चक्षुः सह प्राच्या दिशा सह तत्स्थैः सर्वैं रूपेषु प्रतिष्ठितम्। चक्षुषा सह प्राची दिक्सर्वा रूपभूता तानि च **कस्मिन्नु रूपाणि प्रतिष्ठितानीति हृदय इति होवाच**। हृदयारब्धानि रूपाणि रूपाकारेण हि हृदयं परिणतम्। यस्माद्**धृदयेन हि रूपाणि** सर्वो लोको **जानाति**। हृदयमिति बुद्धिमनसी एकीकृत्य निर्देशः। तस्माद्**धृदये ह्येव रूपाणि प्रतिष्ठितानि**। हृदयेन हि स्मरणं भवति रूपाणां वासनात्मनां, तस्माद्धृदये रूपाणि प्रतिष्ठितानीत्यर्थः। **एवमेवैतद्याज्ञवल्क्य**॥२०॥

देवता एवं प्रतिष्ठा के सहित दक्षिण दिशा का निरूपण

किंदेवतोऽस्यां दक्षिणायां दिश्यसीति यमदेवत इति स यमः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति यज्ञ इति कस्मिन्नु यज्ञः प्रतिष्ठित इति दक्षिणायामिति कस्मिन्नु दक्षिणा प्रतिष्ठितेति श्रद्धायामिति यदा ह्येव श्रद्धत्तेऽथ दक्षिणां ददाति श्रद्धायाᳬ ह्येव दक्षिणा प्रतिष्ठितेति कस्मिन्नु श्रद्धा प्रतिष्ठितेति हृदय इति होवाच हृदयेन हि श्रद्धां जानाति हृदये ह्येव श्रद्धा प्रतिष्ठिता भवतीत्येव-मेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥२१॥

इस दक्षिणादिशा में तुम किस देवता से युक्त होकर स्थित हो? याज्ञवल्क्य ने कहा— यम देवता से युक्त हूँ। शाकल्य ने पूछा— वह यम देवता किसमें प्रतिष्ठित है? याज्ञवल्क्य ने कहा— यज्ञ में। शाकल्य ने पूछा— यज्ञ किसमें प्रतिष्ठित है? याज्ञवल्क्य ने कहा— दक्षिणा में, क्योंकि यज्ञकर्ता ऋत्विज् दक्षिणा से खरीदे हुए होते हैं। शाकल्य ने कहा— दक्षिणा किसमें प्रतिष्ठित है? याज्ञवल्क्य ने कहा— भक्तिसहित आस्तिक्यबुद्धिरूप श्रद्धा में, क्योंकि जब पुरुष श्रद्धा करता है; तभी दक्षिणा देता है। अतः श्रद्धा में ही दक्षिणा प्रतिष्ठित है। शाकल्य ने पूछा— श्रद्धा किसमें प्रतिष्ठित है? याज्ञवल्क्य ने कहा— हृदय में, क्योंकि हृदय में ही पुरुष श्रद्धा को जानता है। अतः हृदय में ही श्रद्धा प्रतिष्ठित है। शाकल्य ने कहा — हे याज्ञवल्कय! यह बात भी ऐसी ही है॥२१॥

किंदेवतोऽस्यां दक्षिणायां दिश्यसीति पूर्ववत्। दक्षिणायां दिशि का देवता तव। **यमदेवत इति**। यमो देवता मम दक्षिणादिग्भूतस्य। **स यमः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति। यज्ञ इति**। यज्ञे कारणे प्रतिष्ठितो यमः सह दिशा। कथं पुनर्यज्ञस्य कार्यं यम इत्युच्यते ऋत्विग्भिर्निष्पादितो यज्ञो दक्षिणया यजमानस्तेभ्यो यज्ञं निष्क्रीय तेन यज्ञेन दक्षिणां दिशं सह यमेनाभिजयति। तेन यज्ञे यमः कार्यत्वात्प्रतिष्ठितः सह दक्षिणया दिशा। **कस्मिन्नु यज्ञः प्रतिष्ठित इति। दक्षिणायामिति**। दक्षिणया स निष्क्रीयते। तेन दक्षिणाकार्यं यज्ञः।

देवता एवं प्रतिष्ठा के सहित पश्चिम दिशा का निरूपण

किंदेवतोऽस्यां प्रतीच्यां दिश्यसीति वरुणदेवत इति स वरुणः कस्मिन्प्रतिष्ठित इत्यप्स्विति कस्मिन्वापः प्रतिष्ठिता इति रेतसीति कस्मिन्नु रेतः प्रतिष्ठितमिति हृदय इति तस्मादपि प्रतिरूपं जातमाहुर्हृदयादिव सृप्तो हृदयादिव निर्मित इति हृदये ह्येव रेतः प्रतिष्ठितं भवतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥२२ ॥

हे याज्ञवल्क्य! इस पश्चिम दिशा में तुम किस देवता के सहित स्थित हो? याज्ञवल्क्य ने कहा— वरुण देवता से। शाकल्य ने कहा— वह वरुण किसमें प्रतिष्ठित है? याज्ञवल्क्य ने कहा— जल में। शाकल्य ने पूछा— वह जल किसमें प्रतिष्ठित है? याज्ञवल्क्य ने कहा— वीर्य में, क्योंकि वीर्य से ही जल की रचना हुई है। शाकल्य ने कहा— वीर्य किसमें प्रतिष्ठित है? याज्ञवल्क्य ने कहा— हृदय में। अतएव पिता के अनुरूप उत्पन्न हुए पुत्र को 'लोक' कहते हैं कि यह मानो पिता के हृदय से ही निकला है क्योंकि हृदय में ही वीर्य स्थित होता हे। शाकल्य ने कहा — हे याज्ञवल्क्य! यह बात भी ऐसी ही है ॥२२ ॥

कस्मिन्नु दक्षिणा प्रतिष्ठितेति। श्रद्धायामिति। श्रद्धा नाम दित्सुत्वमास्तिक्यबुद्धिर्भक्तिसहिता। कथं तस्यां प्रतिष्ठिता दक्षिणा। यस्माद्यदा **ह्येव श्रद्धत्तेऽथ दक्षिणां ददाति** नाश्रद्दधद्दक्षिणां ददाति। तस्माच्छ्र**द्धायां ह्येव दक्षिणा प्रतिष्ठितेति। कस्मिन्नु श्रद्धा प्रतिष्ठितेति। हृदय इति होवाच**। हृदयस्य हि वृत्तिः श्रद्धा यस्माद्**धृदयेन हि श्रद्धां जानाति**। वृत्तिश्च वृत्तिमति प्रतिष्ठिता भवति। तस्माद्**धृदये ह्येव श्रद्धा प्रतिष्ठिता भवतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य** ॥२१ ॥

किंदेवतोऽस्यां प्रतीच्यां दिश्यसीति। तस्यां वरुणोऽधिदेवता मम। **स वरुणः कस्मिन्प्रतिष्ठित इत्यप्स्विति**। अपां हि वरुणः कार्यम्। "श्रद्धा वा आपः" "श्रद्धातो वरुणमसृजत" इति श्रुतेः। **कस्मिन्न्वापः प्रतिष्ठिता**

देवता एवं प्रतिष्ठा सहित उत्तर दिशा का निरूपण

किंदेवतोऽस्यामुदीच्यां दिश्यसीति सोमदेवत इति स सोमः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति दीक्षायामिति कस्मिन्नु दीक्षा प्रतिष्ठतेति सत्य इति तस्मादपि दीक्षितमाहुः सत्यं वदेति सत्ये ह्येव दीक्षा प्रतिष्ठितेति कस्मिन्नु सत्यं प्रतिष्ठितमिति हृदय इति होवाच हृदयेन हि सत्यं जानाति हृदये ह्येव सत्यं प्रतिष्ठितं भवतीत्ये-वमेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥२३॥

इस उत्तरदिशा में तुम किस देवता से युक्त हो? याज्ञवल्क्य ने कहा— सोमदेवता से (सोम शब्द से सोमलता और सोमदेवता दोनों का वर्णन किया गया है)। शाकल्य ने पूछा— यह सोमदेवता किसमें प्रतिष्ठित है? याज्ञवल्क्य ने कहा— दीक्षा में (क्योंकि दीक्षित यजमान ही सोम को खरीदकर सोम से यजन करके सोम से अधिष्ठित तत्सम्बन्धी उत्तरदिशा को प्राप्त होता है) शाकल्य ने पूछा— दीक्षा किसमें प्रतिष्ठित है? याज्ञवल्क्य ने कहा— सत्य में। इसलिये दीक्षित पुरुष से कहते हैं कि 'सत्य बोलो', क्योंकि सत्य में ही दीक्षा प्रतिष्ठित है (अन्यथा कारण के नाश होने से दीक्षारूप कार्य का नाश होना संभव है)। शाकल्य ने पूछा— सत्य किसमें प्रतिष्ठित है? याज्ञवल्क्य ने कहा— हृदय मे, क्योंकि हृदय से ही पुरुष सत्य को जानता है। अतः हृदय में ही सत्य प्रतिष्ठित है। शाकल्य ने कहा— हे याज्ञवल्क्य! यह बात ऐसी ही है॥२३॥

इति। रेतसीति। "रेतसो ह्यापः सृष्टाः" इति श्रुतेः। **कस्मिन्नु रेतः प्रतिष्ठितमिति। हृदय इति।** यस्माद्धृदयस्य कार्यं रेतः। कामो हृदयस्य वृत्तिः। कामिनो हि हृदयाद्रेतोऽधिस्कन्दति। **तस्मादपि प्रतिरूपमनुरूपं** पुत्रं **जात-माहुर्लौकिकाः** अस्य पितुर्**हृदयादिवायं** पुत्रः **सृप्तो** विनिःसृतो **हृदयादिव निर्मितो** यथा सुवर्णेन निर्मितः कुण्डलः। तस्माद्**धृदये ह्येव रेतः प्रतिष्ठितं भवतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य**॥२२॥

किंदेवतोऽस्यामुदीच्यां दिश्यसीति। सोमदेवत इति। सोमः इति

(देवता तथा प्रतिष्ठा के सहित ध्रुवा दिशा का निरूपण)

किं देवतोऽस्यां ध्रुवायां दिश्यसीत्यग्निदेवत इति सोऽग्निः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति वाचीति कस्मिन्नु वाक्प्रतिष्ठितेति हृदय इति कस्मिन्नु हृदयं प्रतिष्ठित-मिति॥२४॥

शाकल्य ने पूछा— ध्रुवा (ऊर्ध्व) दिशा में तुम किस देवता वाले हो? याज्ञवल्क्य ने कहा— मैं अग्नि देवता वाला हूँ, क्योंकि ऊर्ध्व दिशा में प्रकाश बहुत है और प्रकाश ही अग्नि है। शाकल्य ने पूछा— वह अग्नि किसमें प्रतिष्ठित है? याज्ञवल्क्य ने कहा— वाक् में। शाकल्य ने पूछा— वाक् किसमें प्रतिष्ठित है? याज्ञवल्क्य ने कहा— हृदय में (उस समय सम्पूर्ण दिशाओं में फैले हुए हृदय के द्वारा याज्ञवल्क्य उन्हें आत्मभाव से प्राप्त था)। शाकल्य ने पूछा— हृदय किसमें प्रतिष्ठित है? (इस वाक्य से शाकल्य ने सर्वात्मक हृदय की प्रतिष्ठा के विषय में प्रश्न किया)॥२४॥

लतां सोमदेवतां चैकीकृत्य निर्देशः। **स सोमः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति। दीक्षायामिति।** दीक्षितो हि यजमानः सोमं क्रीणाति। क्रीतेन सोमेनेष्ट्वा ज्ञानवानुत्तरां दिशं प्रतिपद्यते सोमदेवताधिष्ठितां सौम्याम्। **कस्मिन्नु दीक्षा प्रतिष्ठितेति। सत्ये इति।** कथम्। यस्मात्सत्ये दीक्षा प्रतिष्ठिता **तस्मादपिदीक्षितमाहुः सत्यं वदेति,** कारणभ्रेषे कार्यभ्रेषो मा भूदिति। **सत्ये ह्येव दीक्षा प्रतिष्ठि-तेति। कस्मिन्नु सत्यं प्रतिष्ठितमिति। हृदय इति होवाच। हृदयेन हि सत्यं जानाति।** तस्माद्धृदये **ह्येव सत्यं प्रतिष्ठितं भवती-त्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य**॥२३॥

किंदेवतोऽस्यां ध्रुवायां दिश्यसीति। मेरोः समन्ततो वसतामव्य-भिचारादूर्ध्वा दिग्ध्रुवेत्युच्यते। **अग्निदेवत इति।** ऊर्ध्वायां हि प्रकाशभूयस्त्वं प्रकाशश्चाग्निः। **सोऽग्निः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति वाचीति। कस्मिन्नु वाक्प्रतिष्ठितेति। हृदय इति।** तत्र याज्ञवल्क्यः सर्वासु दिक्षु विप्रसृतेन हृदयेन सर्वा दिश आत्मत्वेनाभिसंपन्नः। सदेवाः सप्रतिष्ठा दिश आत्मभूतास्तस्य

अहँल्लिकेति होवाच याज्ञवल्क्यो यत्रैतदन्यत्रास्मन्मन्यासै यद्ध्येतदन्यत्रास्मत्स्याच्छ्वानो वैनदद्युर्वयाꣳसि वैनद्विमथ्नीरन्निति ॥२५॥

कस्मिन्नु त्वं चाऽऽत्मा च प्रतिष्ठितौ स्थ इति प्राण इति

हे प्रेत! ऐसे शब्द से संबोधित करते हुए याज्ञवल्क्य ने कहा— जिस समय तुम इस देह को हृदयरूप हमसे पृथक् मानते हो, यदि उस समय सचमुच में यह शरीर पृथक् हो जाय, तो इसे कुत्ते खा जायँ, या पक्षी इसे चोंच मारकर मथ डालें (अर्थात् शरीर भी नाम, रूप एवं कर्ममय होने के कारण हृदयरूप आत्मा में ही प्रतिष्ठित है)॥२५॥

तुम और तुम्हारा आत्मा (हृदय) किसमें प्रतिष्ठित है? याज्ञवल्क्य ने कहा— देह और आत्मा ये दोनों प्राणवृत्ति में प्रतिष्ठित हैं। शाकल्य ने पूछा— प्राण किसमें प्रतिष्ठित है?

नामरूपकर्मात्मभूतस्य याज्ञवल्क्यस्य। तद्रूपं तत्प्राच्या दिशा सह हृदयभूतं याज्ञवल्क्यस्य। यत्केवलं कर्म पुत्रोत्पादनलक्षणं च ज्ञानसहितं च सह फलेनाधिष्ठात्रीभिश्च देवताभिर्दक्षिणाप्रतीच्युदीच्यः कर्मफलात्मिका हृदयमेवाऽऽपन्नास्तस्य। ध्रुवया दिशा सह नाम सर्वं वाग्द्वारेण हृदयमेवाऽऽपन्नम्। एतावद्धीदं सर्वं यदुत रूपं वा कर्म वा नाम वेति तत्सर्वं हृदयमेव तत्सर्वात्मकं हृदयं पृच्छ्यते **कस्मिन्नु हृदयं प्रतिष्ठितमिति** ॥२४॥

अहँल्लिकेति होवाच याज्ञवल्क्यो नामान्तरेण संबोधनं कृतवान्। **यत्र** यस्मिन्काल **एतद्धृदयमात्माऽस्य** शरीरस्यान्यत्र क्वचिद्देशान्तरे**ऽस्मदस्मत्तो** वर्तत इति **मन्यासै** मन्यसे। **यद्धि** यदि **ह्येतद्धृदयमन्यत्रास्मत्स्याद्भवेच्छ्वानो वैनच्छरीरं** तदा**ऽद्युर्वयांसि वा** पक्षिणो **वैनद्विमथ्नीरन्**विलोडयेयुर्विकर्षेर**न्निति,** तस्मान्मयि शरीरे हृदयं प्रतिष्ठितमित्यर्थः। शरीरस्यापि नामरूपकर्मात्मकत्वाद्धृदये प्रतिष्ठितत्वम् ॥२५॥

हृदयशरीरयोरेवमन्योन्यप्रतिष्ठोक्ता कार्यकरणयोरतस्त्वां पृच्छामि।

कस्मिन्नु प्राणः प्रतिष्ठित इत्यपान इति कस्मिन्न्वपानः प्रतिष्ठित इति व्यान इति कस्मिन्नु व्यानः प्रतिष्ठित इत्युदान इति कस्मिन्नूदानः प्रतिष्ठित इति समान इति स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो न हि गृह्यतेऽशीर्यो न हि शीर्यतेऽसङ्गो न हि सज्यतेऽसितो न व्यथते न रिष्यति। एतान्यष्टावायतनान्यष्टौ लोका अष्टौ देवा

व्यान में। व्यान किसमें प्रतिष्ठित है? उदान में। उदान किसमें प्रतिष्ठित है? समान में (यदि प्राणवृत्ति अपान से न रोकी जाए, तो वह ऊपर की ओर से बाहर निकल जाए। यदि मध्यस्थ व्यान से अपानवृत्ति न रोकी जाए, तो वह अपान की ओर चली जाए, यदि ये तीनों वृत्तियाँ कीलस्थानीय उदानवृत्ति से न बंधी हों, तो यह सभी ओर फैल जायें। वैसे ही उक्त चारों ही प्राणवृत्तियाँ समान में प्रतिष्ठित हैं)। जिसका मधुकाण्ड में "स एष नेति नेति" ऐसा कहकर निरूपण किया गया है, वह आत्मा अग्राह्य है, यह ग्रहण नहीं किया जाता। अशीर्य है, वह नष्ट नहीं होता। असंग है, वह संसक्त नहीं होता। अमूर्त होने से अबद्ध है, अतः वह व्यथित और हिंसित नहीं होता। उक्त ये आठ आयतन हैं, आठ लोक हैं, आठ देव हैं और आठ पुरुष हैं। वह जो कोई भी उन पूर्वोक्त शारीरादि आठ पुरुषों को निश्चयपूर्वक जानकर उन्हें अपने हृदय में उपसंहार कर औपाधिक क्षुधा-

---

कस्मिन्नु त्वं च शरीरमात्मा च तव हृदयं **प्रतिष्ठितौ स्थ इति। प्राण इति।** देहात्मानौ प्राणे प्रतिष्ठितौ स्यातां प्राणवृत्तौ। **कस्मिन्नु प्राणः प्रतिष्ठित इत्यपान इति।** साऽपि प्राणवृत्तिः प्रागेव प्रेयादपानवृत्त्या चेन्न निगृह्येत। **कस्मिन्न्वपानः प्रतिष्ठित इति। व्यान इति।** साऽप्यपानवृत्तिरध एव यायात्प्राणवृत्तिश्च प्रागेव मध्यस्थया चेद्व्यानवृत्त्या न निगृह्येत। **कस्मिन्नु व्यानः प्रतिष्ठित इति। उदान इति।** सर्वास्तिस्रोऽपि वृत्तय उदाने कील-स्थानीये चेन्न निबद्धा विष्वङ्डेवेयुः। **कस्मिन्नूदानः प्रतिष्ठित इति।** समान इति। समानप्रतिष्ठा ह्येताः सर्वा वृत्तयः। एतदुक्तं भवति—शरीरहृदयवायवोऽन्यो-

शाकल्य विद्वानों का अनादर किया। लाश को लोग लेगये क्योंकि याज्ञवल्क्य को वरदान मिला गुरु से। अतिप्रश्न करने वाला का शिर गिरेगा!

अष्टौ पुरुषाः स यस्तान्पुरुषान्निरुह्य प्रत्युह्यात्यक्रामत्तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि तं चेन्मे न विवक्ष्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति। तꣳ ह न मेने शाकल्यस्तस्य ह मूर्धा विपपातापि हास्य परिमोषिणोऽस्थीन्यपजह्रुरन्यन्मन्यमानाः ॥२६॥ साधु अवज्ञा का फल.

पिपासादि कर्मों का अतिक्रमण किये हुऐ हैं, मैं उसी औपनिषद पुरुष को तुमसे पूछता हूँ। यदि तुम स्पष्टरूप से मेरे प्रति उसे न कह सकोगे तो तुम्हारा मस्तक गिर जायगा। उस औपनिषद पुरुष को शाकल्य सर्वथा नहीं जानता था। अतः उसका मस्तक गिर गया। इतना ही नहीं; किन्तु लुटेरों से उसकी हड्डियों को कुछ और (धनादि) समझ कर उसके शिष्यों से छीन लिया॥२६॥

न्यप्रतिष्ठाः संघातेन नियता वर्तन्ते विज्ञानमयार्थप्रयुक्ता इति। सर्वमेतद्येन नियतं यस्मिन्प्रतिष्ठितमाकाशान्तमोतं च प्रोतं च तस्य निरुपाधिकस्य साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्मणो निर्देशः कर्तव्य इत्ययमारम्भः।

स एष। स यो **नेति नेती**ति निर्दिष्टो मधुकाण्ड एष सः। सोऽयमात्मा-**ऽगृह्यो** न गृह्यः। कथम्। यस्मात्सर्वकार्यधर्मातीतस्तस्मादगृह्यः। कुतो यस्मा**न्न हि गृह्यते**। यद्धि करणगोचरं व्याकृतं वस्तु तद्ग्रहणगोचरमिदं तु तद्विपरीतमात्मतत्त्वम्। तथा**ऽशीर्यो** यद्धि मूर्तं संहतं शरीरादि तच्छीर्यतेऽयं तु तद्विपरीतोऽतो **न हि शीर्यते**। तथा**ऽसङ्गो** मूर्तान्तरेण संबध्यमानः सज्यतेऽयं च तद्विपरीतोऽतो **न हि सज्यते**। तथा**ऽसितो**ऽबद्धो यद्धि मूर्तं तद्बध्यतेऽयं तु तद्विपरीतत्वादसितोऽबद्धत्वा**न्न व्यथते**ऽतो **न रिष्यति**। ग्रहणविशरणसङ्गबन्धकार्यधर्मरहितत्वान्न रिष्यति न हिंसामापद्यते न विनश्यतीत्यर्थः।

क्रममतिक्रम्यौपनिषदस्य पुरुषस्याऽऽख्यायिकातोऽपसृत्य श्रुत्या स्वेन रूपेण त्वरया निर्देशः कृतः। ततः पुनराख्यायिकामेवाऽऽश्रित्याऽऽह। **एतानि** यान्युक्तान्यष्टावायतनानि पृथिव्येव यस्याऽऽयतनमित्येवमादीन्यष्टौ **लोका**

(प्रश्न करने के लिये याज्ञवल्क्य का सभासदों को आमन्त्रण।)

अथ होवाच ब्राह्मणा भगवन्तो यो वः कामयते स मा पृच्छतु सर्वे वा मा पृच्छत यो वः कामयते तं वः

इसके बाद ब्राह्मणों के मौन हो जाने पर याज्ञवल्क्य ने कहा— पूज्य ब्राह्मणगण! आप में से जिसकी इच्छा हो कि मैं याज्ञवल्क्य से प्रश्न करूँ, वह क्रमशः मुझसे पूछ

अग्निलोकादयोऽष्टौ **देवा** अमृतमिति होवाचेत्येवमादीन्यष्टौ **पुरुषाः** शारीरः पुरुष इत्यादयः। **स यः** कश्चित्तान्**पुरुषा**ञ्शारीरप्रभृतीन्**निरुह्य** निश्चयेनोह्य गमयित्वाऽष्टचतुष्कभेदेन लोकस्थितिमुपपाद्य पुनः प्राचीदिगादिद्वारेण **प्रत्युह्य** स्वात्मनि हृदये**ऽत्यक्रामद**तिक्रान्तवानुपाधिधर्मं हृदयाद्यात्मत्वं स्वेनैवाऽऽत्मना व्यवस्थितो य औपनिषदः पुरुषोऽशनायादिवर्जित उपनिषत्स्वेव विज्ञेयो नान्यप्रमाण-गम्यस्**तं त्वा** त्वां विद्याभिमानिनं **पुरुषं पृच्छामि। तं चे**द्यदि **मे न विवक्ष्यसि** विस्पष्टं न कथयिष्यसि **मूर्धा ते विपतिष्यती**त्याह याज्ञवल्क्यः। **तं** त्वौपनिषदं पुरुषं **शाकल्यो न मेने ह** न विज्ञातवान्किल। **तस्य ह मूर्धा विपपात** विपतितः। समाप्ताऽऽख्यायिका। श्रुतेर्वचनं **तं ह न मेने** इत्यादि।

किं **चापि हास्य परिमोषिण**स्तस्करा **अस्थीन्य**पि संस्कारार्थं शिष्यैर्नीयमानानि गृहान्प्रत्य**पजह्रुर**पहृतवन्तः। किंनिमित्तम्, **अन्यद्**धनं नीयमानं **मन्यमानाः**। पूर्ववृत्ता ह्याख्यायिकेह सूचिता। अष्टाध्याय्यां किल शाकल्येन याज्ञवल्क्यस्य समानान्ते एव संवादो निर्वृत्तः। तत्र याज्ञवल्क्येन शापो दत्तः। पुरेऽतिथ्ये मरिष्यसि न तेऽस्थीनिचन गृहान्प्राप्स्यन्तीति स ह तथैव ममार। तस्य हाप्यन्यन्मन्यमानाः परिमोषिणोऽस्थीन्यपजह्रुः। तस्मान्नोपवादी स्यादुतह्येवंवित्परो भवतीति। सैषाऽऽख्यायिकाऽऽचारार्थं सूचिता विद्यास्तुतये चेह॥२६॥

यस्य नेति नेतीत्यन्यप्रतिषेधद्वारेण ब्रह्मणो निर्देशः कृतस्तस्य विधिमुखेन कथं निर्देशः कर्तव्य इति पुनराख्यायिकामेवाऽऽश्रित्याऽऽह मूलं च जगतो वक्तव्यमिति।

पृच्छामि सर्वान्वा वः पृच्छामीति ते ह ब्राह्मणा न दधृषुः ॥२७॥

तान्हैतैः श्लोकैः पप्रच्छ—

यथा वृक्षो वनस्पतिस्तथैव पुरुषोऽमृषा ॥
तस्य लोमानि पर्णानि त्वगस्योत्पाटिका बहिः ॥१ ॥

सकता है अथवा आप सभी मिलकर मुझसे पूछ सकते हैं। ऐसे ही आप में से जिसकी इच्छा हो कि याज्ञवल्क्य मुझसे प्रश्न करे तो उससे मैं पूछता हूँ या आप सभी से मैं पूछता हूँ। पर इस चुनौती का सामना करने का साहस उन ब्राह्मणों को नहीं हुआ ॥२७॥

याज्ञवल्क्य ने उन ब्राह्मणों से इन आगे कहे जाने वाले श्लोकों द्वारा पूछा— वनस्पति आदि गुणों से युक्त वृक्ष जिन धर्मों से युक्त होता है जीव का शरीररूप पुरुष भी वैसा ही होता है, यह सर्वथा सत्य है। वृक्ष के पत्ते होते हैं और उस पुरुष के शरीर में रोएँ होते हैं। वृक्ष के बाहरी भाग में छाल होती है और पुरुष के शरीर में त्वचा ॥१ ॥

आख्यायिकासंबन्धस्त्वब्रह्मविदो ब्राह्मणाञ्जित्वा गोधनं हर्तव्यमिति। न्यायं मत्वाऽऽह —**अथ होवाच।** अथानन्तरं तूष्णींभूतेषु ब्राह्मणेषु होवाच हे **ब्राह्मणा भगवन्त** इत्येवं संबोध्य। **यो वो** युष्माकं मध्ये **कामयत** इच्छति याज्ञवल्क्यं पृच्छामीति **स मा** मामागत्य **पृच्छतु। सर्वे वा मा पृच्छत।** सर्वे वा यूयं मा मां पृच्छत। **यो वः कामयते** याज्ञवल्क्यो मां पृच्छत्विति **तं वः पृच्छामि सर्वान्वा वो** युष्मानहं **पृच्छामि। ते ह ब्राह्मणा न दधृषुस्ते** ब्राह्मणा एवमुक्ता अपि न प्रगल्भाः संवृत्ताः किंचिदपि प्रत्युत्तरं वक्तुम् ॥२७॥

॥ इति पञ्चदशाह्निकम् ॥ १५ ॥



तेष्वप्रगल्भभूतेषु ब्राह्मणेषु **तान्हैतैर्वक्ष्यमाणैः श्लोकैः पप्रच्छ** पृष्टवान्। **यथा** लोके **वृक्षो वनस्पतिः।** वृक्षस्य विशेषणं वनस्पतिरिति। **तथैव पुरुषोऽमृषा।** अमृषा सत्यमेतत्। **तस्य लोमानि।** तस्य पुरुषस्य लोमानीतरस्य वनस्पतेः **पर्णानि।** त्वगस्योत्पाटिका **बहिस्त्वगस्य** पुरुषस्येतरस्यो**त्पाटिका** वनस्पतेः ॥१ ॥

त्वच एवास्य रुधिरं प्रस्यन्दि त्वच उत्पटः ॥
तस्मात्तदातृण्णात्प्रैति रसो वृक्षादिवाऽऽहतात् ॥२ ॥
माꣳसान्यस्य शकराणि किनाटꣳ स्नाव तत्स्थिरम् ॥
अस्थीन्यन्तरतो दारूणि मज्जा मज्जोपमा कृता ॥३ ॥

इस पुरुष की त्वचा से ही रक्त टपकता है और वृक्ष की छाल से गोंद निकलता है, इस प्रकार वृक्ष और पुरुष की समानता है। इस समानता के कारण ही जैसे चोट खाये हुए वृक्ष से रस टपकता है, वैसे ही चोट खाये हुए पुरुष के शरीर से रक्त निकलता है॥२॥

पुरुष के शरीर में मांस होता है और वृक्ष के शकर (छाल के भीतर के अंश) होते हैं, पुरुष की नसें होती हैं और वृक्ष में किनाट (नस के समान भीतरी अंश) होते हैं। वह किनाट नसों की भाँति स्थिर होती है। पुरुष के स्नायुजाल के भीतर हड्डियाँ होती हैं, वैसे ही वृक्ष के भीतर काष्ठ होता है। पुरुष की मज्जा तो वृक्ष के समान ही निश्चित की गई है॥३॥

त्वच एव सकाशादस्य पुरुषस्य **रुधिरं प्रस्यन्दि** वनस्पतेस्त्वच **उत्पटस्त्वच** एवोत्स्फुटति यस्मादेवं सर्वं समानमेव वनस्पतेः पुरुषस्य च **तस्मादातृण्णाद्धिंसितात्प्रैति** तद्रुधिरं निर्गच्छति **वृक्षादिवाऽऽहता**-च्छिन्नाद्रसः ॥२ ॥

एवं **मांसान्यस्य** पुरुषस्य वनस्पतेस्तानि **शकराणि** शकलानीत्यर्थः। **किनाटं** वृक्षस्य किनाटं नाम शकलेभ्योऽभ्यन्तरं वल्कलरूपं काष्ठसंलग्नं तत्**स्नाव** पुरुषस्य **तत्स्थिरं** तच्च किनाटं स्नाववद्दृढं हि तत्। **अस्थीनि** पुरुषस्य स्नाव्नो**ऽन्तरतो**ऽस्थीनि भवन्ति। तथा किनाटस्याभ्यन्तरतो **दारूणि** काष्ठानि। **मज्जा** मज्जैव वनस्पतेः पुरुषस्य च **मज्जोपमा कृता** मज्जाया उपमा मज्जोपमा नान्यो विशेषोऽस्तीत्यर्थः। यथा वनस्पतेर्मज्जा तथा पुरुषस्य यथा पुरुषस्य तथा वनस्पतेः ॥३ ॥

यद्वृक्षो वृक्णो रोहति मूलान्नवतरः पुनः ॥
मर्त्यः स्विन्मृत्युना वृक्णः कस्मान्मूलात्प्ररोहति ॥४॥

रेतस इति मा वोचत जीवतस्तत्प्रजायते ॥
धानारुह इव वै वृक्षोऽञ्जसा प्रेत्य संभवः ॥५॥

वृक्ष को यदि काट लिया जाता है, तो वह पुनः-पुनः अपनी जड़ से पूर्व की अपेक्षा नूतनतर होकर प्रकट होता है। वैसे ही यदि मृत्यु मनुष्य को काट डाले, तो वह किस मूल से उत्पन्न होगा अर्थात् मृत पुरुष की उत्पत्ति कहाँ से होगी?॥४॥

यदि तुम कहो कि वह वीर्य से उत्पन्न होता है, तो ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि वीर्य जीवित पुरुष से ही उत्पन्न होता है; मृत से नहीं। वृक्ष भी केवल तने से नहीं निकलता, किन्तु बीज से भी उत्पन्न होता है। पर बीज से उत्पन्न होने वाला वृक्ष कट जाने के बाद अंकुरित होता हुआ प्रत्यक्ष देखा गया है॥५॥

यद्यदि वृक्षो वृक्णश्छिन्नो रोहति पुनः प्ररोहति प्रादुर्भवति **मूलात्पुनर्नवतरः** पूर्वस्मादभिनवतरः। यदेतस्माद्विशेषणात्प्राग्वनस्पतेः पुरुषस्य च सर्वं सामान्यमवगतम्। अयं तु वनस्पतौ विशेषो दृश्यते यच्छिन्नस्य प्ररोहणम्। न तु पुरुषस्य मृत्युना वृक्णस्य वृक्षस्येव पुनः प्ररोहणं दृश्यते। भवितव्यं च कुतश्चित्प्ररोहणेन। तस्माद्वः पृच्छामि **मर्त्यो** मनुष्यः **स्विन्मृत्युना वृक्णः कस्मान्मूलात्प्ररोहति** मृतस्य कुतः प्ररोहणमित्यर्थः ॥४॥

यदि चेदेवं वदथ **रेतसः** प्ररोहतीति **मा वोचत** मैवं वक्तुमर्हथ। कस्मात्। यस्माज्जीवतः पुरुषात्तद्रेतः **प्रजायते** न मृतात्। अपि च **धानारुहो** धाना बीजं बीजरुहोऽपि वृक्षो भवति न केवलं काण्डरुह एव। **इव**शब्दोऽनर्थकः। **वै वृक्षोऽञ्जसा** साक्षात्प्रेत्य मृत्वा **संभवो** धानातोऽपि प्रेत्य संभवो भवेदञ्जसा पुनर्वनस्पतेः ॥५॥

roots यत्समूलमावृहेयुर्वृक्षं न पुनराभवेत्।
मर्त्यः स्विन्मृत्युना वृक्णः कस्मान्मूलात्प्ररोहति ॥६ ॥

everborn जात एव न जायते को न्वेनं जनयेत्पुनः ।?
A. विज्ञानमानन्दं ब्रह्म रातिर्दातुः परायणं तिष्ठमानस्य तद्विद who has realised brahman lives in it.
इति ॥७ ॥२८ ।

इति बृहदारण्यकोपनिषदि तृतीयाध्यायस्य
शाकल्यनामनवमं ब्राह्मणम् ॥९ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि तृतीयोऽध्यायः ॥३ ॥

बृहदारण्यकक्रमेण पञ्चमोऽध्यायः ॥५ ॥

यदि वृक्ष को मूल से उखाड़ दिया जाय तो वह फिर कहीं से आकर उत्पन्न नहीं होगा। वैसे ही यदि मृत्यु मनुष्य का छेदन कर डाले तो वह किस मूल से उत्पन्न होगा? ॥६ ॥

पुरुष जो उत्पन्न हो ही गया है, फिर वह उत्पन्न नहीं होता (तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि मरकर पुनर्जन्म होता ही है) ऐसी स्थिति में मृत्यु के बाद पुनर्जन्म किससे होगा? (इन प्रश्नों का उत्तर ब्राह्मणों से न दिये जाने पर श्रुति स्वयं देती है) विज्ञान आनन्दस्वरूप ब्रह्म है, वह स्वयं धन का देने वाला है, कर्म कर्ता यजमान की परम गति है और ब्रह्मज्ञानी का परम आश्रय है ॥७ ॥२८ ॥

यद्यदि सह मूलेन धानया वाऽऽवृहेयुरुद्यच्छेयुरुत्पाटयेयुर्वृक्षं **न पुनराभवेत्**पुनरागत्य न भवेत्। तस्माद्वः पृच्छामि सर्वस्यैव जगतो मूलं **मर्त्यः स्विन्मृत्युना वृक्णः कस्मान्मूलात्प्ररोहति** ॥६ ॥

जात एवेति मन्यध्वं यदि किमत्र प्रष्टव्यमिति। जनिष्यमाणस्य हि संभवः प्रष्टव्यो न जातस्य, अयं तु जात एवातोऽस्मिन्विषये प्रश्न एव नोपपद्यत इति चेत्।

न। किं तर्हि? मृतः पुनरपि जायत एवान्यथाऽकृताभ्यागमकृतनाशप्रसङ्गात्। अतो वः पृच्छामि **को न्वेनं मृतं पुनर्जनयेत्**। तन्न विजज्ञुर्ब्राह्मणा यतो मृतः पुनः प्ररोहति जगतो मूलं न विज्ञातं ब्राह्मणैः। अतो ब्रह्मिष्ठत्वाद्धृता गावो याज्ञवल्क्येन जिता ब्राह्मणाः। समाप्ताऽऽख्यायिका। यज्जगतो मूलं येन च शब्देन साक्षाद्व्यदिश्यते ब्रह्म यद्याज्ञवल्क्यो ब्राह्मणान्पृष्टवांस्तत्स्वेन रूपेण श्रुतिरस्मभ्यमाह—**विज्ञानं** विज्ञप्तिर्विज्ञानं तच्चाऽऽ**नन्दं** न विषयविज्ञानवद्दुःखानुविद्धं किं तर्हि प्रसन्नं शिवमतुलमनायासं नित्यतृप्तमेकरसमित्यर्थः। किं तद्**ब्रह्मो**भयविशेषणव**द्राती** रातेः षष्ठ्यर्थे प्रथमा धनस्येत्यर्थः। धनस्य **दातुः** कर्मकृतो यजमानस्य **परायणं** परा गतिः कर्मफलस्य प्रदातृ। किं च व्युत्थायैषणाभ्यस्तस्मिन्नेव ब्रह्मणि तिष्ठत्यकर्मकृत्तद्ब्रह्म वेत्तीति तद्विच्च तस्य **तिष्ठमानस्य च तद्विदो** ब्रह्मविद इत्यर्थः। परायणमिति।

अत्रेदं विचार्यते। आनन्दशब्दो लोके सुखवाची प्रसिद्धः। अत्र च ब्रह्मणो विशेषणत्वेनाऽऽनन्दशब्दः श्रूयत "आनन्दं ब्रह्मेति"। श्रुत्यन्तरे च। "आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्" "आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्" "यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्" "यो वै भूमा तत्सुखम्" इति च। "एष परम आनन्दः" इत्येवमाद्याः। संवेद्ये च सुख आनन्दशब्दः प्रसिद्धः। ब्रह्मानन्दश्च यदि संवेद्यः स्याद्युक्ता एते ब्रह्मण्यानन्दशब्दाः। ननु च श्रुतिप्रामाण्यात्संवेद्यानन्दस्वरूपमेव ब्रह्म किं तत्र विचार्यमिति? न। विरुद्धश्रुतिवाक्यदर्शनात्। सत्यमानन्दशब्दो ब्रह्मणि श्रूयते विज्ञानप्रतिषेधश्चैकत्वे "यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्तत्केन कं विजानीयाद्यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा" "प्राज्ञेनाऽऽत्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद" इत्यादि। विरुद्धश्रुतिवाक्यदर्शनात्तेन कर्तव्यो विचारः। तस्माद्युक्तं वेदवाक्यार्थनिर्णयाय विचारयितुम्।

मोक्षवादिविप्रतिपत्तेश्च। सांख्या वैशेषिकाश्च मोक्षवादिनो नास्ति मोक्षे सुखं संवेद्यमित्येवं विप्रतिपन्नाः। अन्ये निरतिशयं सुखं स्वसंवेद्यमिति प्रतिपन्नाः। किं

तावद्युक्तमानन्दादिश्रवणात्। ''जक्षत्क्रीडन्रममाणः'' ''स यदि पितृलोककामो भवति'' ''यः सर्वज्ञः सर्ववित्'' ''सर्वान्कामान्समश्नुते'' इत्यादिश्रुतिभ्यो मोक्षे सुखं संवेद्यमिति। नन्वेकत्वे कारकविभागाभावाद्विज्ञानानुपपत्तिः। क्रियायाश्चानेककारकसाध्यत्वाद्विज्ञानस्य च क्रियात्वात्। नैष दोषः। शब्दप्रामाण्याद्भवेद्विज्ञानमानन्दविषये। विज्ञानमानन्दमित्यादीन्यानन्दस्वरूपस्यासंवेद्यत्वेऽनुपपन्नानि वचनानीत्यवोचाम।

ननु वचनेनाप्यग्नेः शैत्यमुदकस्य चौष्ण्यं न क्रियत एव ज्ञापकत्वाद्वचनानाम्। न च देशान्तरेऽग्निः शीत इति शक्यते ज्ञापयितुमगम्ये वा देशान्तर उष्णमुदकमिति। न, प्रत्यगात्मन्यानन्दविज्ञानदर्शनात्। न विज्ञानमानन्दमित्येवमादीनां वचनानां शीतोऽग्निरित्यादिवाक्यवत्प्रत्यक्षादिविरुद्धार्थप्रतिपादकत्वम्।

अनुभूयते त्वविरुद्धार्थता। सुख्यहमिति सुखात्मकमात्मानं स्वयमेव वेदयते। तस्मात्सुतरां प्रत्यक्षाऽविरुद्धार्थता। तस्मादानन्दं ब्रह्म विज्ञानात्मकं सत्स्वयमेव वेदयते। तथाऽऽनन्दप्रतिपादिकाः श्रुतयः समञ्जसाः स्युः "जक्षत्क्रीडन्रममाण" इत्येवमाद्याः पूर्वोक्ताः।

न। कार्यकरणाभावेऽनुपपत्तेर्विज्ञानस्य। शरीरवियोगो हि मोक्ष आत्यन्तिकः। शरीराभावे च करणानुपपत्तिराश्रयाभावात्। ततश्च विज्ञानानुपपत्तिरकार्यकरणत्वात्। देहाद्यभावे च विज्ञानोत्पत्तौ सर्वेषां कार्यकरणोपादानानर्थक्यप्रसङ्गः। एकत्वविरोधाच्च।

परं चेद्ब्रह्माऽऽनन्दात्मकमात्मानं नित्यविज्ञानत्वान्नित्यमेव विजानीयात्। तन्न। संसार्यपि संसारविनिर्मुक्तः स्वाभाव्यं प्रतिपद्येत। जलाशय इवोदकाञ्जलिः प्रक्षिप्तो न पृथक्त्वेन व्यवतिष्ठत आनन्दात्मकब्रह्मविज्ञानाय। तदा मुक्त आनन्दात्मकमात्मानं वेदयत इत्येतदनर्थकं वाक्यम्।

अथ ब्रह्मानन्दमन्यः सन्मुक्तो वेदयते प्रत्यगात्मानमहमस्म्यानन्दस्वरूप इति। तदैकत्वविरोधः। तथा च सति सर्वश्रुतिविरोधः। तृतीया च कल्पना नोपपद्यते।

किंचान्यद्ब्रह्मणश्च निरन्तरात्मानन्दविज्ञाने विज्ञानाविज्ञानकल्पनाऽऽनर्थक्यम्। निरन्तरं चेदात्मानन्दविषयं ब्रह्मणो विज्ञानं तदेव तस्य स्वभाव इत्यात्मानन्दं विजानातीति कल्पनाऽनुपपन्ना। अतद्विज्ञानप्रसङ्गे हि कल्पनाया अर्थवत्त्वं यथाऽऽत्मानं परं च वेत्तीति। न हीष्वाद्यासक्तमनसो नैरन्तर्येणेषुज्ञानाज्ञानकल्पनाया अर्थवत्त्वम्।

अथ विच्छिन्नमात्मानन्दं विजानाति। विज्ञानस्याऽऽत्मविज्ञानच्छिद्रेऽन्यविषयत्वप्रसङ्गः। आत्मनश्च विक्रियावत्त्वं ततश्चानित्यत्वप्रसङ्गः। तस्माद्विज्ञानमानन्दमिति स्वरूपान्वाख्यानपरैव श्रुतिर्नाऽऽत्मानन्दसंवेद्यत्वार्था। जक्षत्क्रीडन्नित्यादिश्रुतिविरोधोऽसंवेद्यत्व इति चेन्न। सर्वात्मैकत्वे यथाप्राप्तानुवादित्वात्। मुक्तस्य सर्वात्मभावे सति यत्र क्वचिद्योगिषु देवेषु वा जक्षणादि प्राप्तं तद्यथाप्राप्तमेवानूद्यते। तत्तस्यैव सर्वात्मभावादिति सर्वात्मभावमोक्षस्तुतये।

यथाप्राप्तानुवादित्वे दुःखित्वमपीति चेत्। योग्यादिषु यथाप्राप्तजक्षणादिवत्स्थावरादिषु यथाप्राप्तदुःखित्वमपीति चेत्। न। नामरूपकृतकार्यकरणोपाधिसंपर्कजनितभ्रान्त्यध्यारोपितत्वात्सुखित्वदुःखित्वादिविशेषस्येति परिहृतमेतत्सर्वम्। विरुद्धश्रुतीनां च विषयमवोचाम। तस्मादेषोऽस्य परम आनन्द इतिवत्सर्वाण्यानन्दवाक्यानि द्रष्टव्यानि॥७ ॥२८॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये तृतीयाध्यायस्य
शाकल्यनामनवमं ब्राह्मणम्॥९॥

इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य परमहंसपरिव्राजकाचार्य
श्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये
तृतीयोऽध्यायः॥३॥

❀❀❀

उपक्रम उपसंहार : (a) इन्धो ह वै नाम (सामान्य उपक्रम) 4-2-2
(a) किं ज्योतिरयं पुरुष इति. (विशेष उपक्रम) 4-3-2.
(सामान्य उपसंहार) :- अभयं वै जनक प्राप्तोसि 4-24
स वा एष महानज आत्मा. 4.4-25
{ यत्र त्वस्य सर्वं आत्मैवाभूत } 4-5-15..
विशेष उपसंहार : { यत्र त्वस्य सर्वं आत्मैवाभूत: }

ॐ अभ्यास:- तद्देवा ज्योतिषां ज्योति: आयुः होपासतेऽमृतं 4-4-16.
अपूर्वता: ① विज्ञातारमरे केन विजानीयात् 4-5-15 ② अगृह्यो न हि गृह्यते 4-4-22
③ न तं पश्यति कश्चन 4-3-14.
फल:- अथा कामयमानो यो. 4-4-6 to 8.
अर्थवाद:- मृत्योः स मृत्युमाप्नोति 4-4-19. एतमु हैवैते न तरत. 4-4-22,23.
उपपत्ति: ① यद् वै तन्न पश्यति. ॐ 4-3-23 to 30.
② प्राणस्य प्राणं उत 4-4-18.

अथ चतुर्थाध्यायस्य

① न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति. 4-5-6,8 to 13.

। षडाचारनामप्रथमं ब्राह्मणम् ।

(राजा जनक-याज्ञवल्क्य संवाद)

ॐ जनको ह वैदेह आसांचक्रेऽथ ह याज्ञवल्क्य आवव्राज। तथंहोवाच याज्ञवल्क्य किमर्थमचारीः पशूनिच्छन्नण्वन्तानिति। उभयमेव सम्राडिति होवाच॥१॥

सूक्ष्मान्तान् सूक्ष्मवस्तु निर्णयान्तान् प्रश्नान् / ब्रह्म

राजा जनक जी का आमन्त्रण नहीं गया। याज्ञवल्क्य सूचना नहीं दिया।

जब प्रसिद्ध विद्वान् विदेहाधिपति राजा जनक (स्वस्थचित्त हो अपने) राजसिंहासन पर आसीन थे, तब महर्षि याज्ञवल्क्य उनके पास आये। याज्ञवल्क्य से जनक ने कहा— हे याज्ञवल्क्य! आप किस प्रयोजन को लेकर यहाँ आये हैं? क्या पशुरूपी धन की इच्छा से या सूक्ष्मातिसूक्ष्म अत्यन्त गोपनीय पदार्थ के प्रश्नों को सुनने के लिये आये हैं? (अर्थात् विभिन्न आचार्यों से श्रवण किये हुए हमारे ज्ञान को प्रमाणित करने के लिए आये हैं?) इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा— हे सम्राट! मैं उक्त दोनों ही कार्यों के लिये आया हूँ ॥१॥

जनको ह वैदेह आसांचक्रे। अस्य संबन्धः। शारीराद्यानष्टौ पुरुषा- (हृदयात्) न्निरुह्य प्रत्युह्य पुनर्हृदये दिग्भेदेन च पुनः पञ्चधा व्यूह्य हृदये प्रत्युह्य हृदयं शरीरं च पुनरन्योन्यप्रतिष्ठं प्राणादिपञ्चवृत्त्यात्मके समानाख्ये जगदात्मनि सूत्रे उपसंहृत्य जगदात्मानं शरीरहृदयसूत्रावस्थमतिक्रान्तवान्य औपनिषदः पुरुषो नेति नेतीति व्यपदिष्टः, स साक्षाच्चोपादानकारणस्वरूपेण च निर्दिष्टो ''विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'' इति। तस्यैव वागादिदेवताद्वारेण पुनरधिगमः कर्तव्य इत्यधिगमोपायान्तरार्थोऽयमारम्भो ब्राह्मणद्वयस्य। आख्यायिका त्वाचारप्रदर्शनार्था —

जनको ह वैदेह आसांचक्रे आसनं कृतवानास्थायिकां दत्तवानित्यर्थः। दर्शनकामेभ्यो राज्ञः। **अथ ह** तस्मिन्नवसरे याज्ञवल्क्य **आवव्राजा**ऽऽ-

यत्ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेत्यब्रवीन्मे जित्वा शैलिनिर्वाग्वै ब्रह्मेति यथा मातृमान्पितृमानाचार्यवान्ब्रूयात्तथा तच्छैलिनिरब्रवीद्वाग्वै ब्रह्मेत्यवदतो हि किꣳ स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्याऽऽयतनं प्रतिष्ठां न मेऽब्रवीदित्येकपाद्वा एतत्सम्राडिति स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य। वागेवाऽऽयतनमाकाशः प्रतिष्ठा, प्रज्ञेत्येनदु-

(याज्ञवल्क्य ने जनक से कहा— हे राजन्!) जो कुछ किसी आचार्य ने आप से कहा है, उसे मैं सुनना चाहता हूँ। तब जनक ने कहा कि शिलिन ऋषि के पुत्र जित्वा ने मुझसे कहा था कि निःसन्देह वाणी देवता ही ब्रह्म है। याज्ञवल्क्य ने कहा— शैलिनि ने बहुत ठीक कहा है, जैसे माता, पिता आचार्य द्वारा अच्छी प्रकार सुशिक्षित पुरुष शिष्य को उपदेश करें, वैसे ही शैलिनी ने आप से कहा है, निःसन्देह वाणी ही ब्रह्म है क्योंकि न बोलने वाले या गूँगे से लोगों का कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। पर यह तो बतलाइये कि उसने उसके आयतन एवं प्रतिष्ठा को भी आपसे कहा या नहीं। जनक ने कहा— नहीं।

गतवानात्मनो योगक्षेमार्थं राज्ञो वा विविदिषां दृष्ट्वाऽनुग्रहार्थम्। **तमागतं याज्ञवल्क्यं** यथावत्पूजां **कृत्वोवाच** होक्तवाञ्जनको, हे **याज्ञवल्क्य किमर्थमचारीरागतोऽसि**, किं **पशूनिच्छन्पुनरप्याहोस्विदण्वन्तान्**सूक्ष्मान्तान्सूक्ष्मवस्तुनिर्णयान्तान्प्रश्नान्मत्तः श्रोतुमिच्छन्निति। **उभयमेव** पशून्प्रश्नांश्च हे **सम्राट्**। **सम्राडिति** वाजपेययाजिनो लिङ्गं यश्चाऽऽज्ञया राज्यं प्रशास्ति स **सम्राट्** तस्याऽऽमन्त्रणं हे **सम्राडिति**, समस्तस्य वा भारतस्य वर्षस्य राजा॥१॥

किं तु **यत्ते** तुभ्यं **कश्चिदब्रवीदा**चार्योऽनेकाचार्यसेवी हि भवांस्त**च्छृणवामेति**। इतर आह— **अब्रवीदु**क्तवान्**मे** ममाऽऽचार्यो **जित्वा** नामतः शिलिनस्यापत्यं **शैलिनिर्वाग्वै ब्रह्मेति** वाग्देवता ब्रह्मेति। आहेतरो **यथा मातृमान्**माता यस्य विद्यते पुत्रस्य सम्यगनुशास्त्र्यनुशासनकर्त्री स मातृमान्। अत ऊर्ध्वं

पासीत। का प्रज्ञता याज्ञवल्क्य। वागेव सम्राडिति होवाच। वाचा वै सम्राड्बन्धुः प्रज्ञायत ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानीष्टꣳ हुतमाशितं पायितमयं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि वाचैव सम्राट्प्रज्ञायन्ते वाग्वै सम्राट्परमं ब्रह्म नैनं वाग्जहाति सर्वाण्येनं भूतान्य-

इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा— हे राजन्! तब तो ब्रह्म के एक पाद का ही यह उपदेश उसने किया। जनक ने कहा— हे याज्ञवल्क्य! कृपया उस अवशिष्ट तत्त्व को आप बतलावें। याज्ञवल्क्य ने कहा— वाणी ही उस वागरूप ब्रह्म का आयतन है, और अव्याकृत आकाश प्रतिष्ठा है। इसकी उपासना प्रज्ञारूप से करनी चाहिये क्योंकि प्रज्ञा उस ब्रह्म का चतुर्थ पाद है। इस पर जनक ने पूछा— प्रज्ञता क्या है अर्थात् आयतन और प्रतिष्ठा के समान क्या उससे भिन्न है? याज्ञवल्क्य ने कहा— हे महाराज! वाणी ही प्रज्ञता है। हे सम्राट्! वाणी से ही ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वाङ्गिरसवेद, इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषत्, श्लोक, सूत्र, अनुव्याख्यान, व्याख्यान, इष्ट, हुत, आशित, पायित, यह लोक, परलोक, एवं सम्पूर्ण प्राणी जाने जाते हैं। अतः हे सम्राट्! वाणी ही परब्रह्म है। जो पुरुष इस प्रकार जानकर इसकी उपासना करता है, उस उपासक को वाणी नहीं छोड़ती, सभी भूत भेंट लेकर उसका अनुसरण करते हैं। वह देव होकर देवों को प्राप्त करता है। इस पर विदेहराज

पिता यस्यानुशास्ता स **पितृमान्**। उपनयनादूर्ध्वमासमावर्तनादाचार्यो यस्यानुशास्ता **आचार्यवान्**। एवं शुद्धित्रयहेतुसंयुक्तः स साक्षादाचार्यः स्वयं न कदाचिदपि प्रामाण्याद्व्यभिचरति। स यथा **ब्रूयाच्छिष्याय तथा**ऽसौ जित्वा **शैलिनिरुक्तवान्वाग्वै ब्रह्मेति। अवदतो हि किं स्यादिति**। न हि मूकस्येहार्थममुत्रार्थं वा किंचन स्यात्।

only with grammar you cannot understand Vedante. eg. कण्टकारी पूना ...

भिक्षरन्ति देवो भूत्वा देवानप्येति य एवं विद्वाने- तदुपास्ते। हस्त्यृषभꣳ सहस्त्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः। स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽम- न्यत नाननुशिष्य हरेतेति॥ २॥

ने कहा कि मैं इसके बदले आपको हाथी के समान बछड़ों को जन्म देने वाली एक हजार गोएँ देता हूँ। उस याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया— हे राजन्! मेरे पिता यह मानते और कहते थे कि शिष्य को उपदेश से कृतार्थ किये बिना, उसकी दी हुई दक्षिणा नहीं लेनी चाहिये॥२॥

किंत्वब्रवीदुक्तवांस्ते तुभ्यं **तस्य** ब्रह्मण **आयतनं प्रतिष्ठां** च। आयतनं नाम शरीरम्। प्रतिष्ठा त्रिष्वपि कालेषु य आश्रयः। आहेतरो **न मेऽब्रवीदिति**। इतर आह— **यद्येवमेकपाद्वा एतदेकः** पादो यस्य ब्रह्मणस्तदिदमेकपाद्ब्रह्म त्रिभिः पादैः शून्यमुपास्यमानमपि न फलाय भवतीत्यर्थः। यद्येवं **स** त्वं विद्वान्सन्नोऽस्मभ्यं **ब्रूहि** हे **याज्ञवल्क्येति**। स चाऽऽह— **वागेवाऽऽयतनं** वाग्देवस्य ब्रह्मणो वागेव करणमायतनं शरीर**माकाशो**ऽव्याकृताख्यः **प्रतिष्ठा**ऽऽश्रय उत्पत्तिस्थितिलयकालेषु। **प्रज्ञेत्येनदुपासीत** प्रज्ञेतीयमुपनिषद्ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः प्रज्ञेति कृत्वैनद्ब्रह्मोपासीत।

का प्रज्ञता याज्ञवल्क्य किं स्वयमेव प्रज्ञोत प्रज्ञानिमित्ता। यथाऽऽयतनप्रतिष्ठे ब्रह्मणो व्यतिरिक्ते तद्वत्किम्। न, कथं तर्हि, **वागेव सम्राडिति होवाच** वागेव प्रज्ञेति होवाचोक्तवान्न व्यतिरिक्ता प्रज्ञेति। कथं पुनर्वागेव प्रज्ञेति, उच्यते— **वाचा वै सम्राड्बन्धुः प्रज्ञायते**ऽस्माकं बन्धुरित्युक्ते प्रज्ञायते बन्धुस्त**थर्ग्वेदादि**। **इष्टं** यागनिमित्तं धर्मजातं **हुतं** होमनिमित्तं च। **आशितं** मन्नदाननिमित्तं **पायितं** पानदाननिमित्त**मयं च लोक** इदं च जन्म **परश्च लोकः** प्रतिपत्तव्यं च जन्म **सर्वाणि च भूतानि वाचैव सम्राट्प्रज्ञा-**

यदेव ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेत्यब्रवीन्मे उदङ्कः शौल्बायनः प्राणो वै ब्रह्मेति यथा मातृमान्पितृमानाचार्यवान्ब्रूयात्तथा तच्छौल्बायनोऽब्रवीत्प्राणो वै ब्रह्मेत्यप्राणतो हि किꣳ स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्याऽऽयतनं प्रतिष्ठां न मेऽब्रवीदित्येकपाद्वा एतत्सम्राडिति स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य प्राण एवाऽऽयतन-

(फिर याज्ञवल्क्य ने जनक से कहा— हे राजन्!) जो भी आप से किसी ने कहा है; उसे मैं सुनना चाहता हूँ। जनक ने उत्तर दिया— हे याज्ञवल्क्य! शुल्ब ऋषि के पुत्र उदंक ने मुझसे कहा था कि प्राण ही ब्रह्म है। इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा— शौल्बायन ने बहुत ठीक कहा है। जैसे माता, पिता और आचार्य द्वारा पूर्ण शिक्षित पुरुष अपने शिष्य को शिक्षा देवे; वैसे ही शौल्बायन ने आपसे कहा है। निःसंदेह प्राण ही ब्रह्म है, क्योंकि प्राणरहित पुरुष से लोक का क्या हित हो सकता है? पर क्या उस शौल्बायन ने प्राण रूप ब्रह्म के आयतन और प्रतिष्ठा को बतलाया? जनक ने कहा— नहीं। इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा— हे राजन्! तब तो एक पाद ब्रह्म का ही यह उपदेश है।

यन्तेऽतो वाग्वै सम्राट्परमं ब्रह्म नैनं यथोक्तब्रह्मविदं **वाग्जहाति। सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति** बलिदानादिभिरिह **देवो भूत्वा** पुनः शरीरपातोत्तरकालं **देवानप्येत्यपिगच्छति य एवं विद्वानेतदुपास्ते**। विद्यानिष्क्रयार्थं हस्तितुल्य ऋषभो हस्त्यृषभो यस्मिन्गोसहस्रे **तद्धस्त्यृषभं सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः। स होवाच याज्ञवल्क्यः। अननुशिष्य** शिष्यं कृतार्थमकृत्वा शिष्याद्धनं **न हरेतेति मे** मम **पिताऽमन्यत** ममाप्ययमेवाभिप्रायः॥२॥

यदेव ते कश्चिदब्रवीदुदङ्को नामतः शुल्बस्यापत्यं **शौल्बायनोऽब्रवीत्प्राणो वै ब्रह्मेति** प्राणो वायुर्देवता पूर्ववत्। **प्राण एवाऽऽयतनमाकाशः प्रतिष्ठोपनिषत्प्रियमित्येनदुपासीत**। कथं पुनः प्रियत्वं, **प्राणस्य**

सुवर्णं विषवत् त्याज्यं सभास्थलं शववत् त्याज्यं ।
भिक्षुणां राजधानी च त्याज्या कुम्भीपाक नरकमिव ॥

माकाशः प्रतिष्ठा प्रियमित्येनदुपासीत का प्रियता याज्ञवल्क्य प्राण एव सम्राडिति होवाच प्राणस्य वै सम्राट्कामायायाज्यं याजयत्यप्रतिगृह्यस्य प्रतिगृह्णात्यपि तत्र वधाशङ्कं भवति यां दिशमेति प्राणस्यैव सम्राट्कामाय प्राणो वै सम्राट्परमं ब्रह्म नैनं प्राणो जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति देवो भूत्वा देवानप्येति य एवं विद्वानेतदुपास्ते हस्त्यृषभꣳ सहस्रं

जनक ने कहा— हे याज्ञवल्क्य! कृपया उस अवशिष्ट तत्त्व को आप ही मुझे बतलावें कि प्राणब्रह्म का आयतन और प्रतिष्ठा क्या है? याज्ञवल्क्य ने कहा— प्राण ही उसका आयतन है और आकाश प्रतिष्ठा है (आयतन बतलाते समय प्राणादि शब्द करण अर्थ में प्रयोग किये गये हैं)। इसकी उपासना प्रियरूप से करनी चाहिये क्योंकि ''प्रिय'' यह उसका चतुर्थ पाद है। तब जनक ने पूछा— हे याज्ञवल्क्य! प्रियता क्या है? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया— प्राण ही प्रियता है क्योंकि हे राजन्! प्राण के लिये अयाज्य (याग के अनधिकारी) पुरुष से भी यज्ञ कराते हैं तथा प्रतिग्रह के अयोग्य पुरुष से भी दान लेते हैं और जिस देश में जाते हैं, वहाँ पर चोरादि से वध की आशङ्का करते हैं। हे सम्राट्! निसन्देह यह सब प्राण के लिये ही होता है। अतः हे राजन् यह प्राण परब्रह्मरूप है। जो इस प्रकार जान कर उपासना करता है, उसे प्राण नहीं छोड़ता। सभी भूत उसका अनुसरण करते हैं। वह उपासक देव होकर देवों को प्राप्त होता है। इस पर जनक ने कहा—हे याज्ञवल्क्य ! इस उपदेश के बदले हाथी के समान बछड़े जन्म देने वाली एक हजार गौएँ देता हूँ।

वै हे सम्राट्कामाय प्राणस्यार्थायायाज्यं **याजयति** पतितादिकमप्य**प्रतिगृह्यस्या**प्युग्रादेः **प्रतिगृह्णात्यपि तत्र** तस्यां दिशि वधनिमित्तमा**शङ्कं**-वधाशङ्केत्यर्थो **यां दिशमेति** तस्कराद्याकीर्णां च तस्यां दिशि वधाशङ्का तच्चै-

ददामीति होवाच जनको वैदेहः स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति॥ ३॥

यदेव ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेत्यब्रवीन्मे बर्कुर्वार्ष्णश्चक्षुर्वै ब्रह्मेति यथा मातृमान्पितृमानाचार्यवान्ब्रूयात्तथा तद्वार्ष्णोऽब्रवीच्चक्षुर्वै ब्रह्मेत्यपश्यतो हि किꣳ स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्याऽऽयतनं प्रतिष्ठां न मेऽब्रवीदित्येकपाद्वा एतत्सम्राडिति स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य चक्षुरेवाऽऽयतनमाकाशः प्रतिष्ठा सत्यमित्येनदुपासीत का सत्यता याज्ञवल्क्य चक्षुरेव सम्राडिति होवाच

याज्ञवल्क्य ने कहा— मेरे पिता की यह मान्यता रही है कि शिष्य को उपदेश से कृतार्थ किये बिना उसकी भेंट को स्वीकार नहीं करना चाहिये॥३॥

(फिर याज्ञवल्क्य ने राजा से कहा— हे राजन्!) जो कुछ आप से किसी आचार्य ने कहा है, उसे मैं सुनना चाहता हूँ। जनक ने उत्तर दिया— हे याज्ञवल्क्य! वृष्ण ऋषि के पुत्र बर्कु ने मुझसे कहा था कि नेत्र ही ब्रह्म है। याज्ञवल्क्य ने कहा— वृष्णपुत्र ने बहुत ठीक कहा है। जैसे माता, पिता और आचार्य के द्वारा शिक्षित पुरुष अपने शिष्य

तत्सर्वं प्राणस्य प्रियत्वे भवति **प्राणस्यैव सम्राट्कामाय**। तस्मात्प्राणो **वै सम्राट्परमं ब्रह्म नैनं प्राणो जहाति**। समानमन्यत्॥ ३॥

यदेव ते कश्चिद्बर्कुरिति नामतो वृष्णस्यापत्यं **वार्ष्णश्चक्षुर्वै ब्रह्म**त्यादित्यो देवता चक्षुष्युपनिषत्सत्यम्। यस्माच्छ्रोत्रेण श्रुतमनृतमपि स्यान्न तु चक्षुषा दृष्टम्। तस्माद्वै **सम्राट् पश्यन्तमाहु**र्लोका **अद्राक्षी**स्त्वं हस्तिनमिति स

निद्राभंगः कथा छेदो दम्पत्योः प्रीतिभेदनम्।
शिशुमातृ विभेदश्च ब्रह्महत्या समं श्रुतम्॥ देवीभागवत

चक्षुषा वै सम्राट्पश्यन्तमाहुरद्राक्षीरिति स आहाद्राक्षमिति तत्सत्यं भवति चक्षुर्वै सम्राट्परमं ब्रह्म नैनं चक्षुर्जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति देवो भूत्वा देवानप्येति य एवं विद्वानेतदुपास्ते हस्त्यृषभꣳ सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति॥४॥

को शिक्षा देवे, वैसे ही उस वार्ष्ण ने आप से कहा है। निःसन्देह नेत्र ही ब्रह्म है, क्योंकि न देखने वाले या नेत्रहीन पुरुष से क्या लाभ हो सकता है। पर यह तो बतलावें, क्या उसने उस नेत्र ब्रह्म के आयतन और प्रतिष्ठा को भी बतलाया है? जनक ने कहा— नहीं। इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा — हे राजन्! तब तो एक पाद ब्रह्म का ही यह उपदेश है। जनक ने कहा — हे याज्ञवल्क्य! तो कृपया आप ही उस अवशिष्ट तत्त्व को बतलावें। याज्ञवल्क्य ने कहा — नेत्र ही आयतन है और आकाश प्रतिष्ठा है। इसकी उपासना सत्यरूप से करनी चाहिये क्योंकि सत्य उसका चतुर्थ पाद है। जनक ने कहा— हे याज्ञवल्क्य! सत्यता क्या है? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया— नेत्र ही सत्यता है क्योंकि हे राजन्! नेत्र से देखने वाले को जब पूछते हैं, क्या तुमने देखा है, तब यदि वह कहे कि हाँ मैंने देखा है तो वह बात सत्य मानी जाती है। हे सम्राट्! नेत्र ही परब्रह्म है। जो इसे इस प्रकार जानकर इसकी उपासना करता है, उसे नेत्र त्यागता नहीं। सभी प्राणी उसका अनुसरण करते हैं और वह देव होकर देवों को प्राप्त करता है। इस पर जनक ने कहा— हे याज्ञवल्क्य! इसके बदले मैं आपको हाथी के समान बछड़ों को उत्पन्न करने वाली एक सहस्र गौएँ देता हूँ। याज्ञवल्क्य ने कहा— मेरे पिता का यह सिद्धान्त रहा है कि शिष्य को कृतार्थ किये बिना उसका धन नहीं लेना चाहिये॥४॥

चेदद्राक्षमित्याह तत्सत्यमेव भवति। यस्त्वन्यो ब्रूयादहमश्रौषमिति। तद्व्यभिचरति। यत्तु चक्षुषा दृष्टं तदव्यभिचारित्वात्सत्यमेव भवति॥४॥

यदेव ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेत्यब्रवीन्मे गर्दभीविपीतो भारद्वाजः श्रोत्रं वै ब्रह्मेति यथा मातृमान्पितृमानाचार्यवान्ब्रूयात्तथा तद्भारद्वाजोऽब्रवीच्छ्रोत्रं वै ब्रह्मेत्यशृण्वतो हि किꣳ स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्याऽऽयतनं प्रतिष्ठां न मेऽब्रवीदित्येकपाद्वा एतत्सम्राडिति स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य श्रोत्रमेवाऽऽयतनमाकाशः प्रतिष्ठाऽनन्त इत्येनदुपासीत काऽनन्तता याज्ञवल्क्य दिश एव सम्राडिति होवाच तस्माद्वै सम्राडपि यां कां च दिशं गच्छति नैवास्या अन्तं गच्छत्यनन्ता हि दिशो दिशो वै सम्राट्श्रोत्रꣳ श्रोत्रं वै सम्राट्परमं ब्रह्म नैनꣳ श्रोत्रं जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति देवो भूत्वा देवानप्येति य एवं विद्वानेतदुपास्ते हस्त्यृ-

(तत्पश्चात् पुनः याज्ञवल्क्य ने जनक से कहा— हे राजन्!) आपसे जो कुछ किसी आचार्य ने कहा है, उसे मैं सुनना चाहता हूँ। जनक ने कहा— हे याज्ञवल्क्य! भारद्वाज गोत्र में उत्पन्न गर्दभीविपीत ने मुझसे कहा था कि श्रोत्र ही ब्रह्म है। इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा— उसने बहुत ठीक कहा है। जैसे माता, पिता और आचार्य से पूर्ण शिक्षित पुरुष अपने शिष्य को बतलावे, वैसे ही गर्दभीविपीत ने आप से कहा है। निःसन्देह श्रोत्र ही ब्रह्म है क्योंकि न सुनने वाले या बधिर पुरुष से लोक का क्या हित हो सकता है। पर यह तो बतलावें कि उसने उस 'श्रोत्र'

यदेव ते गर्दभीविपीत इति नामतो **भारद्वाजो** गोत्रतः **श्रोत्रं वै ब्रह्मेति**। श्रोत्रे दिग्देवताऽ**नन्त इत्येनदुपासीत**। **काऽनन्तता** श्रोत्रस्य। **दिश एव** श्रोत्रस्याऽऽनन्त्यं **यस्मात्तस्माद्वै सम्राट्** प्राचीमुदीचीं वा **यां**

षभꣳ सहस्त्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति॥५॥

यदेव ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेत्यब्रवीन्मे सत्यकामो जाबालो मनो वै ब्रह्मेति यथा मातृमान्पितृमानाचार्य-

ब्रह्म के आयतन और प्रतिष्ठा को बतलाया है। जनक ने कहा— नहीं। याज्ञवल्क्य ने कहा— हे महाराज! यह उपदेश तो एक पाद ब्रह्म का है। इस पर जनक ने कहा— हे याज्ञवल्क्य! तब तो अवशिष्ट तत्त्व का उपदेश आप ही मुझे करें। याज्ञवल्क्य ने कहा— श्रोत्र ही इसका आयतन है, आकाश ही इसकी प्रतिष्ठा है। इस श्रोत्र ब्रह्म की अनन्तरूप से उपासना करनी चाहिये क्योंकि ''अनन्त'' यह उसका चतुर्थ पाद है। जनक ने पूछा— हे याज्ञवल्क्य! अनन्तता क्या है? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया— हे राजन्! दिशाएँ ही अनन्तता हैं। हे राजन्! इसलिए कोई भी जिस किसी दिशा में जाता है तो वह उसका अन्त नहीं पाता क्योंकि दिशाएँ ही अनन्त हैं। हे राजन्! दिशाएँ ही श्रोत्र हैं और हे सम्राट्! श्रोत्र ही परब्रह्म है जो इस प्रकार इसकी उपासना करता है; उसे श्रोत्र कभी नहीं छोड़ता। सभी भूत भेंट आदि लेकर उसका अनुसरण करते हैं तथा वह देव होकर देवों का अनुसरण करता है। इस रहस्यमय बात को सुनकर जनक ने कहा— हे याज्ञवल्क्य! मैं इसके बदले में आपको हाथी के समान बछड़े जनने वाली एक सहस्त्र गौएँ देता हूँ। उस याज्ञवल्क्य ने कहा— मेरे पिता का यह सिद्धान्त था कि शिष्य को उपदेश द्वारा कृतार्थ किये बिना उसका धन न लेवे॥५॥

(फिर याज्ञवल्क्य ने जनक से कहा— हे राजन्!) जो कुछ भी आपसे किसी आचार्य

कांचिदपि दिशं गच्छति नैवास्या अन्तं गच्छति कश्चिदपि। अतोऽ-**नन्ता हि दिशः। दिशो वै सम्राट्श्रोत्रम्।** तस्माद्दिगानन्त्यमेव श्रोत्रस्याऽऽनन्त्यम्॥५॥

सत्यकाम इति नामतो जबालाया अपत्यं **जाबालः**। चन्द्रमा मनसि

वान्ब्रूयात्तथा तज्जाबालोऽब्रवीन्मनो वै ब्रह्मेत्यमनसो हि किꣳ स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्याऽऽयतनं प्रतिष्ठां न मेऽब्रवीदित्येकपाद्वा एतत्सम्राडिति स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य मन एवाऽऽयतनमाकाशः प्रतिष्ठाऽऽनन्द इत्येनदुपासीत काऽऽनन्दता याज्ञवल्क्य मन एव सम्रा-

ने कहा है, उसे मैं सुनना चाहता हूँ। जनक ने कहा— हे याज्ञवल्क्य! जबला के पुत्र सत्यकाम ने मुझसे कहा था कि मन ही ब्रह्म है। याज्ञवल्क्य ने कहा— उसने उचित कहा है। जैसे माता, पिता और आचार्य के द्वारा पूर्ण शिक्षा प्राप्त पुरुष अपने शिष्य से कहे, वैसे ही सत्यकाम ने आपसे कहा है। निःसंदेह मन ही ब्रह्म है, क्योंकि मन के बिना कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। पर यह तो बतलावें, उस सत्यकाम ने क्या उस मनोब्रह्म के आयतन और प्रतिष्ठा को भी बतलाया है? जनक ने कहा— नहीं। याज्ञवल्क्य ने कहा— हे महाराज! तब तो यह उपदेश एक पाद ब्रह्म का ही है। इस पर जनक ने प्रार्थना की— हे याज्ञवल्क्य! उस अवशिष्ट तत्त्व का उपदेश आप ही करें! इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा— हे सम्राट्! मन ही आयतन है और आकाश प्रतिष्ठा है। यह मनोब्रह्म की उपासना आनन्दरूप से करनी चाहिये, क्योंकि 'आनंद' यह उसका चतुर्थ पाद है। जनक ने कहा— हे याज्ञवल्क्य! आनन्दता क्या है? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया— हे राजन्! मन ही आनन्दता है क्योंकि पुरुष मन से ही स्त्री को चाहता है और उसमें अपने अनुरूप पुत्र उत्पन्न करता है। वह आनन्दप्रद है। अतः हे सम्राट्! निःसंदेह मन ही परब्रह्म है। जो पुरुष ऐसा जानकर उस मनोब्रह्म की उपासना करता है, उसे मन कभी नहीं छोड़ता। सभी प्राणी उसका अनुसरण करते हैं और वह देव होकर देवों को प्राप्त करता है। जनक ने कहा— हे याज्ञवल्क्य! मैं इसके

देवता आनन्द इत्युपनिषत्। यस्मान्**मन एवाऽऽनन्दस्त**स्मान्**मनसा वै सम्राट्स्त्रियम**भिकामयमानो**ऽभिहार्यते** प्रार्थयत इत्यर्थः। तस्माद्यां स्त्रि-

डिति होवाच मनसा वै सम्राट्स्त्रियमभिहार्यते तस्यां प्रतिरूपः पुत्रो जायते स आनन्दो मनो वै सम्राट्परमं ब्रह्म नैनं मनो जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति देवो भूत्वा देवानप्येति य एवं विद्वानेतदुपास्ते हस्त्यृषभꣳ सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति॥६॥

यदेव ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेत्यब्रवीन्मे विदग्धः शाकल्यो हृदयं वै ब्रह्मेति यथा मातृमान्पितृमाना-

बदले हाथी के समान बछड़ों को जन्म देने वाली एक सहस्र गौएँ देता हूँ। याज्ञवल्क्य ने कहा— मेरे पिता का यह मत रहा है कि शिष्य को उपदेश द्वारा कृतार्थ किये बिना उसकी भेंट न लेवे॥६॥

(फिर याज्ञवल्क्य ने जनक से कहा— हे राजन्!) जो कुछ भी किसी आचार्य ने आप से कहा है— उसे मैं सुनना चाहता हूँ। जनक ने उत्तर दिया— हे याज्ञवल्क्य! शकलपुत्र विदग्ध ने मुझसे कहा था, हृदय ही ब्रह्म है। याज्ञवल्क्य ने कहा— शाकल्य का कहा हुआ ठीक ही है। जैसे माता, पिता और आचार्य से पूर्ण शिक्षित पुरुष अपने शिष्य को उपदेश करे, वैसे ही शाकल्य ने किया है। निःसन्देह हृदय ही ब्रह्म है क्योंकि हृदयशून्य

यमभिकामयमानोऽभिहार्यते **तस्यां प्रतिरूपो**ऽनुरूपः **पुत्रो जायते स आनन्द**हेतुः पुत्रः स येन मनसा निर्वर्त्यते तन्मन आनन्दः॥६॥

विदग्धःशाकल्यो हृदयं वै ब्रह्मेति। हृदयं वै सम्राट्सर्वेषां

चार्यवान्ब्रूयात्तथा तच्छाकल्योऽब्रवीद्धृदयं वै ब्रह्मेत्यहृदयस्य हि किꣳ स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्याऽऽयतनं प्रतिष्ठां न मेऽब्रवीदित्येकपाद्वा एतत्सम्राडिति स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य हृदयमेवाऽऽयतनमाकाशः प्रतिष्ठा स्थितिरित्येनदुपासीत का स्थितता याज्ञवल्क्य हृदयमेव सम्राडिति होवाच हृदयं वै सम्राट्सर्वेषां भूतानामायतनꣳ हृदयं वै सम्राट्सर्वेषां भूतानां प्रतिष्ठा हृदये ह्येव सम्राट्सर्वाणि भूतानि प्रतिष्ठितानि भवन्ति हृदयं वै सम्राट्परमं ब्रह्म नैनꣳ हृदयं जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति देवो भूत्वा देवानप्येति य एवं विद्वानेतदुपास्ते हस्त्यृषभꣳ सहस्रं ददामीति

पुरुष को क्या लाभ हो सकता है। पर आप यह बतलावें कि उस शाकल्य ने हृदय ब्रह्म के आयतन और प्रतिष्ठा भी बतलाए हैं? जनक ने कहा— नहीं। याज्ञवल्क्य ने कहा— हे महाराज! यह उपदेश एक पाद ब्रह्म का ही है। इस पर जनक ने कहा— हे याज्ञवल्क्य! तब तो उस अवशिष्ट तत्त्व को आप ही बतलावें। याज्ञवल्क्य ने कहा— हृदय ही आयतन है, और आकाश प्रतिष्ठा है। इसकी उपासना स्थितिरूप से करनी चाहिये। जनक ने पूछा— स्थितता क्या है? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया— हे राजन्! हृदय ही स्थितता है। हे सम्राट्! हृदय ही सम्पूर्ण भूतों का आयतन है और हृदय ही सबका आश्रय है क्योंकि सभी भूत हृदय में ही स्थित हैं। हे महाराज! हृदय ही परब्रह्म है। इस प्रकार जानता हुआ जो कोई इस हृदयब्रह्म की उपासना करता है, उस पुरुष को हृदयब्रह्म कभी छोड़ता नहीं और सभी प्राणी उसी के पास जाते हैं। वह देव होकर देवों को प्राप्त होता है। तब जनक ने कहा— हे याज्ञवल्क्य! मैं आपको हाथी के समान बछड़े जनने वाली एक

भूतानामायतनम्। नामरूपकर्मात्मकानि हि **भूतानि** हृदयाश्रयाणीत्यवो-

होवाच जनको वैदेहः स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति॥७॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि चतुर्थाध्यायस्य

षडाचारनामप्रथमं ब्राह्मणम्॥१॥

।अथ चतुर्थाध्यायस्य कूर्चनामद्वितीयं ब्राह्मणम्।

जनको ह वैदेहः कूर्चादुपावसर्पन्नुवाच नमस्तेऽस्तु याज्ञवल्क्यानु मा शाधीति स होवाच यथा वै सम्राणम- हान्तमध्वानमेष्यन्रथं वा नावं वा समाददीतैवमेवैता-

हजार गौएँ देता हूँ। याज्ञवल्क्य ने कहा—मेरे पिता का यह सिद्धान्त था, कि शिष्य को उपदेश द्वारा कृतार्थ किये बिना उसके धन को स्वीकार करना उचित नहीं है॥७॥

॥इति प्रथमं ब्राह्मणम्॥

विदेहराज जनक ने राजसिंहासन से उठ याज्ञवल्क्य के समीप जाकर कहा— हे याज्ञवल्क्य! आपको नमस्कार है, आप मुझे उपदेश करें। (ज्ञानित्वाभिमान त्यागकर शिष्यभाव से आये हुए जनक के प्रति) याज्ञवल्क्य ने कहा— हे राजन्! जैसे लम्बे मार्ग से चलने

चाम शाकल्यब्राह्मणे हृदयप्रतिष्ठानि चेति। तस्माद्धृदये **ह्येव सम्राट्सर्वाणि भूतानि प्रतिष्ठितानि भवन्ति**। तस्माद्धृदयं स्थितिरित्युपासीत हृदये च प्रजापतिर्देवता॥७॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये चतुर्थाध्यायस्य

षडाचारनामप्रथमं ब्राह्मणम्॥१॥

जनको ह वैदेहः। यस्मात्सविशेषणानि सर्वाणि ब्रह्माणि जानाति

पूज्यश्च ईश्वरो न दरिद्रः धनवान्

भिरुपनिषद्भिः समाहितात्माऽस्येवं वृन्दारक आढ्यः सन्नधीतवेद उक्तोपनिषत्क इतो विमुच्यमानः क्व आचार्यैस्तुभ्यं गमिष्यसीति नाहं तद्भगवन्वेद यत्र गमिष्यामीत्यथ वै तेऽहं तद्वक्ष्यामि यत्र गमिष्यसीति ब्रवीतु मे भगवानिति॥१॥

वाला पुरुष रथ या नौका का आश्रय ले, वैसे ही पूर्वोक्त उपासनाओं (के अनुष्ठान) से तुम अत्यन्त (1) समाहित चित्त हो गये हो, साथ ही (2) पूज्य, (3) धनवान्, (4) अधीतवेद तथा उक्त (5) उपासना से युक्त भी हो। यह सब होने पर भी यह बतलाओ तो सही कि इतने साधनसम्पन्न हो, तुम इस देह से छूटकर कहाँ जाओगे? जनक ने कहा— हे भगवन्! जहाँ जाऊँगा, उसे मैं जानता नहीं। तब याज्ञवल्क्य ने कहा— अब मैं उस तत्त्व को तुम्हें अवश्य बतलाऊँगा, जहाँ तुम जाओगे। जनक ने कहा— भगवन् यदि मुझ पर आप प्रसन्न हैं, तो उसे अवश्य बतलावें॥१॥

याज्ञवल्क्यस्तस्मादाचार्यकत्वं हित्वा **जनकः** कूर्चादासनविशेषादुत्थाय**ोप**समीपम्-**वसर्प**न्पादयोर्निपतन्नित्यर्थः। **उवाचोक्तवान्नमस्ते तुभ्यमस्तु हे याज्ञवल्क्यानु मा शाध्य**नुशाधि मामित्यर्थः। **इति**शब्दो वाक्यपरिसमाप्त्यर्थः। **स होवाच** याज्ञवल्क्यो **यथा वै** लोके हे **सम्राड् महान्तं** दीर्घम**ध्वानमेष्यन्**-गमिष्य**न्रथं वा** स्थलेन गमिष्य**न्नावं वा** जलेन गमिष्य**न्समाददीत। एवमेवै**-तानि ब्रह्माण्ये**ताभिरुपनिषद्भि**र्युक्तान्युपासीनः **समाहितात्माऽस्य**त्यन्त-मेताभिरुपनिषद्भिः संयुक्तात्माऽसि। न केवलमुपनिषत्समाहित **एवं वृन्दारकः** पूज्यश्चा**ऽऽढ्य**श्चेश्वरो न दरिद्र इत्यर्थः। **अधीतवेदो**ऽधीतो वेदो येन स त्वम-धीतवेद, उक्ताश्चोपनिषद आचार्यैस्तुभ्यं स त्व**मुक्तोपनिषत्क**, एवं सर्वविभूति-संपन्नोऽपि सन्भयमध्यस्थ एव परमात्मज्ञानेन विनाऽकृतार्थ एव तावदित्यर्थः

इन्धो ह वै नामैष योऽयं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषस्तं वा एतमिन्धꣳ सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेणैव परोक्षप्रिया इव हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः॥२॥

अथैतद्वामेऽक्षणि पुरुषरूपमेषाऽस्य पत्नी विराट्तयोरेष सꣳस्तावो य एषोऽन्तर्हृदय आकाशोऽथैनयोरेतदन्नं य

इसके बाद याज्ञवल्क्य ने कहा— यह जो दाहिनी आँख में पुरुष है। निःसन्देह यह इन्ध नाम वाला है, उसी प्रसिद्ध इस इन्धनामा सत्य पुरुष को "इन्द्र" ऐसे परोक्ष नाम से कहते हैं क्योंकि देवगण प्रायः परोक्षप्रिय होते हैं और प्रत्यक्ष वस्तु से द्वेष करते हैं॥२॥

इसके बाद याज्ञवल्क्य ने कहा— यह जो बायें नेत्र में पुरुषाकार पुरुष है, यह

यावत्परं ब्रह्म न वेत्सि। **इतोऽस्माद्देहाद्विमुच्यमान** एताभिर्नौरथस्थानीयाभिः समाहितः **क्व** **कस्मिन्गमिष्यसि**, किं वस्तु प्राप्स्यसीति। **नाहं तद्वस्तु भगवन्पूजावन्वेद** जाने **यत्र गमिष्यामीति**। **अथ** यद्येवं न जानीषे यत्र गतः कृतार्थः स्या **अहं वै ते** तुभ्यं **तद्वक्ष्यामि यत्र गमिष्यसीति**। **ब्रवीतु मे भगवानिति**, यदि प्रसन्नो मां प्रति। शृणु॥१॥

इन्धो ह वै नाम। इन्ध इत्येवंनामा। यश्चक्षुर्वै ब्रह्मेति पुरोक्त आदित्यान्तर्गतः पुरुषः स **एष योऽयं दक्षिणेऽक्षन्न**क्षणि विशेषेण व्यवस्थितः स च सत्यनामा। **तं वा एतं** पुरुषं दीप्तिगुणत्वात्प्रत्यक्षं नामास्येन्ध इति **तमिन्धं सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेण**। यस्मात्**परोक्षप्रिया इव हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः** प्रत्यक्षनामग्रहणं द्विषन्ति। एष त्वं वैश्वानरमात्मानं संपन्नोऽसि॥२॥

अथैतद्वामेऽक्षणि पुरुषरूपमेषाऽस्य पत्नी यं त्वं वैश्वानर-

एषोऽन्तर्हृदये लोहितपिण्डोऽथैनयोरेतत्प्रावरणं यदेतदन्तर्हृदये जालकमिवाथैनयोरेषा सृतिः संचरणी यैषा हृदयादूर्ध्वा नाड्युच्चरति यथा केशः सहस्रधा भिन्न एवमस्यैता हिता नाम नाड्योऽन्तर्हृदये प्रतिष्ठिता भवन्त्येताभिर्वा एतदास्रवदास्रवति तस्मादेष प्रविविक्ताहारतर इवैव भवत्यस्माच्छारीरादात्मनः ॥३॥

पूर्वोक्त पुरुष की विराट्नामा स्त्री है। जो यह हृदय में आकाश है, उन दोनों पति-पत्नी के मिलने का स्थान है। जो यह हृदय के भीतर लालरंग का माँसपिण्ड है, यही इन दोनों का अन्न है और जो यह हृदय जाल के समान है, यही इन दोनों का आच्छादन (चादर) है एवं जो यह हृदय से ऊपर की ओर नाड़ी जाती है, यह इन दोनों (इन्द्र-इन्द्राणी) के प्रस्थान का मार्ग है। जैसे सहस्र भागों में विभक्त हुआ केश अत्यन्त सूक्ष्म होता है, वैसे ही हिता नाम की ये नाड़ियाँ हृदय देश में अत्यन्त सूक्ष्मरूप से स्थित हैं। इन्हीं नाड़ियों के द्वारा यह अन्न रसमय जाता हुआ शरीर में सब जगह पहुँचता है। इसीलिये इस स्थूल शरीराभिमानी वैश्वानर आत्मा से यह सूक्ष्म शरीराभिमानी तैजस आत्मा अत्यन्त सूक्ष्म आहार ग्रहण करने वाले के समान ही होता है॥३॥

मात्मानं संपन्नोऽसि तस्यास्येन्द्रस्य भोक्तुर्भोग्यैषा **पत्नी विराडन्नं** भोग्यत्वादेव। तदेतदन्नं चात्ता चैकं मिथुनं स्वप्ने। कथम्? **तयोरेष** इन्द्राण्या इन्द्रस्य चैष **संस्तावः** संभूय यत्र संस्तवं कुर्वाते अन्योन्यं स एष संस्तावः। कोऽसौ? **य एषोऽन्तर्हृदय आकाशोऽन्तर्हृदये** हृदयस्य मांसपिण्डस्य मध्ये। **अथैनयोरेतद्वक्ष्यमाणमन्नं** भोज्यं स्थितिहेतुः। किं तत्? **य एषोऽन्तर्हृदये लोहितपिण्डो** लोहित एव पिण्डाकारापन्नो लोहितपिण्डः। अन्नं जग्धं द्वेधा परिणमते यत्स्थूलं तदधो गच्छति। यदन्यत्तत्पुनरग्निना पच्यमानं द्वेधा परिणमते। यो

तस्य प्राची दिक्प्राञ्चः प्राणा दक्षिणा दिग्दक्षिणे

उस विद्वान् के पूर्वदिशागत प्राण पूर्व प्राण हैं, दक्षिण दिशा दक्षिण प्राण हैं, पश्चिम

मध्यमो रसः स लोहितादिक्रमेण पाञ्चभौतिकं पिण्डं शरीरमुपचिनोति। योऽणिष्ठो रसः स एष लोहितपिण्ड इन्द्रस्य लिङ्गात्मनो हृदये मिथुनीभूतस्य। यं तैजसमाचक्षते स तयोरिन्द्रेन्द्राण्योर्हृदये मिथुनीभूतयोः सूक्ष्मासु नाडीष्वनुप्रविष्टः स्थितिहेतुर्भवति। तदेतदुच्यतेऽ**थैनयोरेतदन्नमित्यादि**। किंचान्यत्। **अथैनयोरेतत्प्रावरणम्**। भुक्तवतोः स्वपतोश्च प्रावरणं भवति लोके तत्सामान्यं हि कल्पयति श्रुतिः। किं तदिह प्रावरणम्। **यदेतदन्तर्हृदये जालक**मिवानेकनाडीछिद्रबहुलत्वाज्जालकमिव।

अथैनयोरेषा सृतिर्मार्गः संचरतोऽनयेति **संचरणी** स्वप्नाज्जागरितदेशागमनमार्गः। का सा सृतिः? **यैषा हृदया**द्धृदयदेशा**दूर्ध्वा**ऽभिमुखी **सत्युच्चरति नाडी**। तस्याः परिमाणमिदमुच्यते। **यथा** लोके **केशः सहस्रधा भिन्नो**ऽत्यन्तसूक्ष्मो भवत्ये**वं** सूक्ष्मा **अस्य** देहस्य संबन्धिन्यो **हिता नाम** हिता इत्येवं ख्याता **नाड्यस्ताश्चान्तर्हृदये** मांसपिण्डे **प्रतिष्ठिता भवन्ति** हृदयाद्विप्ररूढास्ताः सर्वत्र कदम्बकेसरव**देताभिर्ना**डीभिरत्यन्तसूक्ष्माभि**रेतदन्नमास्रवद्गच्छदास्रवति** गच्छति। तदेतद्देवताशरीरमनेनान्नेन दामभूतेनोपचीयमानं तिष्ठति। तस्माद्यस्मात्स्थूलेनान्नेनोपचितः पिण्ड इदं तु देवताशरीरं लिङ्गं सूक्ष्मेणान्नेनोपचितं तिष्ठति। पिण्डोपचयकरमप्यन्नं प्रविविक्तमेव मूत्रपुरीषादिस्थूलमपेक्ष्य लिङ्गस्थितिकरं त्वन्नं ततोऽपि सूक्ष्मतरम्। अतः **प्रविविक्ताहारः** पिण्डः। **तस्मात्**प्रविविक्ताहारादपि **प्रविविक्ताहारतर एष** लिङ्गात्**मैवेव भवत्यस्माच्छरीरा**च्छरीरमेव शारीरं तस्माच्छारीरात्। **आत्मनो** वैश्वानरात्तैजसः सूक्ष्मान्नोपचितो भवति॥३॥

स एष हृदयभूतस्तैजसः सूक्ष्मभूतेन प्राणेन विध्रियमाणः प्राण एव भवति। **तस्यास्य** विदुषः क्रमेण वैश्वानरात्तैजसं प्राप्तस्य हृदयात्मानमापन्नस्य

प्राणाः प्रतीची दिक्प्रत्यञ्चः प्राणा उदीची दिगुदञ्चः प्राणा ऊर्ध्वा दिगूर्ध्वाः प्राणा अवाची दिगवाञ्चः प्राणाः सर्वा दिशः सर्वे प्राणाः स एष नेति नेत्यात्मा-ऽगृह्यो न हि गृह्यतेऽशीर्यो न हि शीर्यतेऽसङ्गो न हि सज्यतेऽसितो न व्यथते न रिष्यत्यभयं वै जनक प्राप्तोऽसीति होवाच याज्ञवल्क्यः स होवाच जनको वैदेहोऽभयं त्वा गच्छताद्याज्ञ-

दिशा पश्चिम प्राण हैं, उत्तर दिशा उत्तर प्राण हैं, ऊर्ध्व दिशा ऊर्ध्व प्राण हैं, अधोदिशा नीचे के प्राण हैं। किंबहुना, समस्त दिशाएँ उसके समस्त प्राण हैं। वह यह "नेति नेति" शब्द से बतलाया गया आत्मा अग्राह्य है, क्योंकि वह ग्रहण नहीं किया जाता। वह अशीर्य है क्योंकि उसका नाश नहीं होता। असंग है क्योंकि वह कहीं संसक्त नहीं होता। बन्धनरहित है क्योंकि वह पीड़ित तथा हिंसित नहीं किया जा सकता। याज्ञवल्क्य ने कहा— हे जनक! तुम निःसन्देह अभय पद को प्राप्त कर चुके हो। तब विदेहराज जनक ने कहा— हे भगवन्! जो आपने मुझे अभय पद का बोध कराया है, उन आप सद्गुरुदेव को अभय

हृदयात्मनश्च प्राणात्मानमापन्नस्य **प्राची दिक्प्राञ्चः** प्राग्गताः **प्राणाः**। तथा **दक्षिणा दिग्दक्षिणे प्राणाः**। तथा **प्रतीची दिक्प्रत्यञ्चः प्राणाः**। **उदीची दिगुदञ्चः प्राणाः**। **ऊर्ध्वा दिगूर्ध्वाः प्राणाः**। **अवाची दिग-वाञ्चः प्राणाः**। **सर्वा दिशः सर्वे प्राणाः**। एवं विद्वान्क्रमेण सर्वात्मकं प्राण-मात्मत्वेनोपगतो भवति। तं सर्वात्मानं प्रत्यगात्मन्युपसंहृत्य द्रष्टुर्हि द्रष्टृभावं **नेति नेती**त्यात्मानं तुरीयं प्रतिपद्यते। यमेष विद्वाननेन क्रमेण प्रतिपद्यते **स एष नेति नेत्यात्मे**त्यादि **न रिष्यती**त्यन्तं व्याख्यातमेतत्। **अभयं वै** जन्ममरणादि-निमित्तभयशून्यं हे **जनक प्राप्तोऽसीति** हैवं किलोवाचोक्तवान्याज्ञवल्क्यः।

वल्क्य यो नो भगवन्नभयं वेदयसे नमस्तेऽस्त्विमे
विदेहा अयमहमस्मि॥४॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि चतुर्थाध्यायस्य
कूर्चनामद्वितीयं ब्राह्मणम्॥२॥

।अथ चतुर्थाध्यायस्य ज्योतिर्नामतृतीयं ब्राह्मणम्।

जनकᳬ ह वैदेहं याज्ञवल्क्यो जगाम स मेने न

पद प्राप्त हो (क्योंकि इस अमूल्य उपदेश के बदले अन्य कुछ भी नहीं है)। अतः आपको नमस्कार है। यह विदेह देश एवं हम सब आपके अधीन हैं, कृपया इन सभी को यथायोग्य उपदेश करें॥४॥

॥इति द्वितीयं ब्राह्मणम्॥

एक बार याज्ञवल्क्य विदेहाधिपति जनक के पास गये। उन्होंने ऐसा निश्चय किया

तदेतदुक्तमथ वै तेऽहं तद्वक्ष्यामि यत्र गमिष्यसीति। **स होवाच जनको वैदेहोऽभयमेव त्वा** त्वामपि **गच्छताद्** गच्छतु **यस्त्वं नो**ऽस्मान्हे **याज्ञवल्क्य भगवन्**पूजावन्न**भयं** ब्रह्म **वेदयसे** ज्ञापयसि प्रापितवानुपाधिभूताज्ञानव्यवधानापनयनेनेत्यर्थः। किमन्यदहं विद्यानिष्क्रयार्थं प्रयच्छामि साक्षादात्मानमेव दत्तवते। अतो **नमस्तेऽस्त्विमे विदेहा**स्तव यथेष्टं भुज्यन्ता**मयं चाहमस्मि** दासभावे स्थितो यथेष्टं मां राज्यं च प्रतिपद्यस्वेत्यर्थः॥४॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये चतुर्थाध्यायस्य
कूर्चनामद्वितीयं ब्राह्मणम्॥२॥

॥इति षोडशाह्निकम्॥१६॥



जनकं ह वैदेहं याज्ञवल्क्यो जगामेत्यस्याभिसंबन्धः। विज्ञानमय

आत्मा साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म सर्वान्तरः पर एव। ''नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ''इत्यादिश्रुतिभ्यः। स एष इह प्रविष्टो वदनादिलिङ्गोऽस्ति व्यतिरिक्त इति मधुकाण्डेऽजातशत्रुसंवादे प्राणादिकर्तृत्वभोक्तृत्वप्रत्याख्यानेनाधिगतोऽपि सन्पुनः प्राणनादिलिङ्गमुपन्यस्यौषस्तप्रश्ने प्राणनादिलिङ्गो यः सामान्येनाधिगतः "प्राणेन प्राणिती"त्यादिना "दृष्टेर्द्रष्टे"त्यादिनाऽलुप्तशक्तिस्वभावोऽधिगतः।

तस्य च परोपाधिनिमित्तः संसारो यथा रज्जूषरशुक्तिकागगनादिषु सर्पोदकरजततलमलिनत्वादि पराध्यारोपणनिमित्तमेव न स्वतस्तथा निरुपाधिको निरुपाख्यो नेति नेतीति व्यपदेश्यः साक्षादपरोक्षात्सर्वान्तर आत्मा ब्रह्माक्षरमन्तर्यामी प्रशास्तौपनिषदः पुरुषो विज्ञानमानन्दं ब्रह्मेत्यधिगतम्।

तदेव पुनरिन्धसंज्ञः प्रविविक्ताहारस्ततोऽन्तर्हृदये लिङ्गात्मा प्रविविक्ताहारतरस्ततःपरेण जगदात्मा प्राणोपाधिस्ततोऽपि प्रविलाप्य जगदात्मानमुपाधिभूतं रज्ज्वादाविव सर्पादिकं विद्यया स एष नेति नेतीति साक्षात्सर्वान्तरं ब्रह्माधिगतम्। एवमभयं परिप्रापितो जनको याज्ञवल्क्येनाऽऽगमतः संक्षेपतः। अत्र च जाग्रत्स्वप्नसुषुप्ततुरीयाण्युपन्यस्तान्यन्यप्रसङ्गेनेन्धः प्रविविक्ताहारतरः सर्वे प्राणाः स एष नेति नेतीति।

इदानीं जाग्रत्स्वप्नादिद्वारेणैव महता तर्केण विस्तरतोऽधिगमः कर्तव्यः। अभयं प्रापयितव्यम्। सद्भावश्चाऽऽत्मनो विप्रतिपत्त्याशङ्कानिराकरणद्वारेण। व्यतिरिक्तत्वं शुद्धत्वं स्वयंज्योतिष्ट्वमलुप्तशक्तिस्वरूपत्वं निरतिशयानन्दस्वाभाव्यमद्वैतत्वं चाधिगन्तव्यमितीदमारभ्यते।

आख्यायिका तु विद्यासंप्रदानग्रहणविधिप्रकाशनार्था। विद्यास्तुतये च विशेषतः वरदानादिसूचनात्।

वदिष्य इत्यथ ह यज्जनकश्च वैदेहो याज्ञवल्क्य-
श्चाग्निहोत्रे समूदाते तस्मै ह याज्ञवल्क्यो वरं ददौ
स ह कामप्रश्नमेव वव्रे तꣳ हास्मै ददौ तꣳ ह
सम्राडेव पूर्वं पप्रच्छ॥१॥

याज्ञवल्क्य किंज्योतिरयं पुरुष इति आदित्य-

था कि आज मैं कुछ भी नहीं बोलूँगा। पर पहले ही कभी विदेहराज जनक और याज्ञवल्क्य ने अग्निहोत्र के विषय में संवाद किया था। उसी समय याज्ञवल्क्य ने जनक को वरदान दिया था और जनक ने इच्छानुसार प्रश्न करना ही उस वरदान के रूप में माँगा था। यह वरदान याज्ञवल्क्य ने उसे दे भी दिया था। अतएव याज्ञवल्क्य से जनक ने आज्ञा लेने के पूर्व ही प्रश्न करना प्रारंभ कर दिया॥१॥

हे याज्ञवल्क्य! यह पुरुष किस ज्योति वाला है? याज्ञवल्क्य ने कहा— हे सम्राट्!

जनकं ह वैदेहं याज्ञवल्क्यो जगाम। **स** च गच्छन्नेवं **मेने** चिन्तितवान्न **वदिष्ये** किंचिदपि राज्ञे। गमनप्रयोजनं तु योगक्षेमार्थम्। न वदिष्य इत्येवंसंकल्पोऽपि याज्ञवल्क्योयद्यज्जनकः पृष्टवांस्तत्तत्प्रतिपेदे तत्र को हेतुः संकल्पितस्यान्यथाकरण इत्यत्राऽऽख्यायिकामाचष्टे। पूर्वत्र किल जनकयाज्ञवल्क्ययोः संवादः आसीदग्निहोत्रे निमित्ते, तत्र जनकस्याग्निहोत्रविषयं विज्ञानमुपलभ्य परितुष्टो **याज्ञवल्क्यस्तस्मै** जनकाय **ह** किल **वरं ददौ**। **स** च जनको **ह कामप्रश्नमेव** वरं **वव्रे** वृतवांस्तं च वरं **हास्मै ददौ** याज्ञवल्क्यः। तेन वरप्रदानसामर्थ्येनाव्याचिख्यासुमपि याज्ञवल्क्यं तूष्णीं स्थितमपि **सम्राडेव** जनकः **पूर्वं पप्रच्छ**। तत्रैवानुक्तिर्ब्रह्मविद्यायाः, कर्मणा विरुद्धत्वात्। विद्यायाश्च स्वातन्त्र्यात्। स्वतन्त्रा हि ब्रह्मविद्या सहकारिसाधनान्तरनिरपेक्षा पुरुषार्थसाधनेति च॥१॥

हे **याज्ञवल्क्येत्येवं** संबोध्याभिमुखीकरणाय **किंज्योतिरयं पुरुष**

"वादे वादे जायते तत्त्वबोधः" 45 मिनिट तक स्वामी प्रकाशानन्द पुरी जी की एवं विद्वान् स्वामी भागवतानन्द स्वामी गोविन्दानन्द जी का माण्डूक्यकारिका चर्चा सुना किन्तु समझ में कुछ भी नहीं आया.

ज्योतिः सम्राडिति होवाचाऽऽदित्येनैवायं ज्योति-षाऽऽस्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीत्येवमेवैतद्या-ज्ञवल्क्य॥२॥

परि+अयते. विपर्येति यथा गतम्.

यह पुरुष आदित्य ज्योति वाला है क्योंकि यह आदित्यरूप ज्योति से बैठता है, सभी ओर जाता है, कर्म करता है और कर्म करके नियत स्थान पर लौट आता है। जनक ने कहा— हे याज्ञवल्क्य! यह ऐसा ही है॥२॥

इति किमस्य पुरुषस्य ज्योतिर्येन ज्योतिषा व्यवहरति सोऽयं किंज्योतिरयं प्राकृतः कार्यकरणसंघातरूपः शिरःपाण्यादिमान्पुरुषः पृच्छ्यते। किमयं स्वावयवसंघात-बाह्येन ज्योतिरन्तरेण व्यवहरत्याहोस्वित्स्वावयवसंघातमध्यपातिना ज्योतिषा ज्योति-ष्कार्यमयं पुरुषो निर्वर्तयतीत्येतदभिप्रेत्य पृच्छति। किंचातो यदि व्यतिरिक्तेन यदि वाऽव्यतिरिक्तेन ज्योतिषा ज्योतिष्कार्यं निर्वर्तयति। शृणु तत्र कारणम्। यदि व्यतिरिक्तेनैव ज्योतिषा ज्योतिष्कार्यनिर्वर्तकत्वमस्य स्वभावो निर्धारितो भवति, ततोऽ-दृष्टज्योतिः कार्यविषयेऽप्यनुमास्यामहे व्यतिरिक्तज्योतिर्निमित्तमेवेदं कार्यमिति।

अथाव्यतिरिक्तेनैव स्वात्मना ज्योतिषा व्यवहरति, ततोऽप्रत्यक्षेऽपि ज्योतिषि ज्योतिष्कार्यदर्शनेऽव्यतिरिक्तमेव ज्योतिरनुमेयम्। अथानियम एव व्यतिरिक्तम-व्यतिरिक्तं वा ज्योतिः पुरुषस्य व्यवहारहेतुस्ततोऽनध्यवसाय एव ज्योतिर्विषय इत्येवं मन्वानः पृच्छति जनको याज्ञवल्क्यं, किंज्योतिरयं पुरुष इति।

नन्वेवमनुमानकौशले जनकस्य किं प्रश्नेन स्वयमेव कस्मान्न प्रतिपद्यत इति? सत्यमेतत्। तथाऽपि लिङ्गलिङ्गिसंबन्धविशेषाणामत्यन्तसौक्ष्म्याद्दुरवबोध्यतां मन्यते बहूनामपि पण्डितानां किमुतैकस्य। अत एव हि सूक्ष्मधर्मनिर्णये परिषद्व्यापार इष्यते। पुरुषविशेषश्चापेक्ष्यते। दशावरा परिषत्त्रयो वैको वेति।

तस्माद्यद्यप्यनुमानकौशलं राज्ञस्तथाऽपि तु युक्तो याज्ञवल्क्यः प्रष्टुम्। विज्ञान-

अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य किंज्योतिरेवायं पुरुष इति चन्द्रमा एवास्य ज्योतिर्भवतीति चन्द्रमसैवायं ज्योतिषाऽऽस्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य॥३॥

हे याज्ञवल्क्य! पर यह तो बतलावें कि सूर्य अस्त हो जाने पर वह पुरुष किस ज्योति वाला है अर्थात् किस ज्योति से उक्त व्यवहार करता है? याज्ञवल्क्य ने कहा— हे सम्राट्! उस समय यह पुरुष चन्द्ररूप ज्योति वाला होता है, क्योंकि वह चन्द्र ज्योति से बैठता है, सभी ओर जाता है, कर्म करता है एवं कर्म करके नियत स्थान पर लौट आता है। इस पर जनक ने कहा— हे याज्ञवल्क्य! यह ऐसा ही है॥३॥

कौशलतारतम्योपपत्तेः पुरुषाणाम्। अथवा श्रुतिः स्वयमेवाऽऽख्यायिकव्याजेनानुमानमार्गमुपन्यस्यास्मान्बोधयति पुरुषमतिमनुसरन्ती।

याज्ञवल्क्योऽपि जनकाभिप्रायाभिज्ञतया व्यतिरिक्तमात्मज्योतिर्बोधयिष्यञ्जनकं व्यतिरिक्तप्रतिपादकमेव लिङ्गं प्रतिपेदे, यथा प्रसिद्ध**मादित्यज्योतिः सम्राडिति होवाच**। कथम्? **आदित्येनैव** स्वावयवसंघातव्यतिरिक्तेन चक्षुषोऽनुग्राहकेण **ज्योतिषाऽयं** प्राकृतः पुरुष **आस्ते** उपविशति **पल्ययते** पर्येति क्षेत्रमरण्यं वा तत्र गत्वा **कर्म कुरुते विपल्येति** विपर्येति च यथागतम्। अत्यन्तव्यतिरिक्तज्योतिष्ट्वप्रसिद्धताप्रदर्शनार्थमनेकविशेषणम्। बाह्यानेकज्योतिः प्रदर्शनं च लिङ्गस्याव्यभिचारितप्रदर्शनार्थम्। **एवमेवैतद्याज्ञवल्क्य॥२॥**

तथाऽस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य किंज्योतिरेवायं पुरुष इति चन्द्रमा एवास्य ज्योतिः॥३॥

अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य चन्द्रमस्यस्तमिते किंज्योतिरेवायं पुरष इत्यग्निरेवास्य ज्योतिर्भवतीत्यग्निनैवायं ज्योतिषाऽऽस्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥४॥

अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य चन्द्रमस्यस्तमिते शान्तेऽग्नौ किंज्योतिरेवायं पुरुष इति वागेवास्य ज्योतिर्भवतीति वाचैवायं ज्योतिषाऽऽस्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीति तस्माद्वै सम्राडपि यत्र स्वः पाणिर्न विनि-

हे याज्ञवल्क्य! सूर्य के अस्त हो जाने पर तथा चन्द्रमा के अस्त हो जाने पर यह पुरुष किस ज्योति वाला होता है? याज्ञवल्क्य ने कहा— हे सम्राट्! उस समय यह पुरुष अग्निरूप ज्योति वाला हो पूर्वोक्त व्यवहार करता है क्योंकि वह अग्निरूप ज्योति से बैठता है, सभी ओर जाता है, कर्म करता है और कर्म करके फिर नियत स्थान पर लौट आता है। इस पर जनक ने कहा— हे याज्ञवल्क्य! यह ऐसा ही है॥४॥

हे याज्ञवल्क्य! सूर्य के अस्त हो जाने पर तथा चन्द्रमा के अस्त हो जाने पर तथा अग्नि के भी शान्त हो जाने पर यह पुरुष किस ज्योति वाला हो उक्त व्यवहार करता है? याज्ञवल्क्य ने कहा—हे सम्राट्! यह पुरुष वाणीरूप ज्योति वाला है क्योंकि (वर्षाकालीन निविड अन्धकारयुक्त रात्रि में भ्रान्त पुरुष) वाणीरूप ज्योति से बैठता है, सभी ओर जाता है तथा कर्म करके पुनः नियत स्थान पर लौट आता है। अतः हे सम्राट्!

अस्तमित आदित्ये चन्द्रमस्यस्तमितेऽग्निर्ज्योतिः ॥४॥

शान्तेऽग्नौ वाग्ज्योतिः। **वागिति** शब्दः परिगृह्यते। शब्देन विषयेण श्रोत्रमिन्द्रियं दीप्यते। श्रोत्रेन्द्रिये संप्रदीप्ते मनसि विवेक उपजायते। तेन मनसा बाह्यां चेष्टां प्रतिपद्यते। मनसा ह्येव पश्यति मनसा शृणोतीति ब्राह्मणम्।

ज्ञायतेऽथ यत्र वागुच्चरत्युपैव तत्र न्येतीत्येवमेवैतद्या-ज्ञवल्क्य॥५॥

अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य चन्द्रमस्यस्तमिते शान्ते-ऽग्नौ शान्तायां वाचि किंज्योतिरेवायं पुरुष इत्यात्मै-

जहाँ पर अपना हाथ भी नहीं दीखता किन्तु वाणी उच्चारण की जाती है, वहाँ अंधेरे में भी पुरुष उस वाणी के सहारे चला जाता है। इस पर राजा ने कहा— हे याज्ञवल्क्य! यह ऐसा ही है॥५॥

हे याज्ञवल्क्य! सूर्य के अस्त हो जाने पर, चन्द्रमा के अस्त हो जाने पर, अग्नि के बुझ जाने पर और वाणी के भी शान्त हो जाने पर यह पुरुष किस ज्योति वाला

कथं पुनर्वाग्ज्योतिरिति वाचो ज्योतिष्ट्वमप्रसिद्धमित्यत आह— **तस्माद्वै सम्राड्यस्मा-**द्वाचा ज्योतिषाऽनुगृहीतोऽयं पुरुषो व्यवहरति, तस्मात्प्रसिद्धमेतद्वाचो ज्योतिष्ट्वम्। कथमपि **यत्र** यस्मिन्काले प्रावृषि प्रायेण मेघान्धकारे सर्वज्योतिःप्रत्यस्तमये **स्वोऽपि पाणिर्हस्तो न** विस्पष्टं **निर्ज्ञायते। अथ** तस्मिन्काले सर्वचेष्टा-निरोधे प्राप्ते बाह्यज्योतिषोऽभावाद्**यत्र वागुच्चरति** श्वा वा भषति गर्दभो वा **रौत्युपैव तत्र न्येति** तेन शब्देन ज्योतिषा श्रोत्रमनसोर्नैरन्तर्यं भवति तेन ज्यो-तिष्कार्यत्वं वाक्प्रतिपद्यते तेन वाचा ज्योतिषोपन्येत्येवोपगच्छत्येव, तत्र संनिहिता भवतीत्यर्थः। तत्र च कर्म कुरुते विपल्येति। तत्र वाग्ज्योतिषो ग्रहणं गन्धा-दीनामुपलक्षणार्थम्। गन्धादिभिरपि हि घ्राणादिष्वनुगृहीतेषु प्रवृत्तिनिवृत्त्-यादयो भवन्ति। तेन तैरप्यनुग्रहो भवति कार्यकरणसंघातस्य। **एवमेवैतद्याज्ञ-वल्क्य॥५॥**

शान्तायां पुनर्वाचि गन्धादिष्वपि च शान्तेषु बाह्येष्वनुग्राहकेषु सर्व-प्रवृत्तिनिरोधः प्राप्तोऽस्य पुरुषस्य। एतदुक्तं भवति जाग्रद्विषये हि बहिर्मुखानि

वास्य ज्योतिर्भवतीत्यात्मनैवायं ज्योतिषाऽऽस्ते पल्य-यते कर्म कुरुते विपल्येतीति॥६॥

हो उक्त व्यवहार करता है? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया— हे सम्राट्! उस समय इस पुरुष की ज्योति आत्मा ही रहता है, क्योंकि यह आत्मा-ज्योति से बैठता है और सभी ओर जाता है, कर्म करता है तथा कर्म करके नियत स्थान पर लौट आता है॥६॥

करणानि चक्षुरादीन्यादित्यादिज्योतिर्भिरनुगृह्यमाणानि यदा, तदा स्फुटतरः संव्यवहारोऽस्य पुरुषस्य भवतीति। एवं तावज्जागरिते स्वावयवसंघातव्यतिरिक्तेनैव ज्योतिषा ज्योतिष्कार्यसिद्धिरस्य पुरुषस्य दृष्टा। तस्मात्ते वयं मन्यामहे सर्वबाह्यज्योतिः प्रत्यस्तमयेऽपि स्वप्नसुषुप्तकाले जागरिते च तादृगवस्थायां स्वावयवसंघातव्यतिरिक्तेनैव ज्योतिषा ज्योतिष्कार्यसिद्धिरस्येति। दृश्यते च स्वप्ने ज्योतिष्कार्यसिद्धिर्बन्धुसङ्गमनवियोगदर्शनं देशान्तरगमनादि च। सुषुप्ताच्चोत्थानं सुखमहमस्वाप्सं न किंचिदवेदिषमिति। तस्मादस्ति व्यतिरिक्तं किमपि ज्योतिः। किं पुनस्तच्छान्तायां वाचि ज्योतिर्भवतीति।

उच्यते— **आत्मैवास्य ज्योतिर्भवतीति**। आत्मेति कार्यकरणस्वावयवसंघातव्यतिरिक्तं कार्यकरणावभासकमादित्यादिबाह्यज्योतिर्वत्स्वयमन्येनानवभास्यमानमभिधीयते ज्योतिरन्तःस्थं च तत्पारिशेष्यात्। कार्यकरणव्यतिरिक्तं तदिति तावत्सिद्धम्। यच्च कार्यकरणव्यतिरिक्तं कार्यकरणसंघातानुग्राहकं च ज्योतिस्तद्बाह्यैश्चक्षुरादिकरणैरुपलभ्यमानं दृष्टं न तु तथा तच्चक्षुरादिभिरुपलभ्यत आदित्यादिज्योतिःषूपरतेषु। कार्यं तु ज्योतिषो दृश्यते यस्मात्तस्मा**दात्मनैवायं ज्योतिषाऽऽस्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीति**। तस्मान्नूनमन्तःस्थं ज्योतिरित्यवगम्यते। किंचाऽऽदित्यादिज्योतिर्विलक्षणं तदभौतिकं च, स एव हेतुर्यच्चक्षुराद्यग्राह्यत्वमादित्यादिवत्।

न, समानजातीयेनैवोपकारदर्शनात्। यदादित्यादिविलक्षणं ज्योतिरान्तरं सिद्धमित्येतदसत्। कस्मात्? उपक्रियमाणसमानजातीयेनैवाऽऽदित्यादिज्योतिषा कार्यकरणसंघातस्य भौतिकस्य भौतिकेनैवोपकारः क्रियमाणो दृश्यते। यथादृष्टं चेदमनुमेयम्। यदि नाम कार्यकरणादर्थान्तरं तदुपकारकमादित्यादिवज्ज्योतिस्तथाऽपि कार्यकरणसंघातसमानजातीयमेवानुमेयं कार्यकरणसंघातोपकारकत्वादादित्यादिज्योतिर्वत्। यत्पुनरन्तःस्थत्वादप्रत्यक्षत्वाच्च वैलक्षण्यमुच्यते तच्चक्षुरादिज्योतिर्भिरनैकान्तिकम्। यतोऽप्रत्यक्षाण्यन्तःस्थानि च चक्षुरादिज्योतींषि भौतिकान्येव। तस्मात्तव मनोरथमात्रं विलक्षणमात्मज्योतिः सिद्धमिति।

कार्यकरणसंघातभावभावित्वाच्च संघातधर्मत्वमनुमीयते ज्योतिषः। सामान्यतो दृष्टस्य चानुमानस्य व्यभिचारित्वादप्रामाण्यम्। सामान्यतो दृष्टबलेन हि भवानादित्यादिवद्व्यतिरिक्तं ज्योतिः साधयति कार्यकरणेभ्यः। न च प्रत्यक्षमनुमानेन बाधितुं शक्यते। अयमेव तु कार्यकरणसंघातः प्रत्यक्षं पश्यति शृणोति मनुते विजानाति च। यदि नाम ज्योतिरन्तरमस्योपकारकं स्यादादित्यादिवन्न तदाऽऽत्मा स्याज्ज्योतिरन्तरमादित्यादिवदेव। य एव तु प्रत्यक्षं दर्शनादिक्रियां करोति स एवाऽऽत्मा स्यात्कार्यकरणसंघातो नान्यः। प्रत्यक्षविरोधेऽनुमानस्याप्रामाण्यात्।

नन्वयमेव चेद्दर्शनादिक्रियाकर्ताऽऽत्मा संघातः कथमविकलस्यैवास्य दर्शनादिक्रियाकर्तृत्वं कदाचिद्भवति कदाचिन्नेति। नैष दोषो, दृष्टत्वात्। न हि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम। न हि खद्योते प्रकाशाप्रकाशत्वेन दृश्यमाने कारणान्तरमनुमेयम्। अनुमेयत्वे च केनचित्सामान्यात्सर्वं सर्वत्रानुमेयं स्यात्। तच्चानिष्टम्। न च पदार्थस्वभावो नास्ति न ह्यग्नेरुष्णस्वाभाव्यमन्यनिमित्तमुदकस्य वा शैत्यम्। प्राणिधर्माधर्माद्यपेक्षमिति चेत्। धर्माधर्मादेर्निमित्तान्तरापेक्षस्वभावत्वप्रसङ्गः। अस्त्विति चेन्न तदनवस्थाप्रसङ्गः। स चानिष्टः।

न। स्वप्नस्मृत्योर्दृष्टस्यैव दर्शनात्। यदुक्तं स्वभाववादिना देहस्यैव दर्शनादिक्रिया न व्यतिरिक्तस्येति। तन्न। यदि हि देहस्यैव दर्शनादिक्रिया स्वप्ने दृष्टस्यैव

दर्शनं न स्यात्। अन्धः स्वप्नं पश्यन्दृष्टपूर्वमेव पश्यति न शाकद्वीपादिगतमदृष्टपूर्वम्। ततश्चैतत्सिद्धं भवति यः स्वप्ने पश्यति, दृष्टपूर्वं वस्तु स एव पूर्वं विद्यमाने चक्षुष्यद्राक्षीन्न देह इति। देहश्चेद्द्रष्टा स येनाद्राक्षीत्तस्मिन्नुद्धृते चक्षुषि स्वप्ने तदेव दृष्टपूर्वं न पश्येत्। अस्ति च लोके प्रसिद्धिः पूर्वं दृष्टं मया हिमवतः शृङ्गमद्याहं स्वप्नेऽद्राक्षमित्युद्धृतचक्षुषामन्धानामपि। तस्मादनुद्धृतेऽपि चक्षुषि यः स्वप्नदृक्स एव द्रष्टा न देह इत्यवगम्यते।

तथा स्मृतौ द्रष्टृस्मर्त्रोरेकत्वे सति य एव द्रष्टा स एव स्मर्ता। यदा चैवं तदा निमीलिताक्षोऽपि स्मरन्दृष्टपूर्वं यद्रूपं तद्दृष्टवदेव पश्यतीति। तस्माद्यन्निमीलितं तन्न द्रष्टृ यन्निमीलिते चक्षुषि स्मरद्रूपं पश्यति तदेवानिमीलितेऽपि चक्षुषि द्रष्टासीदित्यवगम्यते। मृते च देहेऽविकलस्यैव च रूपादिदर्शनाभावात्। देहस्यैव द्रष्टृत्वे मृतेऽपि दर्शनादिक्रिया स्यात्। तस्माद्यदपाये देहे दर्शनं न भवति यद्भावे च भवति तद्दर्शनादिक्रियाकर्तृ न देहः इत्यवगम्यते।

चक्षुरादीन्येव दर्शनादिक्रियाकर्तृणीति चेत्। न। यदहमद्राक्षं तत्स्पृशामीति भिन्नकर्तृकत्वे प्रतिसंधानानुपपत्तेः। मनस्तर्हीति चेत्। न। मनसोऽपि विषयत्वाद्रूपादिवद्द्रष्टृत्वाद्यनुपपत्तिः। तस्मादन्तःस्थं व्यतिरिक्तमादित्यादिवदिति सिद्धम्।

यदुक्तं कार्यकरणसंघातसमानजातीयमेव ज्योतिरन्तरमनुमेयम्। आदित्यादिभिस्तत्समानजातीयैरेवोपक्रियमाणत्वादिति। तदसत्। उपकार्योपकारकभावस्यानियमदर्शनात्। कथं, पार्थिवैरिन्धनैः पार्थिवत्वसमानजातीयैस्तृणोलपादिभिरग्नेः प्रज्वलनोपकारः क्रियमाणो दृश्यते। न च तावता तत्समानजातीयैरेवाग्नेः प्रज्वलनोपकारः सर्वत्रानुमेयः स्यात्। येनोदकेनापि प्रज्वलनोपकारो भिन्नजातीयेन वैद्युतस्याग्नेर्जाठरस्य च क्रियमाणो दृश्यते।

तस्मादुपकार्योपकारकभावे समानजातीयासमानजातीयनियमो नास्ति। कदाचित्समानजातीया मनुष्या मनुष्यैरेवोपक्रियन्ते कदाचित्स्थावरपश्वादिभिश्च भिन्न-

जातीयैः। तस्मादहेतुः कार्यकरणसंघातसमानजातीयैरेवाऽऽदित्यादिज्योतिर्भिरुपक्रियमाणत्वादिति।

यत्पुनरात्थ चक्षुरादिभिरादित्यादिज्योतिर्वददृश्यत्वादित्ययं हेतुर्ज्योतिरन्तरस्यान्तःस्थत्वं वैलक्षण्यं च न साधयति, चक्षुरादिभिरनैकान्तिकत्वादिति। तदसत्। चक्षुरादिकरणेभ्योऽन्यत्वे सतीति हेतोर्विशेषणत्वोपपत्तेः। कार्यकरणसंघातधर्मत्वं ज्योतिष इति यदुक्तं तन्न। अनुमानविरोधात्। आदित्यादिज्योतिर्वत्कार्यकरणसंघातादर्थान्तरं ज्योतिरिति ह्यनुमानमुक्तं तेन विरुध्यत इयं प्रतिज्ञा कार्यकरणसंघातधर्मत्वं ज्योतिष इति। तद्भावभावित्वं त्वसिद्धं मृते देहे ज्योतिषोऽदर्शनात्।

सामान्यतो दृष्टस्यानुमानस्याप्रामाण्ये सति पानभोजनादिसर्वव्यवहारलोपप्रसङ्गः। स चानिष्टः। पानभोजनादिषु हि क्षुत्पिपासादिनिवृत्तिमुपलब्धवतस्तत्सामान्यात्पानभोजनाद्युपादानं दृश्यमानं लोके न प्राप्नोति। दृश्यन्ते ह्युपलब्धपानभोजनाः सामान्यतः पुनः पानभोजनान्तरैः क्षुत्पिपासादिनिवृत्तिमनुमिन्वन्तस्तादर्थ्येन प्रवर्तमानाः।

यदुक्तमयमेव तु देहो दर्शनादिक्रियाकर्तेति तत्प्रथममेव परिहृतं स्वप्नस्मृत्योर्देहादर्थान्तरभूतो द्रष्टेति। अनेनैव ज्योतिरन्तरस्यानात्मत्वमपि प्रत्युक्तम्। यत्पुनः खद्योतादेः कादाचित्कं प्रकाशाप्रकाशात्मकत्वं, तदसत्। पक्षाद्यवयवसंकोचविकासनिमित्तत्वात्प्रकाशाप्रकाशकत्वस्य। यत्पुनरुक्तं धर्माधर्मयोरवश्यं फलदातृत्वं स्वभावोऽभ्युपगन्तव्य इति। तदभ्युपगमे भवतः सिद्धान्तहानात्। एतेनानवस्थादोष प्रत्युक्तः। तस्मादस्ति व्यतिरिक्तं चान्तःस्थं ज्योतिरात्मेति॥६॥

(आत्म स्वरूप का वर्णन)

कतम आत्मेति योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः स समानः सन्नुभौ लोकावनुसंचरति ध्यायतीव लेलायतीव स हि स्वप्नो भूत्वेमं लोकमतिक्रामति मृत्यो रूपाणि॥७॥

जनक ने पूछा— आत्मा कौन है? याज्ञवल्क्य ने कहा— जो प्राणों में बुद्धिवृत्तियों के भीतर स्थित विज्ञानमय ज्योतिस्वरूप पुरुष है (वही आत्मा है)। वह बुद्धिवृत्तियों के समान होता हुआ इस लोक परलोक दोनों में संचरण करता है। वही बुद्धिवृत्ति के अनुसार चिन्तन करता हुआ सा और प्राणवृत्ति के अनुसार चेष्टा करता हुआ सा जान पड़ता है। यही स्वप्न होकर देहेन्द्रियसंघातरूप इस लोक का लंघन कर जाता है एवं देहेन्द्रियरूप मृत्यु के रूपों को भी पार कर जाता है॥७॥

यद्यपि व्यतिरिक्तत्वादि सिद्धं, तथाऽपि समानजातीयानुग्राहकत्वदर्शननिमित्तभ्रान्त्या करणानामेवान्यतमो व्यतिरिक्तो वेत्यविवेकतः पृच्छति— **कतम** इति। न्यायसूक्ष्मताया दुर्विज्ञेयत्वादुपपद्यते भ्रान्तिः। अथवा शरीरव्यतिरिक्ते सिद्धेऽपि करणानि सर्वाणि विज्ञानवन्तीव विवेकत आत्मनोऽनुपलब्धत्वात्। अतोऽहं पृच्छामि **कतम आत्मे**ति। **कतमो**ऽसौ देहेन्द्रियप्राणमनःसु यस्त्वयोक्त **आत्मा**। येन ज्योतिषाऽऽस्त इत्युक्तम्।

अथवा **योऽयमा**त्मा त्वयाऽभिप्रेतो **विज्ञानमयः**। सर्वे इमे प्राणा विज्ञानमया इवैषु प्राणेषु कतमः। यथा समुदितेषु ब्राह्मणेषु सर्व इमे तेजस्विनः कतम एषु षडङ्गविदिति। पूर्वस्मिन्व्याख्याने कतम आत्मेत्येतावदेव प्रश्नवाक्यं योऽयं विज्ञानमय इति प्रतिवचनम्। द्वितीये तु व्याख्याने प्राणेष्वित्येवमन्तं प्रश्नवाक्यम्। अथवा सर्वमेव प्रश्नवाक्यं विज्ञानमयो हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः कतम इत्येतदन्तम्। योऽयं विज्ञानमय इत्येतस्य शब्दस्य निर्धारितार्थविशेषविषयत्वं कतम आत्मेति चेतिशब्दस्य प्रश्नवाक्यपरिसमाप्त्यर्थत्वं व्यवहितसंबन्धमन्तरेण युक्तमिति

कृत्वा कतम आत्मेत्येवमन्तमेव प्रश्नवाक्यं योऽयमित्यादि परं सर्वमेव प्रतिवचनमिति निश्चीयते।

योऽयमित्यात्मनः प्रत्यक्षत्वान्निर्देशः। विज्ञानमयो विज्ञानप्रायो बुद्धिविज्ञानोपाधिसंपर्काविवेकाद्विज्ञानमय इत्युच्यते। बुद्धिविज्ञानसंपृक्त एव हि यस्मादुपलभ्यते राहुरिव चन्द्रादित्यसंपृक्तः। बुद्धिर्हि सर्वार्थकरणं तमसीव प्रदीपः पुरोवस्थितः मनसा ह्येव पश्यति मनसा शृणोतीति ह्युक्तम्। बुद्धिविज्ञानालोकविशिष्टमेव हि सर्वं विषयजातमुपलभ्यते पुरोवस्थितप्रदीपालोकविशिष्टमिव तमसि। द्वारमात्राणि त्वन्यानि करणानि बुद्धेः। तस्मात्तेनैव विशेष्यते विज्ञानमय इति।

येषां परमात्मविज्ञप्तिविकार इति व्याख्यानं, तेषां विज्ञानमयो मनोमय इत्यादौ विज्ञानमयशब्दस्यान्यार्थदर्शनादश्रौतार्थताऽवसीयते। संदिग्धश्च पदार्थोऽन्यत्र निश्चितप्रयोगदर्शनान्निर्धारयितुं शक्यो, वाक्यशेषात्। निश्चितन्यायबलाद्वा। सधीरिति चोत्तरत्र पाठात्। हृद्यन्तरिति च वचनाद्युक्तं विज्ञानप्रायत्वमेव।

प्राणेष्विति व्यतिरेकप्रदर्शनार्था सप्तमी। यथा वृक्षेषु पाषाण इति सामीप्यलक्षणा। प्राणेषु हि व्यतिरेकाव्यतिरेकता संदिह्यत आत्मनः। **प्राणेषु** प्राणेभ्यो व्यतिरिक्त इत्यर्थः। यो हि येषु भवति स तद्व्यतिरिक्तो भवत्येव, यथा पाषाणेषु वृक्षः।

हृदि तत्रैतत्स्यात्प्राणेषु प्राणजातीयैव बुद्धिः स्यादित्यत आह— **हृद्यन्तरिति।** **हृच्छब्देन** पुण्डरीकाकारो मांसपिण्डस्तात्स्थ्याद्बुद्धिर्हृत्तस्यां **हृदि** बुद्धौ। **अन्त**रिति बुद्धिवृत्तिव्यतिरेकप्रदर्शनार्थम्। **ज्योतिर**वभासात्मकत्वादात्मोच्यते। तेन ह्यवभासकेनाऽऽत्मना ज्योतिषाऽऽस्ते पल्ययते कर्म कुरुते चेतनावानिव ह्ययं कार्यकरणपिण्डोयथाऽऽदित्यप्रकाशस्थो घटो, यथा वा मरकतादिर्मणिः क्षीरादिद्रव्ये प्रक्षिप्तः परीक्षणायाऽऽत्मच्छायमेव तत्क्षीरादिद्रव्यं करोति तादृगेतदात्मज्योति-

बुद्धेरपि हृदयात्सूक्ष्मत्वाद्धृद्यन्तःस्थमपि हृदयादिकं कार्यकरणसंघातं चैकीकृत्याऽऽत्मज्योतिश्छायं करोति। पारम्पर्येण सूक्ष्मस्थूलतारतम्यात्सर्वान्तरतमत्वात्।

बुद्धिस्तावत्स्वच्छत्वादानन्तर्याच्चाऽऽत्मचैतन्यज्योतिः प्रतिच्छाया भवति। तेन हि विवेकिनामपि तत्राऽऽत्माभिमानबुद्धिः प्रथमा। ततोऽप्यानन्तर्यान्मनसि चैतन्यावभासता बुद्धिसंपर्कात्। तत इन्द्रियेषु। मनःसंयोगात्। ततोऽनन्तरं शरीरे। इन्द्रियसंपर्कात्। एवं पारम्पर्येण कृत्स्नं कार्यकरणसंघातमात्मा चैतन्यस्वरूपज्योतिषाऽवभासयति। तेन हि सर्वस्य लोकस्य कार्यकरणसंघाते तद्वृत्तिषु चानियतात्माभिमानबुद्धिर्यथाऽविवेकं जायते। तथा च भगवतोक्तं गीतासु —

"यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत"॥
"यदादित्यगतं तेजः" इत्यादि च।

"नित्योऽनित्यानां चेतनश्चेतनानाम्" इति च काठके। "तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" इति च। "येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः" इति च मन्त्रवर्णः। तेनायं हृद्यन्तर्ज्योतिः।

पुरुष आकाशवत्सर्वगतत्वात्पूर्ण इति **पुरुषः**। निरतिशयं चास्य स्वयंज्योतिष्ट्वं सर्वावभासकत्वात्स्वयमन्यानवभास्यत्वाच्च। स एष पुरुषः स्वयमेव ज्योतिःस्वभावो यं त्वं पृच्छसि कतम आत्मेति। बाह्यानां ज्योतिषां सर्वकरणानुग्राहकाणां प्रत्यस्तमयेऽन्तःकरणद्वारेण हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुष आत्मानुग्राहकः करणानामित्युक्तम्।

यदाऽपि बाह्यकरणानुग्राहकाणामादित्यादिज्योतिषां सद्भावस्तदाऽप्यादित्यादिज्योतिषां परार्थत्वात्कार्यकरणसंघातस्याचैतन्येन स्वार्थानुपपत्तेः स्वार्थज्योतिष आत्मनोऽनुग्रहाभावेऽयं कार्यकरणसंघातो न व्यवहाराय कल्पते। आत्मज्योतिरनुग्रहेणैव हि सर्वदा सर्वः संव्यवहारः। "यदेजद्धृदयं मनश्चैतत्संज्ञानम्" इत्यादि

श्रुत्यन्तरात्। साभिमानो हि सर्वः प्राणिसंव्यवहारः। अभिमानहेतुं च मरकतमणिदृष्टान्तेनावोचाम।

यद्यप्येवमेतत्तथाऽपि जाग्रद्विषये सर्वकरणागोचरत्वादात्मज्योतिषो बुद्ध्यादिबाह्याभ्यन्तरकार्यकरणव्यापारसंनिपातव्याकुलत्वान्न शक्यते तज्ज्योतिरात्माख्यं मुञ्जेषीकावन्निष्कृष्य दर्शयितुमित्यतः स्वप्ने दिदर्शयिषुः प्रक्रमते—**स समानः सन्नुभौ लोकावनुसंचरति**। यः पुरुषः स्वयमेव ज्योतिरात्मा स समानः सदृशः सन्। केन। प्रकृतत्वात्संनिहितत्वाच्च हृदयेन। हृदीति हृच्छब्दवाच्या बुद्धिः प्रकृता संनिहिता च। तस्मात्तयैव सामान्यम्।

किं पुनः सामान्यमश्वमहिषवद्विवेकतोऽनुपलब्धिः। अवभास्या बुद्धिरवभासकं तदात्मज्योतिरालोकवत्। अवभास्यावभासकयोर्विवेकतोऽनुपलब्धिः प्रसिद्धा। विशुद्धत्वाद्ध्यालोकोऽवभास्येन सदृशो भवति। यथा रक्तमवभासयन्रक्तसदृशो रक्ताकारो भवति। यथा हरितं नीलं लोहितं चावभासयन्नालोकस्तत्समानो भवति। तथा बुद्धिमवभासयन्बुद्धिद्वारेण कृत्स्नं क्षेत्रमवभासयतीत्युक्तं मरकतमणिनिदर्शनेन। तेन सर्वेण समानो बुद्धिसामान्यद्वारेण। सर्वमय इति चात एव वक्ष्यति।

तेनासौ कुतश्चित्प्रविभज्य मुञ्जेषीकावत्स्वेन ज्योतीरूपेण दर्शयितुं न शक्यत इति सर्वव्यापारं तत्राध्यारोप्य नामरूपगतं ज्योतिर्धर्मं च नामरूपयोर्नामरूपे चाऽऽत्मज्योतिषि सर्वो लोको मोमुह्यतेऽयमात्मा नायमात्मैवंधर्मा नैवंधर्मा कर्ताऽकर्ता शुद्धोऽशुद्धो बद्धो मुक्तः स्थितो गत आगतोऽस्ति नास्तीत्यादिविकल्पैः। अतः समानः सन्नुभौ लोकौ प्रतिपन्नप्रतिपत्तव्यादिहलोकपरलोकावुपात्तदेहेन्द्रियादिसंघातत्यागान्योपादानसंतानप्रबन्धशतसंनिपातैरनुक्रमेण संचरति। धीसादृश्यमेवोभयलोकसंचरणहेतुर्न स्वत इति।

तत्र नामरूपोपाधिसादृश्यं भ्रान्तिनिमित्तं यत्तदेव हेतुर्न स्वत इत्येतदुच्यते। यस्मात्स समानः सन्नुभौ लोकावनुक्रमेण संचरति तदेतत्प्रत्यक्षमित्येतद्दर्शयति—

यतो **ध्यायतीव** ध्यानव्यापारं करोतीव चिन्तयतीव ध्यानव्यापारवतीं बुद्धिं स तत्स्थेन चित्स्वभावज्योतीरूपेणावभासयंस्तत्सदृशस्तत्समानः सन्ध्यायतीवाऽऽलोकवदेव। अतो भवति चिन्तयतीति भ्रान्तिर्लोकस्य। न तु परमार्थतो ध्यायति। तथा **लेलायतीव**ात्यर्थं चलतीव। तेष्वेव करणेषु बुद्ध्यादिषु वायुषु च चलत्सु तदवभासकत्वात्तत्सदृशं तदिति **लेलायतीव**। न तु परमार्थतश्चलनधर्मकं तदात्मज्योतिः।

कथं पुनरेतदवगम्यते तत्समानत्वभ्रान्तिरेवोभयलोकसंचरणादिहेतुर्न स्वत इत्यस्यार्थस्य प्रदर्शनाय हेतुरुपदिश्यते—**स आत्मा हि यस्मात्स्वप्नो भूत्वा**। स यया धिया समानः सा धीर्यद्यद्भवति तत्तदसावपि भवतीव तस्माद्यदाऽसौ **स्वप्नो** भवति स्वापवृत्तिं प्रतिपद्यते धीस्तदा सोऽपि स्वप्नवृत्तिं प्रतिपद्यते। यदा धीर्जिजागरिषति तदाऽसावप्यतआह— **स्वप्नो भूत्वा** स्वप्नप्रवृत्तिमवभासयन्धियः स्वापवृत्त्याकारो **भूत्वेमं लोकं** जागरितव्यवहारलक्षणं कार्यकरणसंघातात्मकं लौकिकशास्त्रीयव्यवहारास्पदम**तिक्रामत्य**तीत्य क्रामति विविक्तेन स्वेनाऽऽत्मज्योतिषा स्वप्नात्मिकां धीवृत्तिमवभासयन्नवतिष्ठते यस्मात्तस्मात्स्वयंज्योतिःस्वभाव एवासौ विशुद्धः सन्कर्तृक्रियाकारकफलशून्यः परमार्थतो धीसादृश्यमेव तूभयलोकसंचारादिसंव्यवहारभ्रान्तिहेतुः। **मृत्यो रूपाणि** मृत्युः कामकर्माविद्यादिर्न तस्यान्यद्रूपं स्वतः कार्यकरणान्येवास्य रूपाणि। अतस्तानि मृत्यो रूपाण्यतिक्रामति क्रियाफलाश्रयाणि।

ननु नास्त्येव धिया समानमन्यद्धियोऽवभासकमात्मज्योतिः। धीव्यतिरेकेण प्रत्यक्षेण वाऽनुमानेन वाऽनुपलम्भात्। यथाऽन्या तत्काल एव द्वितीया धीः। यत्त्ववभास्यावभासकयोरन्यत्वेऽपि विवेकानुपलम्भात्सादृश्यमिति घटाद्यालोकयोः। तत्र भवत्वन्यत्वेनाऽऽलोकस्योपलम्भाद् घाटादेः संश्लिष्टयोः सादृश्यं भिन्नयोरेव न च तथेह घटादेरिवधियोऽवभासकं ज्योतिरन्तरं प्रत्यक्षेण वाऽनुमानेन वोपलभामहे।

धीरेव हि चित्स्वरूपावभासकत्वेन स्वाकारा विषयाकारा च। तस्मान्नानुमानतो नापि प्रत्यक्षतो धियोऽवभासकं ज्योतिः शक्यते प्रतिपादयितुं व्यतिरिक्तम्।

यदपि दृष्टान्तरूपमभिहितमवभास्यावभासकयोर्भिन्नयोरेव घटाद्यालोकयोः संयुक्तयोः सादृश्यमिति। तत्राभ्युपगममात्रमस्माभिरुक्तं न तु तत्र घटाद्यवभास्यावभासकौ भिन्नौ। परमार्थतस्तु घटादिरेवावभासात्मकः सालोकः अन्योऽन्यो हि घटादिरुत्पद्यते। विज्ञानमात्रमेव सालोकघटादिविषयाकारमवभासते। यदैवं तदा न बाह्यो दृष्टान्तोऽस्ति विज्ञानलक्षणमात्रत्वात्सर्वस्य। एवं तस्यैव विज्ञानस्य ग्राह्यग्राहकाकारतामलं परिकल्प्य तस्यैव पुनर्विशुद्धिं परिकल्पयन्ति। तद्ग्राह्यग्राहकविनिर्मुक्तं विज्ञानं स्वच्छीभूतं क्षणिकं व्यवतिष्ठते इति केचित्। तस्यापि शान्तिं केचिदिच्छन्ति। तदपि विज्ञानं सांवृतं ग्राह्यग्राहकांशविनिर्मुक्तं शून्यमेव घटादिबाह्यवस्तुवदित्यपरे माध्यमिका आचक्षते।

सर्वा एताः कल्पना बुद्धिविज्ञानावभासकस्य व्यतिरिक्तस्याऽऽत्मज्योतिषोऽपह्नवादस्य श्रेयोमार्गस्य प्रतिपक्षभूता वैदिकस्य। तत्र येषां बाह्योऽर्थोऽस्ति तान्प्रत्युच्यते तावत्। न स्वात्मानवभासकत्वाद्घटादेः। तमस्यवस्थितो घटादिस्तावन्न कदाचिदपि स्वात्मनाऽवभास्यते। प्रदीपाद्यालोकसंयोगेन तु नियमेनैवावभास्यमानो दृष्टः सालोको घट इति। संश्लिष्टयोरपि घटालोकयोरन्यत्वमेव पुनः पुनः संश्लेषे विश्लेषे च विशेषदर्शनाद्रज्जुघटयोरिव। अन्यत्वे च व्यतिरिक्तावभासकत्वं न स्वमात्मनैव स्वमात्मानमवभासयति।

ननु प्रदीपः स्वात्मानमेवावभासयन्दृष्ट इति। न हि घटादिवत्प्रदीपदर्शनाय प्रकाशान्तरमुपाददते लौकिकाः। तस्मात्प्रदीपः स्वात्मानं प्रकाशयति। न। अवभास्यत्वाविशेषात्। यद्यपि प्रदीपोऽन्यस्यावभासकः स्वयमवभासात्मकत्वात्तथाऽपि व्यतिरिक्तचैतन्यावभास्यत्वं न व्यभिचरति घटादिवदेव। यदा चैवं तदा व्यतिरिक्तावभास्यत्वं तावदवश्यंभावि।

ननु यथा घटश्चैतन्यावभास्यत्वेऽपि व्यतिरिक्तमालोकान्तरमपेक्षते नत्वेवं प्रदीपोऽन्यमालोकान्तरमपेक्षते। तस्मात्प्रदीपोऽन्यावभास्योऽपि सन्नात्मानं घटं चावभासयति। न, स्वतः परतो वा विशेषाभावात्। यथा चैतन्यावभास्यत्वं घटस्य तथा प्रदीपस्यापि चैतन्यावभास्यत्वमविशिष्टम्। यत्तूच्यते प्रदीप आत्मानं घटं चावभासयतीति, तदसत्। कस्मात्। यदाऽऽत्मानं नावभासयति तदा कीदृशः स्यात्। न हि तदा प्रदीपस्य स्वतो वा परतो वा विशेषः कश्चिदुपलभ्यते। स ह्यवभास्यो भवति यस्यावभासकसंनिधावसंनिधौ च विशेष उपलभ्यते। न हि प्रदीपस्य स्वात्मसंनिधिरसंनिधिर्वा शक्यः कल्पयितुम्। असति च कादाचित्के विशेष आत्मानं प्रदीपः प्रकाशयतीति मृषैवोच्यते।

चैतन्यग्राह्यत्वं तु घटादिभिरविशिष्टं प्रदीपस्य। तस्माद्विज्ञानस्यऽऽत्मग्राह्यग्राहकत्वे न प्रदीपो दृष्टान्तः। चैतन्यग्राह्यत्वं च विज्ञानस्य बाह्यविषयैरविशिष्टम्। चैतन्यग्राह्यत्वे च विज्ञानस्य किं ग्राह्यविज्ञानग्राह्यतैव किं वा ग्राहकविज्ञानग्राह्यतेति, तत्र संदिह्यमाने वस्तुनि योऽन्यत्र दृष्टो न्यायः, स कल्पयितुं युक्तो, न तु दृष्टविपरीतः। तथा च सति यथा व्यतिरिक्तेनैव ग्राहकेण बाह्यानां प्रदीपानां ग्राह्यत्वं दृष्टं, तथा विज्ञानस्यापि चैतन्यग्राह्यत्वात्प्रकाशत्वे सत्यपि प्रदीपवद्-व्यतिरिक्तचैतन्यग्राह्यत्वं युक्तं कल्पयितुं न त्वनन्यग्राह्यत्वम्। यश्चान्यो विज्ञानस्य ग्रहीता स आत्मा ज्योतिरन्तरं विज्ञानात्।

तदाऽनवस्थेति चेत्। न। ग्राह्यत्वमात्रं हि तद्ग्राहकस्य वस्त्वन्तरत्वे लिङ्गमुक्तं न्यायतः। न त्वेकान्ततो ग्राहकत्वे तद्ग्राहकान्तरास्तित्वे वा कदाचिदपि लिङ्गं संभवति। तस्मान्न तदनवस्थाप्रसङ्गः।

विज्ञानस्य व्यतिरिक्तग्राह्यत्वे करणान्तरापेक्षायामनवस्थेति चेत्। न। नियमाभावात्। न हि सर्वत्रायं नियमो भवति। यत्र वस्त्वन्तरेण गृह्यते वस्त्वन्तरं, तत्र ग्राह्यग्राहकव्यतिरिक्तं करणान्तरं स्यादिति नैकान्तेन नियन्तुं शक्यते। वैचित्र्यदर्शनात्। कथम् घटस्तावत्स्वात्मव्यतिरिक्तेनाऽऽत्मना ग्राहकेण गृह्यते, तत्र प्रदी-

पादिरालोको ग्राह्यग्राहकव्यतिरिक्तं करणम्। न हि प्रदीपाद्यालोको घटांशश्चक्षुरंशो वा। घटवच्चक्षुर्ग्राह्यत्वेऽपि प्रदीपस्य चक्षुः प्रदीपव्यतिरेकेण न बाह्यमालोकस्थानीयं किंचित्करणान्तरमपेक्षते। तस्मान्नैव नियन्तुं शक्यते यत्र यत्र व्यतिरिक्तग्राह्यत्वं तत्र तत्र करणान्तरं स्यादेवेति। तस्माद्विज्ञानस्य व्यतिरिक्तग्राहकग्राह्यत्वे न करणद्वाराऽनवस्था, नापि ग्राहकत्वद्वारा कदाचिदप्युपपादयितुं शक्यते। तस्मात्सिद्धं विज्ञानव्यतिरिक्तमात्मज्योतिरन्तरमिति।

ननु नास्त्येव बाह्योऽर्थो घटादिः प्रदीपो वा विज्ञानव्यतिरिक्तः। यद्धि यद्व्यतिरेकेण नोपलभ्यते तत्तावन्मात्रं वस्तु दृष्टम्। यथा स्वप्नविज्ञानग्राह्यं घटपटादिवस्तु स्वप्नविज्ञानव्यतिरेकेणानुपलम्भात्स्वप्नघटप्रदीपादेः स्वप्नविज्ञानमात्रताऽवगम्यते, तथा जागरितेऽपि घटप्रदीपादेर्जाग्रद्विज्ञानव्यतिरेकेणानुपलम्भाज्जाग्रद्विज्ञानमात्रतैव युक्ता भवितुम्। तस्मान्नास्ति बाह्योऽर्थो घटप्रदीपादिर्विज्ञानमात्रमेव तु सर्वम्। तत्र यदुक्तं विज्ञानस्य व्यतिरिक्तावभास्यत्वाद्विज्ञानव्यतिरिक्तमस्ति ज्योतिरन्तरं घटादेरिवेति, तन्मिथ्या। सर्वस्य विज्ञानमात्रत्वे दृष्टान्ताभावात्। न। यावत्तावदभ्युपगमात्। न तु बाह्योऽर्थो भवतैकान्तेनैव नाभ्युपगम्यते। ननु मया नाभ्युपगम्यत एव। न। विज्ञानं घटः प्रदीप इति च शब्दार्थपृथक्त्वाद्यावत्तावदपि बाह्यमर्थान्तरमवश्यमभ्युपगन्तव्यम्। विज्ञानादर्थान्तरं वस्तु न चेदभ्युपगम्यते विज्ञानं घटः पट इत्येवमादीनां शब्दानामेकार्थत्वे पर्यायशब्दत्वं प्राप्नोति। तथा साधनानां फलस्य चैकत्वे साध्यसाधनभेदोपदेशशास्त्रानर्थक्यप्रसङ्गः। तत्कर्तुरज्ञानप्रसङ्गो वा।

किंचान्यत्। विज्ञानव्यतिरेकेण वादिप्रतिवादिवाददोषाभ्युपगमात्। न ह्यात्मविज्ञानमात्रमेव वादिप्रतिवादिवादस्तद्दोषो वाऽभ्युपगम्यते, निराकर्तव्यत्वात्प्रतिवाद्यादीनाम्। न ह्यात्मीयं विज्ञानं निराकर्तव्यमभ्युपगम्यते स्वयं वाऽऽत्मा कस्यचित्। तथा च सति सर्वसंव्यवहारलोपप्रसङ्गः। न च प्रतिवाद्यादयः स्वात्मनैव गृह्यन्त इत्यभ्युपगमः। व्यतिरिक्तग्राह्या हि तेऽभ्युपगम्यन्ते। तस्मात्तद्वत्सर्वमेव व्यति-

रिक्तग्राह्यं वस्तु जाग्रद्विषयत्वाज्जाग्रद्वस्तुप्रतिवाद्यादिवदिति सुलभो दृष्टान्तः। संतत्यन्तरवद्विज्ञानान्तरवच्चेति। तस्माद्विज्ञानवादिनाऽपि न शक्यं विज्ञानव्यतिरिक्तं ज्योतिरन्तरं निराकर्तुम्।

स्वप्ने विज्ञानव्यतिरेकाभावादयुक्तमिति चेत्। न। अभावादपि भावस्य वस्त्वन्तरत्वोपपत्तेः। भवतैव तावत्स्वप्ने घटादिविज्ञानस्य भावभूतत्वमभ्युपगतम्। तदभ्युपगम्य तद्व्यतिरेकेण घटाद्यभाव उच्यते। स विज्ञानविषयो घटादिर्यद्यभावो यदि वा भावः स्यादुभयथाऽपि घटादिविज्ञानस्य भावभूतत्वमभ्युपगतमेव। न तु तन्निवर्तयितुं शक्यते। तन्निवर्तकन्यायाभावात्। एतेन सर्वस्य शून्यता प्रत्युक्ता। प्रत्यगात्मग्राह्यता चाऽऽत्मनोऽहमिति मीमांसकपक्षः प्रत्युक्तः।

यत्तूक्तं सालोकोऽन्यश्चान्यश्च घटो जायत इति तदसत्। क्षणान्तरेऽपि स एवायं घट इति प्रत्यभिज्ञानात्। सादृश्यात्प्रत्यभिज्ञानं कृत्तोत्थितकेशनखादिष्विवेति चेत्। न। तत्रापि क्षणिकत्वस्यासिद्धत्वात्। जात्येकत्वाच्च। कृत्तेषु पुनरुत्थितेषु च केशनखादिषु केशनखत्वजातेरेकत्वात्केशनखत्वप्रत्ययस्तन्निमित्तोऽभ्रान्त एव। न हि दृश्यमानलूनोत्थितकेशनखादिषु व्यक्तिनिमित्तः स एवेति प्रत्ययो भवति। कस्यचिद्दीर्घकालव्यवहितदृष्टेषु च तुल्यपरिमाणेषु तत्कालीनवालादितुल्या इमे केशनखाद्या इति प्रत्ययो भवति न तु त एवेति। घटादिषु पुनर्भवति स एवेति प्रत्ययः। तस्मान्न समोदृष्टान्तः।

प्रत्यक्षेण हि प्रत्यभिज्ञायमाने वस्तुनि तदेवेदमिति न चान्यत्वमनुमातुं युक्तं, प्रत्यक्षविरोधे लिङ्गस्याऽऽभासत्वोपपत्तेः सादृश्यप्रत्ययानुपपत्तेश्च ज्ञानस्य क्षणिकत्वात्। एकस्य हि वस्तुदर्शिनो वस्त्वन्तरदर्शने सादृश्यप्रत्ययः स्यात्। न तु वस्तुदर्श्येको वस्त्वन्तरदर्शनाय क्षणान्तरमवतिष्ठते। विज्ञानस्य क्षणिकत्वात्सकृद्वस्तुदर्शनेनैव क्षयोपपत्तेः। तेनेदं सदृशमिति हि सादृश्यप्रत्ययो भवति। तेनेति दृष्ट-

शरीरका निमित्त कारण = पुण्य, पाप.
शरीरका उपादान कारण = माता-पिता का शुक्र, शोणित.

story श्रोता मानो वक्ता को उपकार करता है! राजस्थान के बुढिया बार बार मन्त्र दीक्षा.

स्मरणमिदमिति वर्तमानप्रत्ययः। तेनेति दृष्टं स्मृत्वा यावदिदमिति वर्तमानक्षणकालमवतिष्ठेत। ततः क्षणिकवादहानिः।

अथ तेनेत्येवोपक्षीणः स्मार्तः प्रत्यय, इदमिति चान्य एव वार्तमानिकः प्रत्ययः क्षीयते, ततः सादृश्यप्रत्ययानुपपत्तिस्तेनेदं सदृशमिति। अनेकदर्शिन एकस्याभावात्। व्यपदेशानुपपत्तिश्च द्रष्टव्यदर्शनेनैवोपक्षयाद्विज्ञानस्येदं पश्याम्यदोऽद्राक्षमितिव्यपदेशानुपपत्तिर्दृष्टवतो व्यपदेशक्षणानवस्थानात्। अथावतिष्ठेत क्षणिकवादहानिः। अथादृष्टवतो व्यपदेशः सादृश्यप्रत्ययश्च तदानीं जात्यन्धस्येव रूपविशेषव्यपदेशस्तत्सादृश्यप्रत्ययश्च सर्वमन्धपरम्परेति प्रसज्येत सर्वज्ञशास्त्रप्रणयनादि, न चैतदिष्यते। अकृताभ्यागमकृतविप्रणाशदोषौ तु प्रसिद्धतरौ क्षणवादे।

दृष्टव्यपदेशहेतुः पूर्वोत्तरसहित एक एव हि शृङ्खलावत्प्रत्ययो जायत इति चेत्। तेनेदं सदृशमिति च। न। वर्तमानातीतयोर्भिन्नकालत्वात्। तत्र वर्तमानप्रत्यय एकः शृङ्खलावयवस्थानीयोऽतीतश्चापरस्तौ प्रत्ययौ भिन्नकालौ तदुभयप्रत्ययविषयस्पृक्चेच्छृङ्खलाप्रत्ययस्ततः क्षणद्वयव्यापित्वादेकस्य विज्ञानस्य पुनः क्षणवादहानिः। ममतवतादिविशेषानुपपत्तेश्च सर्वसंव्यवहारलोपप्रसङ्गः। सर्वस्य च स्वसंवेद्यविज्ञानमात्रत्वे विज्ञानस्य च स्वच्छावबोधावभासमात्रस्वाभाव्याभ्युपगमात्तद्दर्शिनश्चान्यस्याभावेऽनित्यदुःखशून्यानात्मत्वाद्यनेककल्पनानुपपत्तिः। impossible

Pellucid knowledge

न च दाडिमादेरिव विरुद्धानेकांशवत्त्वं विज्ञानस्य। स्वच्छावभासस्वाभाव्यात्। अनित्यदुःखादीनां विज्ञानांशत्वे च सत्यनुभूयमानत्वाद् व्यतिरिक्तविषयत्वप्रसङ्गः। अथानित्यदुःखाद्यात्मैकत्वमेव विज्ञानस्य तदा तद्वियोगाद्विशुद्धिकल्पनानुपपत्तिः। संयोगिमलवियोगाद्धि विशुद्धिर्भवति। यथाऽऽदर्शप्रभृतीनाम्। न तु स्वाभाविकेन धर्मेण कस्यचिद्वियोगो दृष्टः। न ह्यग्नेः स्वाभाविकेन प्रकाशेनौष्ण्येन वा वियोगो दृष्टः। यदपि पुष्पगुणानां रक्तत्वादीनां द्रव्यान्तरयोगेन(ण) वियोजनं

अभावेऽसति अनादिरेऽसति ज्ञाननिवृत्त्यं अज्ञानम्.

(जन्म मरण के साथ देहेन्द्रियादि रूप पाप का ग्रहण और त्याग)

स वा अयं पुरुषो जायमानः शरीरमभिसंपद्यमानः

वह यह प्रकृत आत्मा जन्म धारण करते समय शरीर में आत्मभाव करता

दृश्यते, तत्रापि संयोगपूर्वत्वमनुमीयते। बीजभावनया पुष्पफलादीनां गुणान्तरोत्पत्तिदर्शनात्। अतो विज्ञानस्य विशुद्धिकल्पनानुपपत्तिः।

विषयविषय्याभासत्वं च यन्मलं परिकल्प्यते विज्ञानस्य, तदप्यन्यसंसर्गाभावादनुपपन्नम्। न ह्यविद्यमानेन विद्यमानस्य संसर्गः स्यात्। असति चान्यसंसर्गे यो धर्मो यस्य दृष्टः, स तत्स्वभावत्वान्न तेन वियोगमर्हति। यथाऽग्नेरौष्ण्यं सवितुर्वा प्रभा। तस्मादन्यसंसर्गेण मलिनत्वं तद्विशुद्धिश्च विज्ञानस्येतीयं कल्पनाऽन्धपरम्परैव प्रमाणशून्येत्यवगम्यते।

यदपि तस्य विज्ञानस्य निर्वाणं पुरुषार्थं कल्पयन्ति, तत्रापि फलाश्रयानुपपत्तिः। कण्टकविद्धस्य हि कण्टकवेधजनितदुःखनिवृत्तिः फलं, न तु कण्टकविद्धस्य मरणे तद्दुःखनिवृत्तिफलस्याऽऽश्रय उपपद्यते। तद्वत्सर्वनिर्वाणेऽसति च फलाश्रये पुरुषार्थकल्पना व्यर्थैव। यस्य हि पुरुषशब्दवाच्यस्य सत्त्वस्याऽऽत्मनो विज्ञानस्य चार्थः परिकल्प्यते, तस्य पुनः पुरुषस्य निर्वाणे कस्यार्थः पुरुषार्थ इति स्यात्। यस्य पुनरस्त्यनेकार्थदर्शी विज्ञानव्यतिरिक्त आत्मा, तस्य दृष्टस्मरणदुःखसंयोगवियोगादि सर्वमेवोपपन्नमन्यसंयोगनिमित्तं कालुष्यं, तद्वियोगनिमित्ता च विशुद्धिरिति। शून्यवादिपक्षस्तु सर्वप्रमाणविप्रतिषिद्ध इति तन्निराकरणाय नाऽऽदरः क्रियते॥७॥

यथैवेहैकस्मिन्देहे स्वप्नो भूत्वा मृत्यो रूपाणि कार्यकरणान्यतिक्रम्य स्वप्ने स्वे आत्मज्योतिष्यास्ते एवं **स वै** प्रकृतः **पुरुषोऽयं जायमानः।** कथं जायमान इत्युच्यते— **शरीरं** देहेन्द्रियसंघात**मभिसंपद्यमानः** शरीरे आत्मभावमापद्यमानः इत्यर्थः। **पाप्मभिः** पाप्मसमवायिभिर्धर्माधर्माश्रयैः कार्यकरणै-

पाप्मभिः सꣳसृज्यते स उत्क्रामन्म्रियमाणः पाप्मनो विजहाति॥८॥

तस्य वा एतस्य पुरुषस्य द्वे एव स्थाने भवत इदं च परलोकस्थानं च संध्यं तृतीयꣳ स्वप्नस्थानं तस्मिन्संध्ये स्थाने तिष्ठन्नेते उभे स्थाने पश्यतीदं च परलोकस्थानं च। अथ यथाक्रमोऽयं परलोकस्थाने भवति तमाक्रममाक्रम्योभयान्पाप्मन आनन्दा-

हुआ देहेन्द्रियादिरूप पापों से युक्त हो जाता है और मरते समय उन पापों को त्याग देता है॥८॥

उस इस आत्मपुरुष के यह लोक और परलोक संबन्धी दो ही स्थान हैं, तीसरा स्वप्नस्थान तो संध्यस्थान है। उस संध्यस्थान में रहता हुआ यह पुरुष इस लोकरूप स्थान और परलोकरूप स्थान इन दोनों को देखता है। यह पुरुष परलोकस्थान के लिये जैसे साधनों से युक्त होता है, वैसे साधनों का आश्रय लेकर यह पाप के फलरूप दुःख और

रित्यर्थः, संसृज्यते **संयुज्यते**। **स** एवोत्**क्राम**ञ्छरीरान्तरमूर्ध्वं क्रामन्गच्छ**न्म्रियमाण** इत्येतस्य व्याख्यानमुत्क्रामन्निति। तानेव संश्लिष्टान्पाप्मरूपान्कार्यकरणलक्षणा**न्विजहाति** तैर्वियुज्यते तान्परित्यजति। यथाऽयं स्वप्नजाग्रद्वृत्त्योर्वर्तमान एवैकस्मिन्देहे पाप्मरूपकार्यकरणोपादानपरित्यागाभ्यामनवरतं संचरति धिया समानः सन्, तथा सोऽयं पुरुष उभाविहलोकपरलोकौ जन्ममरणाभ्यां कार्यकरणोपादानपरित्यागावनवरतं प्रतिपद्यमान आसंसारमोक्षात्संचरति। तस्मात्सिद्धमस्याऽऽत्मज्योतिषोऽन्यत्वं कार्यकरणरूपेभ्यः संयोगवियोगाभ्याम्। न हि तद्धर्मत्वे सति तैरेव संयोगो वियोगो वा युक्तः॥८॥

॥ इति सप्तदशाह्निकम्॥१७॥

❁❁❁

ननु न स्तोऽस्योभौ लोकौ, यौ जन्ममरणाभ्यामनुक्रमेण संचरति स्वप्न-

ꣳश्च पश्यति स यत्र प्रस्वपित्यस्य लोकस्य सर्वावतो मात्रामपादाय स्वयं विहत्य स्वयं निर्माय स्वेन भासा स्वेन ज्योतिषा प्रस्वपित्यत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिर्भवति॥९॥

पुण्यकर्म के फलरूप सुख, दोनों ही को देखता है। जिस समय यह सो जाता है उस समय इस सर्म्पूण लोकों की मात्रा अर्थात् एक देश को लेकर अपने आप ही इस स्थूल शरीर को चेतनाशून्य करके तथा स्वयं अपने ही वासनामय स्वाप्न शरीर को रचकर अपने आत्मज्योतिरूप प्रकाश से शयन करता है। अतः इस अवस्था में यह पुरुष स्वयंज्योतिस्वरूप होता है॥९॥

जागरिते इव। स्वप्नजागरिते तु प्रत्यक्षमवगम्येते, न त्विहलोकपरलोकौ केनचित्-प्रमाणेन। तस्मादेते एव स्वप्नजागरिते इहलोकपरलोकाविति। उच्यते —

तस्यैतस्य पुरुषस्य वै द्वे एव स्थाने भवतो न तृतीयं चतुर्थं वा। के ते? **इदं च** यत्प्रतिपन्नं वर्तमानं जन्म शरीरेन्द्रियविषयवेदना-विशिष्टं स्थानं प्रत्यक्षतोऽनुभूयमानम्। **परलोक** एव **स्थानं** परलोकस्थानम्। तच्च शरीरादिवियोगोत्तरकालानुभाव्यम्। ननु स्वप्नोऽपि परलोकस्तथा च सति द्वे एवेत्यवधारणमयुक्तम्। न। कथं तर्हि **संध्यं** तत्। इहलोकपरलोकयोर्यः संधिस्त-स्मिन्भवं संध्यं **यत्तृतीयं तत्स्वप्नस्थानम्।** तेन स्थानद्वित्वावधारणम्। न हि ग्रामयोः संधिस्तावेव ग्रामावपेक्ष्य तृतीयत्वपरिगणनमर्हति। कथं पुनस्तस्य परलोकस्थानस्यास्तित्वमवगम्यते, यदपेक्ष्य स्वप्नस्थानं संध्यं भवेत्। यत**स्तस्मि-न्संध्ये स्वप्नस्थाने तिष्ठन्**भवन्वर्तमान **एते उभे स्थाने पश्यति।** के ते उभे? **इदं च परलोकस्थानं च।** तस्मात्स्तः स्वप्नजागरितव्यतिरेकेणोभौ लोकौ यौ धिया समानः सन्ननुसंचरति जन्ममरणसंतानप्रबन्धेन।

कथं पुनः स्वप्ने स्थितः सन्नुभौ लोकौ पश्यति। किमाश्रयः, केन विधिनेति। उच्यते— अथ कथं पश्यतीति। शृणु। **यथाक्रम** आक्रामत्यनेनेत्याक्रम आश्रयोऽवष्टम्भ इत्यर्थः। यादृश आक्रमोऽस्य सोऽयं यथाक्रमः। **अयं** पुरुषः **परलोकस्थाने** प्रतिपत्तव्ये निमित्ते यथाक्रमो **भवति** यादृशेन परलोकप्रतिपत्तिसाधनेन विद्याकर्मपूर्वप्रज्ञालक्षणेन युक्तो भवतीत्यर्थः। **तमाक्रमं** परलोकस्थानायोन्मुखीभूतं प्राप्ताङ्कुरीभावमिव बीजं, **तमाक्रममाक्रम्यावष्टभ्या**ऽऽश्रित्योभयान्पश्यति बहुवचनं धर्माधर्मफलानेकत्वा**दुभयानु**भयप्रकारानित्यर्थः। **कांस्तान्पाप्मनः** पापफलानि। न तु पुनः साक्षादेव पाप्मनां दर्शनं संभवति, तस्मात्पापफलानि दुःखानीत्यर्थः। **आनन्दांश्च** धर्मफलानि सुखानीत्येतत्। ता**नुभयान्पाप्मन आनन्दांश्च पश्यति** जन्मान्तरदृष्टवासनामयान्। यानि च प्रतिपत्तव्यजन्मविषयाणि क्षुद्रधर्माधर्मफलानि धर्माधर्मप्रयुक्तो देवतानुग्रहाद्वा पश्यति।

तत्कथमवगम्यते परलोकस्थानसंबन्धिपाप्मानन्ददर्शनं स्वप्न इति। उच्यते— यस्मादिह जन्मन्यननुभाव्यमपि पश्यति बहु। न च स्वप्नो नामापूर्वं दर्शनम्। पूर्वदृष्टस्मृतिर्हि स्वप्नः प्रायेण। तेन स्वप्नजागरितस्थानव्यतिरेकेण स्त उभौ लोकौ।

यदादित्यादिबाह्यज्योतिषामभावेऽयं कार्यकरणसंघातः पुरुषो येन व्यतिरिक्तेनाऽऽत्मना ज्योतिषा व्यवहरतीत्युक्तम्। तदेव नास्ति यदादित्यादिज्योतिषामभावगमनं यत्रेदं विविक्तं स्वयं ज्योतिरुपलभ्येत। येन सर्वदैवायं कार्यकरणसंघातः संसृष्ट एवोपलभ्यते। तस्मादसत्समोऽसन्नेव वा स्वेन विविक्तस्वभावेन ज्योतीरूपेणाऽऽत्मेति।

अथ क्वचिद्विविक्तः स्वेन ज्योतीरूपेणोपलभ्येत बाह्याध्यात्मिकभूतभौतिक संसर्गशून्यस्ततो यथोक्तं सर्वं भविष्यतीत्येतदर्थमाह— **स** यः प्रकृत आत्मा **यत्र** यस्मिन्काले **प्रस्वपिति** प्रकर्षेण स्वापमनुभवति, तदा किमुपादानः केन विधिना

स्वपिति संध्यं स्थानं प्रतिपद्यत इत्युच्यते। **अस्य** दृष्टस्य **लोकस्य** जागरितलक्षणस्य **सर्वावतः** सर्वमवतीति सर्वावानयं लोकः कार्यकरणसंघातो विषयवेदनासंयुक्तः। सर्वावत्त्वमस्य व्याख्यातमन्नत्रयप्रकरणे''अथो अयं वा आत्मा''इत्यादिना। सर्वा वा भूतभौतिकमात्रा अस्य संसर्गकारणभूता विद्यन्त इति सर्ववान्सर्ववानेव सर्वावांस्तस्य **सर्वावतो मात्रामेक**देशमवयव**मपादाया**पच्छिद्याऽऽदाय गृहीत्वा दृष्टजन्मवासनावासितः सन्नित्यर्थः। **स्वयमा**त्मनैव **विहत्य** देहं पातयित्वा निःसंबोधमापाद्य। जागरिते ह्यादित्यादीनां चक्षुरादिष्वनुग्रहो देहव्यवहारार्थः। देहव्यवहारश्चाऽऽत्मनो धर्माधर्मफलोपभोगप्रयुक्तस्तद्धर्माधर्मफलोपभोगोपरमणमस्मिन्देह आत्मकर्मोपरमकृतमित्यात्माऽस्य विहन्तेत्युच्यते। **स्वयं निर्माय** निर्माणं कृत्वा वासनामयं स्वप्नदेहं मायामयमिव। निर्माणमपि तत्कर्मापेक्षत्वात्स्वयंकर्तृकमुच्यते। **स्वेनाऽऽ**त्मीयेन **भासा** मात्रोपादानलक्षणेन भासा दीप्त्या प्रकाशेन सर्ववासनात्मकेनान्तःकरणवृत्तिप्रकाशेनेत्यर्थः। सा हि तत्र विषयभूता सर्ववासनामयी प्रकाशते। सा तत्र स्वयं भा उच्यते। तेन **स्वेन भासा** विषयभूतेन **स्वेन च ज्योतिषा** तद्विषयिणा विविक्तरूपेणालुप्तदृक्स्वभावेन तद्भारूपं वासनात्मकं विषयीकुर्वन्**प्रस्वपिति**। यदेवं वर्तनं तत्प्रस्वपितीत्युच्यते। **अत्रै**तस्यामवस्थायामेतस्मिन्काले**ऽयं पुरुष** आत्मा **स्वयमे**व विविक्तज्योतिर्भवति बाह्याध्यात्मिकभूतभौतिकसंसर्गरहितं **ज्योतिर्भवति**।

नन्वस्य लोकस्य मात्रोपादानं कृतं, कथं तस्मिन्सत्यत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवतीत्युच्यते। नैष दोषः। विषयभूतमेव हि तत्। तेनैव चात्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिर्दर्शयितुं शक्यः। न त्वन्यथाऽसति विषये कस्मिंश्चित्सुषुप्तकाल इव। यदा पुनः सा भा वासनात्मिका विषयभूतोपलभ्यमाना भवति, तदाऽसिः कोशादिव निष्कृष्टः सर्वसंसर्गरहितं चक्षुरादिकार्यकरणव्यावृत्तस्वरूपमलुप्तदृगात्मज्योतिः स्वेन रूपेणावभासयद्गृह्यते। तेनात्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिर्भवतीति सिद्धम्॥९॥

स्वप्न में रथादि के न रहने से आत्मा स्वयं प्रकाश है

न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान्रथयोगान्पथः सृजते न तत्राऽऽनन्दा मुदः प्रमुदो भवन्त्यथाऽऽनन्दान्मुदः प्रमुदः सृजते न तत्र वेशान्ताः पुष्करिण्यः स्रवन्त्यो भवन्त्यथ वेशान्तान्पुष्करिणीः स्रवन्तीः सृजते स हि कर्ता॥१०॥

उस स्वप्नावस्था में न रथादि विषय हैं, न रथ में जोते गये अश्वादि हैं और न मार्ग ही है। वहाँ तो वह रथ, रथ में जोते गये घोड़े और रथ के मार्गों की सृष्टि स्वयं ही वासना द्वारा पुरुष कर लेता है। उस समय वह आनन्द, मोद और प्रमोदरूप वृत्ति भी नहीं है किन्तु वह स्वप्नद्रष्टा आनन्द, मोद एवं प्रमोद की भी सृष्टि कर लेता है। उस समय छोटे-छोटे जलाशय, तालाब और नदियाँ भी नहीं हैं। उन जलाशयों, तालाबों और नदियों की सृष्टि भी वह पुरुष कर लेता है। अतः उनका कर्ता स्वयं स्वप्नद्रष्टा पुरुष ही माना जाता है॥१०॥

नन्वत्र कथं पुरुषः स्वयं ज्योतिर्येन जागरित इव ग्राह्यग्राहकादिलक्षणः सर्वो व्यवहारो दृश्यते। चक्षुराद्यनुग्राहकाश्चाऽऽदित्याद्या लोकास्तथैव दृश्यन्ते, यथा जागरिते। तत्र कथं विशेषावधारणं क्रियते''अत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिर्भवति''इति। उच्यते—वैलक्षण्यात्स्वप्नदर्शनस्य। जागरिते हीन्द्रियबुद्धिमनआलोकादिव्यापारसंकीर्णमात्मज्योतिः। इह तु स्वप्न इन्द्रियाभावात्तदनुग्राहकादित्याद्यालोकाभावाच्च विविक्तं केवलं भवति। तस्माद्विलक्षणम्। ननु तथैव विषया उपलभ्यन्ते स्वप्नेऽपि, यथा जागरिते। तत्र कथमिन्द्रियाभावाद्वैलक्षण्यमुच्यते इति। शृणु—

न तत्र विषयाः स्वप्ने रथादिलक्षणाः। तथा **रथयोगा** रथेषु युज्यन्त इति रथयोगा अश्वादयस्तत्र न विद्यन्ते। **न च पन्थानो** रथमार्गा **भवन्ति**। **अथ रथान्रथयोगान्पथश्च सृजते** सृजति स्वयम्।

कथं पुनः सृजते रथादिसाधनानां वृक्षादीनामभावे। उच्यते— ननूक्तमस्य

तदेते श्लोका भवन्ति। स्वप्नेन शारीरमभिप्रहत्या-

इस विषय में ये मन्त्र हैं। यह आत्मा स्वप्न के द्वारा देह को चेष्टारहित कर स्वयं

लोकस्य सर्वावतो मात्रामपादाय स्वयं विहत्य स्वयं निर्मायेत्यन्तःकरणवृत्तिरस्य लोकस्य वासना मात्रा, तामपादाय रथादिवासनारूपान्तःकरणवृत्तिस्तदुपलब्धिनिमित्तेन कर्मणा चोद्यमाना दृश्यत्वेन व्यवतिष्ठते, तदुच्यते स्वयं निर्मायेति। तदेवाऽऽह रथादीन्सृजत इति। नतु तत्र करणं वा करणानुग्राहकाणि वाऽऽदित्यादिज्योतींषि तदवभास्या वा रथादयो विषया विद्यन्ते। तद्वासनामात्रं तु केवलं तदुपलब्धिकर्मनिमित्तचोदितोद्भूतान्तःकरणवृत्त्याश्रयं दृश्यते। तद्यस्य ज्योतिषो दृश्यतेऽलुप्तदृशस्तदात्मज्योतिरत्र केवलमसिरिव कोशाद्विविक्तम्।

तथा **न तत्राऽऽनन्दाः** सुखविशेषाः **मुदो** हर्षाः पुत्रादिलाभनिमित्ताः **प्रमुदस्त**- एव प्रकर्षोपेताः। **अथ चाऽऽनन्दादीन्सृजते**। तथा **न तत्र वेशान्ताः** पल्वलाः **पुष्करिण्यस्**तडागाः **स्त्रवन्त्यो** नद्यो **भवन्ति। अथ वेशान्तादीन्सृजते** वासनामात्ररूपान्। यस्मात्**स हि कर्ता**। तद्वासनाश्रयचित्तवृत्त्युद्भवनिमित्तकर्महेतुत्वेनेत्यवोचाम तस्य कर्तृत्वं, न तु साक्षादेव तत्र क्रिया संभवति, साधनाभावात्। न हि कारकमन्तरेण क्रिया संभवति। न च तत्र हस्तपादादीनि क्रियाकारकाणि संभवन्ति। यत्र तु तानि विद्यन्ते जागरिते, तत्राऽऽत्मज्योतिरवभासितैः कार्यकरणै रथादिवासनाश्रयान्तःकरणवृत्त्युद्भवनिमित्तं कर्म निर्वर्त्यते, तेनोच्यते स हि कर्तेति। तदुक्तमात्मनैवायं ज्योतिषाऽऽस्ते पल्ययते कर्म कुरुत इति। तत्रापि न परमार्थतः स्वतः कर्तृत्वं चैतन्यज्योतिषाऽवभासकत्वव्यतिरेकेण। यच्चैतन्यात्मज्योतिषा अन्तःकरणद्वारेणावभासयति कार्यकरणानि, तदवभासितानि कर्मसु व्याप्रियन्ते कार्यकरणानि, तत्र कर्तृत्वमुपचर्यत आत्मनः। यदुक्तं ''ध्यायतीव लेलायतीव''इति तदेवानूद्यते। स हि कर्तेतीह हेत्वर्थम्॥१०॥

तदेत एतस्मिन्नुक्तेऽर्थ **एते श्लोका** मन्त्रा **भवन्ति। स्वप्नेन**

सुप्तः सुप्तानभिचाकशीति। शुक्रमादाय पुनरैति स्थानꣳ हिरण्मयः पुरुष एकहꣳसः ॥११॥

प्राणेन रक्षन्नवरं कुलायं बहिष्कुलायादमृत-श्चरित्वा। स ईयतेऽमृतो यत्र कामꣳ हिरण्मयः पुरुष एकहꣳसः ॥१२॥

न सोता हुआ सोये हुए समस्त पदार्थों को सभी ओर से प्रकाशित करता है। वह शुद्ध इन्द्रिय मात्रारूप को ले कर पुनः जाग्रदवस्था में आता है। अतः वह स्वयंज्योतिस्वरूप दोनों अवस्थाओं में तथा इहलोक और परलोकादि में अकेला ही जाने वाला है॥११॥

इस निकृष्ट देह की रक्षा प्राण द्वारा करता है (अन्यथा निद्राकाल में मृत्यु की भ्रान्ति हो सकती है)। वह अविनाशी आत्मा शरीर से बाहर विचरता है। वह अकेला घूमने वाला हिरण्मय अमर पुरुष वहाँ चला जाता है; जहाँ की वासना उसे होती है॥१२॥

स्वप्नभावेन **शारीरं** शरीर**मभिप्रहत्य** निश्चेष्टमापाद्या**सुप्तः** स्वयमलुप्तदृगादिशक्तिस्वाभाव्यात्सुप्तान्वासनाकारोद्भूतानन्तःकरणवृत्त्याश्रयान्बाह्याध्यात्मिकान्सर्वानेव भावान्स्वेन रूपेण प्रत्यस्तमितान्**सुप्तानभिचाकशीत्य**लुप्तयाऽऽत्मदृष्ट्या पश्यत्यवभासयतीत्यर्थः। **शुक्रं** शुद्धं ज्योतिष्मदिन्द्रियमात्रारूप**मादाय** गृहीत्वा **पुनः** कर्मणे जागरित**स्थानमैत्या**गच्छति **हिरण्मयो** हिरण्मय इव चैतन्यज्योतिःस्वभावः **पुरुष एकहंस** एक एव हन्तीत्येकहंसः। एको जाग्रत्स्वप्नेहलोकपरलोकादीन्गच्छतीत्**येकहंसः** ॥११॥

तथा **प्राणेन** पञ्चवृत्तिना **रक्षन्**परिपालयन्नन्यथा मृतभ्रान्तिः स्या**दवरं** निकृष्टमनेकाशुचिसंघातत्वादत्यन्तबीभत्सं **कुलायं** नीडं शरीरं स्वयं तु **बहि**स्तस्मात्**कुलायाच्चरित्वा**। यद्यपि शरीरस्थ एव स्वप्नं पश्यति तथाऽपि तत्संबन्धाभावात्तत्स्थ इवाऽऽकाशो बहिश्चरित्वेत्युच्यते। **अमृतः** स्वयममरणधर्मेयते गच्छति

स्वप्नान्त उच्चावचमीयमानो रूपाणि देवः कुरुते बहूनि। उतेव स्त्रीभिः सह मोदमानो जक्षदुतेवापि भयानि पश्यन्॥१३॥

आराममस्य पश्यन्ति न तं पश्यति कश्चनेति। तं नाऽऽयतं बोधयेदित्याहुः। दुर्भिषज्यꣳ हास्मै भवति

इसके अतिरिक्त स्वप्नावस्था में वह आत्मदेव ऊँच-नीच भावों को प्राप्त होता हुआ अनेक वासनामय रूप बना लेता है। वैसे ही वह स्त्रियों के साथ प्रसन्न होता हुआ, मित्रों के साथ हँसता हुआ और कभी व्याघ्रादि भयंकर जन्तुओं से भय का अनुभव करता हुआ-सा विचरता रहता है॥१३॥

सभी लोग उस आत्मा की क्रीडासामग्री को तो देखते हैं, उस आत्मा को कोई देखता नहीं। उस सुषुप्त पुरुष को सहसा कोई न जगावे, ऐसा (वैद्य लोग) कहते हैं। जिस इन्द्रियप्रदेश में यह सोता रहता है, सहसा जगाने पर उस प्रदेश में प्राप्त न होने

यत्र कामं यत्र यत्र कामो विषयेषूद्भूतवृत्तिर्भवति, तं तं कामं वासनारूपेणोद्भूतं गच्छति॥१२॥

किंच **स्वप्नान्ते** स्वप्नस्थान उच्चावचमुच्चं देवादिभावमवचं तिर्यगादिभावं निकृष्टं **तदुच्चावचमीयमानो** गम्यमानः प्राप्नुवन्**रूपाणि देवो** द्योतनावान्**कुरुते** निर्वर्तयति वासनारूपाणि **बहून्य**संख्येयानि। **उतापि स्त्रीभिः सह मोदमान** इव **जक्षदिव** हसन्निव वयस्यैः। **उतेवापि भयानि** बिभेत्येभ्य इति भयानि सिंहव्याघ्रादीनि **पश्यन्निव**॥१३॥

आराममारमणमाक्रीडामनेन निर्मितां वासनारूपा**मस्या**ऽऽत्मनः **पश्यन्ति** सर्वे जनाः। ग्रामं नगरं स्त्रियमन्नाद्यमित्यादिवासनानिर्मितमाक्रीडनरूपम्। **न तं**

यमेष न प्रतिपद्यते। अथो खल्वाहुर्जागरितदेश एवास्यैष इति यानि ह्येव जाग्रत्पश्यति तानि सुप्त इत्यत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिर्भवति सोऽहं भगवते सहस्रं ददाम्यत ऊर्ध्वं विमोक्षाय ब्रूहीति॥१४॥

के कारण उसका शरीर दुश्चिकित्स्य हो जाता है। इसीलिए निःसन्देह कोई-कोई ऐसा कहते हैं, यह स्वप्नस्थान इस पुरुष का जाग्रत् देश ही है अर्थात् जिन पदार्थों को यह जागने पर देखता है, सोकर भी उन्हीं को देखता है। (—किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं—) क्योंकि इस अवस्था में यह पुरुष स्वयंज्योति होता है। राजा जनक ने पूछा— वह मैं जनक आप आचार्यश्री को एक सहस्र गौएँ देता हूँ। अतः अब इसके आगे मोक्ष के लिये यथार्थ उपदेश करें॥१४॥

पश्यति तं न पश्यति **कश्चन**। कष्टं भो वर्ततेऽत्यन्तविविक्तं दृष्टिगोचरापन्न-मप्यहो भाग्यहीनता लोकस्य, यच्छक्यदर्शनमप्यात्मानं न पश्यतीति लोकं प्रत्यनुक्रोशं दर्शयति श्रुतिः। अत्यन्तविविक्तः स्वयं ज्योतिरात्मा स्वप्ने भवतीत्यभिप्रायः।

तं नाऽऽयतं बोधयेदित्याहुः। प्रसिद्धिरपि लोके विद्यते स्वप्न आत्मज्योतिषो व्यतिरिक्तत्वे। काऽसौ? **तमात्मानं सुप्तमायतं** सहसा भृशं **न बोधयेदित्याहुरेवं** कथयन्ति चिकित्सकादयो जना लोके। नूनं ते पश्यन्ति जाग्रद्देहादिन्द्रियद्वारतोऽपसृत्य केवलो बहिर्वर्तत इति यत आहुस्तं नाऽऽयतं बोध-येदिति। तत्र च दोषं पश्यन्ति भृशं ह्यसौ बोध्यमानस्तानीन्द्रियद्वाराणि सहसा प्रति-बोध्यमानो न प्रतिपद्यत इति। तदेतदाह— **दुर्भिषज्यं हास्मै भवति यमेष न प्रतिपद्यते** यमिन्द्रियद्वारदेशं यस्माद्देशाच्छुक्रमादायापसृतस्तमिन्द्रियदेशमेष आत्मा पुनर्न प्रतिपद्यते। कदाचिद्व्यत्यासेनेन्द्रियमात्राः प्रवेशयति। तत आन्ध्यबा-

धियादिदोषप्राप्तौ दुर्भिषज्यं दुःखभिषक्कर्मता हास्मै देहाय भवति दुःखेन चिकित्सनीयोऽसौ देहो भवतीत्यर्थः। तस्मात्प्रसिद्ध्याऽपि स्वप्ने स्वयंज्योतिष्ट्वं देहादिव्यतिरिक्तत्वमस्य गम्यते।

स्वप्नो भूत्वाऽतिक्रान्तो मृत्यो रूपाणीति तस्मात्स्वप्ने स्वयं ज्योतिरात्मा। **अथो अपि खल्वन्य आहुर्जागरितदेश एवास्यैष** यः स्वप्नः। न संध्यं स्थानान्तरमिहलोकपरलोकाभ्यां व्यतिरिक्तं किं तर्हीहलोक एव जागरितदेशः। यद्येवं, किंचातः? शृण्वतो यद्भवति, यदा जागरितदेश एवायं स्वप्नस्तदाऽयमात्मा कार्यकरणेभ्यो न व्यावृत्तस्तैर्मिश्रीभूतः। अतो न स्वयं ज्योतिरात्मेत्यतः स्वयंज्योतिष्ट्वबाधनायान्य आहुर्जागरितदेश एवास्यैष इति। तत्र च हेतुमाचक्षते जागरितदेशत्वे **यानि हि** यस्माद्धस्त्यादीनि पदार्थजातानि **जाग्रज्**जागरितदेशे **पश्यति** लौकिक**स्तान्येव सुप्तो**ऽपि पश्यतीति। तदसत्। इन्द्रियोपरमात्। उपरतेषु हीन्द्रियेषु स्वप्नान्पश्यति। तस्मान्नान्यस्य ज्योतिषस्तत्र संभवोऽस्ति। तदुक्तं "न तत्र रथा न रथयोगाः" इत्यादि। तस्माद**त्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिर्भवत्येव**।

स्वयं ज्योतिरात्माऽस्तीति स्वप्ननिदर्शनेन प्रदर्शितम्। अतिक्रामति मृत्यो रूपाणीति च। क्रमेण संचरन्निहलोकपरलोकादीनिहलोकपरलोकादिव्यतिरिक्तः। तथा जाग्रत्स्वप्नकुलायाभ्यां व्यतिरिक्तः। तत्र च क्रमसंचारान्नित्यश्चेत्येतत्प्रतिपादितं याज्ञवल्क्येन। अतो विद्यानिष्क्रयार्थं **सहस्रं ददामी**त्याह जनकः। **सोऽहमेवं** बोधितस्त्वया **भगवते** तुभ्यं **सहस्रं ददामि**। विमोक्षश्च कामप्रश्नो मयाऽभिप्रेतः। तदुपयोग्ययं तादर्थ्यात्तदेकदेश एव। अतस्त्वां नियोक्ष्यामि समस्तकामप्रश्ननिर्णयश्रवणेन **विमोक्षायात ऊर्ध्वं ब्रूहीति**। येन संसाराद्विप्रमुच्येयम् त्वत्प्रसादात्। विमोक्षपदार्थैकदेशनिर्णयहेतोः सहस्रदानम्॥१४॥

स वा एष एतस्मिन्संप्रसादे रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च। पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति स्वप्नायैव स यत्तत्र किंचित्पश्यत्यनन्वागतस्तेन भवत्यसङ्गो ह्ययं पुरुष इत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य सोऽहं भगवते सहस्रं ददाम्यत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहीति॥१५॥

वह यह स्वयंज्योति आत्मा इस सुषुप्ति काल में रमण और विहार कर पुण्य तथा पाप को देख कर ही पुनः स्वप्नस्थान को वहाँ ही वापस आ जाता है, जहाँ से आया था और जैसे आया था। वहाँ वह जो कुछ देखता है, उससे बँधता नहीं क्योंकि यह पुरुष असंग है। जनक ने कहा— हे याज्ञवल्क्य! यह बात ऐसी ही है। मैं श्रीमान् को सहस्र गौएँ देता हूँ। अतः इसके आगे मोक्ष के लिए ही यथार्थतत्त्व का उपदेश करें॥१५॥

यत्प्रस्तुतमात्मनैवायं ज्योतिषाऽऽस्त इति तत्प्रत्यक्षतः प्रतिपादितमत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिर्भवतीति स्वप्ने। यत्तूक्तं स्वप्नो भूत्वेमं लोकमतिक्रामति मृत्यो रूपाणीति तत्रैतदाशङ्क्यते मृत्यो रूपाण्येवातिक्रामति न मृत्युम्। प्रत्यक्षं ह्येतत्स्वप्ने कार्यकरणव्यावृत्तस्यापि मोदत्रासादिदर्शनम्। तस्मान्नूनं नैवायं मृत्युमतिक्रामति। कर्मणो हि मृत्योः कार्यं मोदत्रासादि दृश्यते। यदि च मृत्युना बद्ध एवायं स्वभावतस्ततो विमोक्षो नोपपद्यते। न हि स्वभावात्कश्चिद्विमुच्यते। अथ स्वभावो न भवति मृत्युस्ततस्तस्मान्मोक्ष उपपत्स्यते। यथाऽसौ मृत्युरात्मीयो धर्मो न भवति तथा प्रदर्शनायात ऊर्ध्वं विमोक्षाय ब्रूहीत्येवं जनकेन पर्यनुयुक्तो याज्ञवल्क्यस्तद्दिदर्शयिषया प्रववृते —

स वै प्रकृतः स्वयं ज्योतिः पुरुषः। **एष** यः स्वप्ने प्रदर्शित **एतस्मि-**

न्संप्रसादे सम्यक्प्रसीदत्यस्मिन्निति संप्रसादः। जागरिते देहेन्द्रियव्यापारशतसंनिपातजं हित्वा कालुष्यं तेभ्यो विप्रमुक्तः ईषत्प्रसीदति स्वप्ने। इह तु सुषुप्ते सम्यक्प्रसीदतीत्यतः सुषुप्तं संप्रसाद उच्यते। ''तीर्णो हि तदा सर्वाञ्शोकान्'' इति ''सलिल एको द्रष्टा''इति हि वक्ष्यति सुषुप्तस्थमात्मानम्। स वा एतस्मिन्संप्रसादे क्रमेण संप्रसन्नः सन्सुषुप्ते स्थित्वा। कथं संप्रसन्नः। स्वप्नात्सुषुप्तं प्रविविक्षुः स्वप्नावस्थे एव **रत्वा** रतिमनुभूय मित्रबन्धुजनदर्शनादिना, **चरित्वा** विहृत्यानेकधा चरणफलं श्रममुपलभ्येत्यर्थः। दृष्ट्वैव न कृत्वेत्यर्थः। **पुण्यं च** पुण्यफलं **पापं च** पापफलम्। न तु पुण्यपापयोः साक्षाद्दर्शनमस्तीत्यवोचाम। तस्मान्न पुण्यपापाभ्यामनुबद्धः। यो हि करोति पुण्यपापे, स ताभ्यामनुबध्यते। न हि दर्शनमात्रेण तदनुबद्धः स्यात्। तस्मात्स्वप्नो भूत्वा मृत्युमतिक्रामत्येव न मृत्युरूपाण्येव केवलम्।

अतो न मृत्योरात्मस्वभावत्वाशङ्का। मृत्युश्चेत्स्वभावोऽस्य स्वप्नेऽपि कुर्यात्। न तु करोति। स्वभावश्चेत्क्रिया स्यादनिर्मोक्षतैव स्यात्। न तु स्वभावः, स्वप्नेऽभावात्। अतो विमोक्षोऽस्योपपद्यते मृत्योः पुण्यपापाभ्याम्। ननु जागरितेऽस्य स्वभाव एव। न। बुद्ध्याद्युपाधिकृतं हि तत्। तच्च प्रतिपादितं सादृश्याद्ध्यायतीव लेलायतीवेति। तस्मादेकान्तेनैव स्वप्ने मृत्युरूपातिक्रमणान्न स्वाभाविकत्वाशङ्काऽनिर्मोक्षता वा। तत्र चरित्वेति चरणफलं श्रममुपलभ्येत्यर्थः। ततः संप्रसादानुभवोत्तरकालं **पुनः प्रतिन्यायं** यथान्यायं यथागतं निश्चितः आयो न्यायः। अयनमायो निर्गमनं पुनः पूर्वगमनवैपरीत्येन यदागमनं स **प्रतिन्यायः**। यथागतं पुनरागच्छतीत्यर्थः। **प्रतियोनि** यथास्थानं स्वप्नस्थानाद्धि सुषुप्तं प्रतिपन्नः सन्यथास्थानमेव पुनरागच्छति। **प्रतियोन्याद्रवति स्वप्नायैव** स्वप्नस्थानायैव।

ननु स्वप्ने न करोति पुण्यपापे, तयोः फलमेव पश्यतीति कथमवगम्यते, यथा जागरिते तथा करोत्येव स्वप्नेऽपि तुल्यत्वाद्दर्शनस्येति, अत आह-**स** आत्मा **यत्किंचित्तत्र** स्वप्ने **पश्यति** पुण्यपापफल**मनन्वागतोऽ**ननुबद्ध**स्तेन** दृष्टेन **भवति** नैवानुबद्धो भवति। यदि हि स्वप्ने कृतमेव तेन स्यात्तेनानुबध्येत। स्वप्ना-

(स्वप्न भोग से आत्मा असंग है)

स वा एष एतस्मिन्स्वप्ने रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति जाग्रत **बुद्धान्तायैव स यत्तत्र किंचित्पश्यत्यनन्वागतस्तेन**

वह यह आत्मा इस स्वप्नकाल में रमण और विहार कर एवं पुण्य तथा पाप को देखकर ही पुनः उस जाग्रत्स्थान को ही लौट आता है, जहाँ से वह आया था और

दुत्थितोऽपि समन्वागतः स्यात्। न च तल्लोके स्वप्नकृतकर्मणाऽन्वागतत्वप्रसिद्धिः। न हि स्वप्नकृतेनाऽऽगसाऽऽगस्कारिणमात्मानं मन्यते कश्चित्। न च स्वप्नदृश आगः श्रुत्वा लोकस्तं गर्हति परिहरति वा। अतोऽनन्वागत एव तेन भवति। तस्मात्स्वप्ने कुर्वन्निवोपलभ्यते, न तु क्रियाऽस्ति परमार्थतः। उतेव स्त्रीभिः सह मोदमान इति श्लोक उक्तः। आख्यातारश्च स्वप्नस्य सहेवशब्देनाऽऽचक्षते हस्तिनोऽद्य घटीकृता धावन्तीव मया दृष्टा इति। अतो न तस्य कर्तृत्वमिति।

कथं पुनरस्याकर्तृत्वमिति। कार्यकरणैर्मूर्तैः संश्लेषो मूर्तस्य, स तु क्रियाहेतुर्दृष्टः। न ह्यमूर्तः कश्चित्क्रियावान्दृश्यतेऽमूर्तश्चाऽऽत्माऽतोऽसङ्गः। यस्माच्चासङ्गोऽयं पुरुषस्तस्मादनन्वागतस्तेन स्वप्नदृष्टेन। अत एव न क्रियाकर्तृत्वमस्य कथंचिदुपपद्यते। कार्यकरणसंश्लेषेण हि कर्तृत्वं स्यात्स च संश्लेषः सङ्गोऽस्य नास्ति यतोऽसङ्गो **ह्ययं पुरुषः**। तस्मादमृतः। **एवमेवैतद्याज्ञवल्क्य। सोऽहं भगवते सहस्रं ददाम्यत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहि।** मोक्षपदार्थैकदेशस्य कर्मप्रविवेकस्य सम्यग्दर्शितत्वात्। **अत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहीति**॥१५॥

तत्रासङ्गो ह्ययं पुरुष इत्यसङ्गताऽकर्तृत्वे हेतुरुक्तः। उक्तं च पूर्वं कर्म-

भवत्यसङ्गो ह्ययं पुरुष इत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य सोऽहं भगवते सहस्रं ददाम्यत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहीति॥१६॥

स वा एष एतस्मिन्बुद्धान्ते रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति

जैसे आया था। वह वहाँ जो कुछ देखता है, वहाँ उससे बंधता नहीं क्योंकि यह पुरुष असङ्ग है। जनक ने कहा— हे याज्ञवल्क्य! आप की ये बात यथार्थ ही है। इसके बदले में मैं आपको एक सहस्र गौएँ भेंट करता हूँ। अतः इसके आगे भी आप मोक्ष के विषय में उपदेश करें॥१६॥

वह यह पुरुष जाग्रत्काल में रमण और विहार कर तथा पुण्य और पापों को केवल देखकर फिर स्वप्न में उसी मार्ग से लौट जाता है, जिस मार्ग से वह आया था। वह वहाँ जो कुछ देखता है; वहाँ उससे बँधता नहीं क्योंकि यह पुरुष असंग है। जनक ने कहा—

वशात्स ईयते यत्र काममिति। कामश्च सङ्गोऽतोऽसिद्धो हेतुरुक्तोऽसङ्गो ह्ययं पुरुष इति। न त्वेतदस्ति। कथं तर्हि? असङ्ग एवेत्येतदुच्यते—**स वा एष एतस्मिन्स्वप्ने स वा एष** पुरुषः संप्रसादात्प्रत्यागतः **स्वप्ने रत्वा चरित्वा** यथाकामं **दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं** चेति सर्वं पूर्ववत्। **बुद्धान्तायैव** जागरितस्थानाय। तस्मा**दसङ्ग एवायं पुरुषः**। यदि स्वप्ने सङ्गवान्स्यात्कामी, ततस्तत्सङ्गजैर्दोषैर्बुद्धान्ताय प्रत्यागतो लिप्येत॥१६॥

यथाऽसौ स्वप्नेऽसङ्गत्वात्स्वप्नसङ्गजैर्दोषैर्जागरिते प्रत्यागतो न लिप्यत, एवं जागरितसङ्गजैरपि दोषैर्न लिप्यते एव बुद्धान्ते जागरिते। तदेतदुच्यते—

स वा एष एतस्मिन्बुद्धान्ते जागरिते **रत्वा चरित्वे**त्यादि पूर्ववत्। **स यत्तत्र बुद्धान्ते किंचित्पश्यत्यनन्वागतस्तेन भवत्यसङ्गो ह्ययं**

स्वप्नान्तायैव स यत्तत्र किंचित्पश्यत्यनन्वागतस्तेन भवत्यसङ्गो ह्ययं पुरुष इत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य सोऽहं भगवते सहस्रं ददाम्यत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहीति॥१७॥

हे याज्ञवल्क्य! आप की ये बात यथार्थ ही है। इसके बदले में मैं आपको एक सहस्र गौएँ भेंट करता हूँ। अतः इसके आगे भी आप मोक्ष के विषय में उपदेश करें॥१७॥

पुरुष इति। ननु दृष्ट्वैवेति कथमवधार्यते, करोति च तत्र पुण्यपापे तत्फलं च पश्यति। न। कारकावभासकत्वेन कर्तृत्वोपपत्तेः। आत्मनैवायं ज्योतिषाऽऽस्त इत्यादिनाऽऽत्मज्योतिषाऽवभासितः कार्यकरणसंघातो व्यवहरति, तेनास्य कर्तृत्वमुपचर्यते, न स्वतः कर्तृत्वम्। तथा चोक्तं ध्यायतीव लेलायतीवेति। बुद्ध्याद्युपाधिकृतमेव, न स्वतः। इह तु परमार्थापेक्षयोपाधिनिरपेक्ष उच्यते दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च न कृत्वेति, तेन न पूर्वापरव्याघाताशङ्का। यस्मान्निरुपाधिकः परमार्थतो न करोति न लिप्यते क्रियाफलेन। तथा च भगवतोक्तम् —

> "अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्माऽयमव्ययः।
> शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते"। इति। (13-31 गीता)

तथा सहस्रदानं तु कामप्रविवेकस्य दर्शितत्वात्। तथा **स वा एष एतस्मिन्स्वप्ने स वा एष एतस्मिन्बुद्धान्त** इत्येताभ्यां कण्डिकाभ्यामसङ्गतैव प्रतिपादिता। यस्माद्बुद्धान्ते कृतेन स्वप्नान्तं गतः संप्रसन्नोऽसंबद्धो भवति स्तैन्यादिकार्यादर्शनात्तस्मात्त्रिष्वपि स्थानेषु स्वतोऽसङ्ग एवायम्। अतोऽमृतः स्थानत्रयधर्मविलक्षणः प्रतियोन्याद्रवति स्वप्नान्तायैव संप्रसादायेत्यर्थः। दर्शनवृत्तेः स्वप्नस्य स्वप्नशब्देनाभिधानदर्शनादन्तशब्देन च विशेषणोपपत्तेः। एतस्मा अन्ताय धावतीति च सुषुप्तं दर्शयिष्यति। यदि पुनरेवमुच्यते स्वप्नान्ते रत्वा चरित्वैतावुभावन्तावनुसंचरति स्वप्नान्तं च बुद्धान्तं चेति दर्शनात्स्वप्नान्तायैवेत्यत्रापि दर्शनवृत्तिरेव स्वप्न उच्यत इति तथाऽपि न किंचिद्दुष्यत्यसङ्गता हि सिषाधयिषिता

तद्यथा महामत्स्य उभे कूले अनुसंचरति पूर्वं चापरं चैवमेवायं पुरुष एतावुभावन्तावनुसंचरति स्वप्नान्तं च बुद्धान्तं च॥१८॥

जैसे कोई बड़ा मत्स्य नदी के पर और अपर दोनों तटों पर क्रमशः संचरण करता है अर्थात् जलप्रवाह के वेग से वह विवश नहीं होता, वैसे ही यह पुरुष स्वप्नस्थान और जाग्रत्स्थान इन दोनों ही स्थानों में (प्रारब्धकर्म से प्रेरित हुआ) क्रमशः विचरता रहता है॥१८॥

सिध्यत्येव। तस्माज्जागरिते दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च रत्वा चरित्वा च स्वप्नान्तमागतो न जागरितदोषेणानुगतो भवति॥१७॥

एवमयं पुरुष आत्मा स्वयं ज्योतिः कार्यकरणविलक्षणस्तत्प्रयोजकाभ्यां कामकर्मभ्यां विलक्षणो यस्मादसङ्गो ह्ययं पुरुषोऽसङ्गत्वादित्ययमर्थः। "स वा एष एतस्मिन्संप्रसादे" इत्याद्याभिस्तिसृभिः कण्डिकाभिः प्रतिपादितः। तत्रासङ्गतैवाऽऽत्मनः। कुतो? यस्माज्जागरितात्स्वप्नं स्वप्नाच्च संप्रसादं संप्रसादाच्च पुनः स्वप्नं क्रमेण बुद्धान्तं जागरितं बुद्धान्ताच्च पुनः स्वप्नान्तमित्येवमनुक्रमसंचारेण स्थानत्रयस्य व्यतिरेकः साधितः। पूर्वमप्युपन्यस्तोऽयमर्थः। "स्वप्नो भूत्वेमं लोकमतिक्रामति मृत्यो रूपाणि" इति तं विस्तरेण प्रतिपाद्य केवलं दृष्टान्तमात्रमवशिष्टं तद्वक्ष्यामीत्यारभ्यते—

तत्तत्रैतस्मिन्यथाप्रदर्शितेऽर्थे दृष्टान्तोऽयमुपादीयते, **यथा** लोके **महामत्स्यो** महांश्चासौ मत्स्यश्च नादेयेन स्रोतसाऽहार्य इत्यर्थः। स्रोतश्च विष्टम्भयति स्वच्छन्दचार्यु**भे कूले** नद्याः **पूर्वं** चा**परं** चानुक्रमेण **संचरति**। संचरन्नपि कूलद्वयं तन्मध्यवर्तिनोदकस्रोतोवेगेन न परवशीक्रियते। **एवमेवायं पुरुष एतावुभा अन्ता अनुसंचरति**। कौ तौ? **स्वप्नान्तं च बुद्धान्तं च**। दृष्टान्तप्रदर्शनफलं

सुषुप्त आत्मा के विश्रान्ति स्थान में बाज पक्षी का दृष्टान्त

तद्यथाऽस्मिन्नाकाशे श्येनो वा सुपर्णो वा विपरिपत्य श्रान्तः सꣳहत्य पक्षौ संलयायैव ध्रियत एवमेवायं पुरुष एतस्मा अन्ताय धावति यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते न कञ्चन स्वप्नं पश्यति॥१९॥

जैसे इस भौतिक आकाश में बाज या श्येन पक्षी सभी ओर उड़कर थक जाने पर पंखों को अच्छी प्रकार फैलाकर अपने घोंसले की ओर ही दोड़ने लगता है। ठीक ऐसे ही जीवात्मा (जाग्रत् तथा स्वप्न में प्रारब्धानुसार कर्म फल को भोग कर थक जाने पर) इस सुषुप्तिस्थान की ओर दौड़ता है। जहाँ सोने पर यह किसी भोग की आकाँक्षा नहीं करता और न किसी स्वप्न को ही देखता है॥१९॥

तु मृत्युरूपः कार्यकरणसंघातः सह तत्प्रयोजकाभ्यां कामकर्मभ्यामनात्मधर्मोऽयं चाऽऽत्मैतस्माद्विलक्षण इति विस्तरतो व्याख्यातम्॥१८॥

अत्र च स्थानत्रयानुसंचारेण स्वयंज्योतिष आत्मनः कार्यकरणसंघातव्यतिरिक्तस्य कामकर्मभ्यां विविक्ततोक्ता। स्वतो नायं संसारधर्मीवानुपाधिनिमित्तमेव त्वस्य संसारित्वमविद्याध्यारोपितमित्येष समुदायार्थ उक्तः। तत्र च जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तस्थानानां त्रयाणां विप्रकीर्णरूप उक्तो न पुञ्जीकृत्यैकत्र दर्शितः। यस्माज्जागरिते ससङ्गः समृत्युः सकार्यकरणसंघात उपलक्ष्यतेऽविद्यया। स्वप्ने तु कामसंयुक्तो मृत्युरूपविनिर्मुक्त उपलभ्यते। सुषुप्ते पुनर्बुद्धान्तमागतो बुद्धान्ताच्च सुषुप्ते संप्रसन्नोऽसङ्गो भवतीत्यसङ्गताऽपि दृश्यते। एकवाक्यतया तूपसंह्रियमाणं फलं नित्यमुक्तबुद्धशुद्धस्वभावताऽस्य नैकत्र पुञ्जीकृत्य प्रदर्शितेति तत्प्रदर्शनाय कण्डिकाऽऽरभ्यते। सुषुप्ते ह्येवंरूपताऽस्य वक्ष्यमाणा तद्वा अस्यैतदतिच्छन्दा अपहतपाप्माऽभयं रूपमिति। यस्मादेवंरूपं विलक्षणं सुषुप्तं प्रविविक्षति। तत्कथमित्याह— दृष्टान्तेनास्यार्थस्य प्रकटीभावो भवतीति तत्र दृष्टान्त उपादीयते।

तद्यथाऽस्मिन्नाकाशे भौतिके **श्येनो वा सुपर्णो वा**। सुपर्ण-

(हितानामक नाडी में स्वप्न का दर्शन)

ता वा अस्यैता हिता नाम नाड्यो यथा केशः सहस्रधा

इस (हस्त-पादादि अवयव वाले पुरुष) की वे ये हितानाम की नाड़ियाँ हैं। जिस

शब्देन क्षिप्रः श्येन उच्यते। यथाऽऽकाशेऽस्मिन्विहृत्य **विपरिपत्य श्रान्तो** नानापरिपतनलक्षणेन कर्मणा परिखिन्नः **संहत्य पक्षौ** संगमय्य संप्रसार्य पक्षौ सम्यग्लीयतेऽस्मिन्निति **संलयो** नीडो नीडायैव **ध्रियते** स्वात्मनैव धार्यते स्वयमेव। यथाऽयं दृष्टान्त **एवमेवायं पुरुष एतस्मा** एतस्मै **अन्ताय धावति**। अन्तशब्दवाच्यस्य विशेषणं **यत्र** तस्मिन्नन्ते **सुप्तो न कंचन** न कंचिदपि **कामं कामयते**। तथा **न कंचन स्वप्नं पश्यति**। **न कंचन** काममिति स्वप्नबुद्धान्तयोरविशेषेण सर्वः कामःप्रतिषिध्यते, कंचनेत्यविशेषिताभिधानात्। तथा **न कंचन स्वप्नमिति**। जागरितेऽपि यद्दर्शनं, तदपि स्वप्नं मन्यते श्रुतिरत आह न कंचन स्वप्नं पश्यतीति। तथा च श्रुत्यन्तरम् ''तस्य त्रय आवसथास्त्रयः स्वप्नाः'' इति। यथा दृष्टान्ते पक्षिणः परिपतनजश्रमापनुत्तये स्वनीडोपसर्पण-मेवं जाग्रत्स्वप्नयोः कार्यकरणसंयोगजक्रियाफलैः संयुज्यमानस्य पक्षिणः परिपतनज इव श्रमो भवति। तच्छ्रमापनुत्तये स्वात्मनो नीडमायतनं सर्वसंसारधर्मविलक्षणं सर्वक्रियाकारकफलायासशून्यं स्वमात्मानं प्रविशति॥१९॥

यद्यस्यायं स्वभावः सर्वसंसारधर्मशून्यता, परोपाधिनिमित्तं चास्य संसार-धर्मित्वम्। यन्निमित्तं चास्य परोपाधिकृतं संसारधर्मित्वं, सा चाविद्या। तस्या अविद्यायाः किं स्वाभाविकत्वमाहोस्वित्कामकर्मादिवदागन्तुकत्वम्। यदि चाऽऽ-गन्तुकत्वं ततो विमोक्ष उपपद्यते। तस्याश्चाऽऽगन्तुकत्वे कोपपत्तिः, कथं वा नाऽऽत्मधर्मोऽविद्येति। सर्वानर्थबीजभूताया अविद्यायाः सतत्त्वावधारणार्थं परा कण्डिकाऽऽरभ्यते—

(P 417)

ता वा अस्य शिरःपाण्यादिलक्षणस्य पुरुषस्यै**ता हिता नाम**

भिन्नस्तावताऽणिम्ना तिष्ठन्ति शुक्लस्य नीलस्य पिङ्गलस्य हरितस्य लोहितस्य पूर्णा अथ यत्रैनं घ्नन्तीव जिनन्तीव हस्तीव विच्छाययति, गर्तमिव पतति यदेव जाग्रद्भयं पश्यति तदत्राविद्यया मन्यतेऽथ यत्र देव इव राजेवाहमेवेदꣳ सर्वोऽस्मीति मन्यते सोऽस्य परमो लोकः ॥२०॥

प्रकार सहस्र भागों में केश विभक्त होता है, वैसे ही ये नाड़ियाँ अत्यन्त सूक्ष्म हैं। वे सफेद, नीले, पीले, हरे और लाल रङ्ग के रस से भरी हुई हैं। जहाँ पर इस पुरुष को स्वप्नावस्था में प्रतीत होता है कि कोई इसे मानो मारता है, कोई मानो इसे वश में करता है और कोई इसके चारों ओर मानो हाथी दौड़ा रहा है, या मानो स्वयं यह गर्त में गिर रहा है। इस प्रकार जो कुछ भी जाग्रदवस्था के भय को देखता है, उन्हीं को स्वप्नावस्था में अविद्या के कारण सत्य मानने लगता है और जहाँ पर यह देवता के समान, या राजा के समान या मैं ही सब हूँ, ऐसा अपने को मानता है, यह इसका श्रेष्ठ लोक है॥२०॥

नाड्यो यथा केशः सहस्रधा भिन्नस्तावता तावत्परिमाणे**नाणिम्ना**ऽणुत्वेन **तिष्ठन्ति**। ताश्च **शुक्लस्य** रसस्य **नीलस्य पिङ्गलस्य हरितस्य लोहितस्य पूर्णा** एतैः शुक्लादिभी रसविशेषैः पूर्णा इत्यर्थः। एते च रसानां वर्णविशेषा वातपित्तश्लेष्मणामितरेतरसंयोगवैषम्यविशेषाद्विचित्रा बहवश्च भवन्ति।

तास्वेवंविधासु नाडीषु सूक्ष्मासु वालाग्रसहस्रभेदपरिमाणासु शुक्लादिरसपूर्णासु सकलदेहव्यापिनीषु सप्तदशकं लिङ्गं वर्तते। तदाश्रिताः सर्वा वासना उच्चावचसंसारधर्मानुभवजनिताः। तल्लिङ्गं वासनाश्रयं सूक्ष्मत्वात्स्वच्छं स्फटिकमणिकल्पं नाडीगतरसोपाधिसंसर्गवशाद्धर्माधर्मप्रेरितोद्भूतवृत्तिविशेषं स्त्रीरथहस्त्याद्याकारविशेषैर्वासनाभिः प्रत्यवभासते। **अथैवं** सति **यत्र** यस्मिन्काले केचन शत्रवोऽन्ये

वा तस्करा मामागत्य **घ्नन्तीति** मृषैव वासनानिमित्तः प्रत्ययोऽविद्याख्यो जायते। तदेतदुच्यत **एनं** स्वप्नदृशं **घ्नन्तीवेति** तथा **जिनन्तीव** वशीकुर्वन्तीव। न केचन घ्नन्ति, नापि वशीकुर्वन्ति, केवलं त्वविद्यावासनोद्भवनिमित्तं भ्रान्तिमात्रम्। तथा **हस्तीवैनं विच्छाययति** विच्छादयति विद्रावयति धावयतीवेत्यर्थः। **गर्तमिव पतति** गर्तं जीर्णकूपादिकमिव पतन्तमात्मानमुपलक्षयति। तादृशी ह्यस्य मृषा वासनोद्भवत्यत्यन्तनिकृष्टाऽधर्मोद्भासितान्तःकरणवृत्त्याश्रया, दुःखरूपत्वात्।

किं बहुना **यदेव जाग्रद्भयं पश्यति** हस्त्यादिलक्षणं, **तदेव** भयरूप**मत्रास्मिन्स्वप्ने** विनैव हस्त्यादिरूपं भय**मविद्या**वासनया मृषैवोद्भूतया **मन्यते**। अथ पुनर्यत्राविद्याऽपकृष्यमाणा विद्या चोत्कृष्यमाणा किंविषया किंलक्षणा चेत्युच्यते— **अथ पुनर्यत्र** यस्मिन्काले **देव इव** स्वयं भवति। देवताविषया विद्या यदोद्भूता जागरितकाले तदोद्भूतया वासनया देवमिवाऽऽत्मानं मन्यते स्वप्नेऽपि, तदुच्यते—**देव इव राजेव** राज्यस्थोऽभिषिक्तः स्वप्नेऽपि राजाऽहमिति मन्यते राजवासनावासितः। एवमत्यन्तप्रक्षीयमाणाऽविद्योद्भूता च विद्या सर्वात्मविषया यदा, तदा स्वप्नेऽपि तद्भावभावितो**ऽहमेवेदं सर्वोऽस्मीति मन्यते**। स यः सर्वात्मभावः **सोऽस्याऽऽत्मनः परमो लोकः** परम आत्मभावः स्वाभाविकः। यत्तु सर्वात्मभावादर्वाग्वालाग्रमात्रमप्यन्यत्वेन दृश्यते नाहमस्मीति तदवस्थाऽविद्या, तयाऽविद्यया ये प्रत्युपस्थापिता अनात्मभावा लोकास्तेऽपरमाः स्थावरान्तास्तान्संव्यवहारविषयाँल्लोकानपेक्ष्यायं सर्वात्मभावः समस्तोऽनन्तरोऽबाह्यः **सोऽस्य परमो लोकः**।

तस्मादपकृष्यमाणायामविद्यायां विद्यायां च काष्ठां गतायां सर्वात्मभावो मोक्षः। यथा स्वयंज्योतिष्ट्वं स्वप्ने प्रत्यक्षत उपलभ्यते, तद्वद्विद्याफलमुपलभ्यत इत्यर्थः। तथाऽविद्यायामप्युत्कृष्यमाणायां तिरोधीयमानायां च विद्यायामविद्यायाः फलं प्रत्यक्षत एवोपलभ्यतेऽथ यत्रैनं घ्नन्तीव जिनन्तीवेति। ते एते विद्याविद्याकार्ये सर्वात्मभावः

तद्वा अस्यैतदतिच्छन्दा अपहतपाप्माऽभयꣳ रूपम्। तद्यथा प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नाऽऽन्तरमेवमेवायं पुरुषः प्राज्ञेनाऽऽत्मना

वह इस पुरुष का रूप निःसन्देह कामनाशून्य, पापरहित और अभय स्वरूप है। जैसे व्यवहार में अपनी प्यारी पत्नी का आलिङ्गन करके पुरुष न कुछ बाह्य वस्तु को और

परिच्छिन्नात्मभावश्च। विद्यया शुद्धया सर्वात्मा भवति। अविद्यया चासर्वो भवति। अन्यतः कुतश्चित्प्रविभक्तो भवति। यतः प्रविभक्तो भवति, तेन विरुध्यते। विरुद्धत्वाद्धन्यते जीयते विच्छाद्यते च। असर्वविषयत्वे च भिन्नत्वादेतद्भवति। समस्तस्तु सन्कुतो भिद्यते, येन विरुध्येत, विरोधाभावे केन हन्यते जीयते विच्छाद्यते च। अत इदमविद्यायाः सतत्त्वमुक्तं भवति। सर्वात्मानं सन्तमसर्वात्मत्वेन ग्राहयति। आत्मनोऽन्यद्वस्त्वन्तरमविद्यमानं प्रत्युपस्थापयति। आत्मानमसर्वमापादयति। ततस्तद्विषयः कामो भवति, यतो भिद्यते। कामतः क्रियामुपादत्ते। ततः फलम्। तदेतदुक्तम्। वक्ष्यमाणं च "यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यती"त्यादि। इदमविद्यायाः सतत्त्वं सह कार्येण प्रदर्शितम्। विद्यायाश्च कार्यं सर्वात्मभावः प्रदर्शितोऽविद्यया विपर्ययेण। सा चाविद्या नाऽऽत्मनः स्वाभाविको धर्मो, यस्माद्विद्यायामुत्कृष्यमाणायां स्वयमपचीयमाना सती काष्ठां गतायां विद्यायां परिनिष्ठिते सर्वात्मभावे सर्वात्मना निवर्तत रज्ज्वामिव सर्पज्ञानं रज्जुनिश्चये। तच्चोक्तं "यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्"इत्यादि। तस्मान्नाऽऽत्मधर्मोऽविद्या। न हि स्वाभाविकस्योच्छित्तिः कदाचिदप्युपपद्यते सवितुरिवौष्ण्यप्रकाशयोः। तस्मात्तस्या मोक्ष उपपद्यते॥२०॥

इदानीं योऽसौ सर्वात्मभावो मोक्षो विद्याफलं क्रियाकारकफलशून्यं, स प्रत्यक्षतो निर्दिश्यते, यत्राविद्याकामकर्माणि न सन्ति। तदेतत्प्रस्तुतं यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यतीति। **तदेतद्वा अस्य** रूपं यः सर्वात्मभावः

संपरिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नाऽऽन्तरं तद्वा अस्यैतदाप्तकाममात्मकाममकामꣳ रूपं शोकान्तरम् ॥२१॥

न आभ्यन्तर वस्तु को ही जानता है, ऐसे ही यह पुरुष प्रज्ञात्मा से आलिङ्गित हुआ परमार्थदर्शन काल में न कुछ बाह्य विषय को जानता है और न आभ्यन्तर को ही। यह इसका आप्तकाम, आत्मकाम, अकाम और शोकरहित स्वरूप है॥२१॥

सोऽस्य परमो लोक इत्युक्तस्त**दतिच्छन्दा** अतिच्छन्दमित्यर्थः। रूपपरत्वात्। छन्दः कामोऽतिगतश्छन्दो यस्माद्रूपात्तदतिच्छन्दं रूपम्। अन्योऽसौ सान्तश्छन्दःशब्दो गायत्र्यादिच्छंदोवाची। अयं तु कामवचनोऽतः स्वरान्त एव। तथाऽप्यतिच्छन्दा इति पाठः स्वाध्यायधर्मो द्रष्टव्यः। अस्ति च लोके कामवचनप्रयुक्तश्छन्दः (न्द) शब्दः स्वच्छन्दः परच्छन्द इत्यादौ। अतोऽतिच्छन्दमित्येवमुपनेयं कामवर्जितमेतद्रूपमित्यस्मिन्नर्थे।

तथाऽपहतपाप्म। पाप्मशब्देन धर्माधर्मावुच्येते। "पाप्मभिः संसृज्यते" "पाप्मनो विजहाती"त्युक्तत्वात्। **अपहतपाप्म** धर्माधर्मवर्जितमित्येतत्। किंच, **अभयम्**। भयं हि नामाविद्याकार्यम्। अविद्यया भयं मन्यत इति ह्युक्तम् तत्कार्यद्वारेण कारणप्रतिषेधोऽयम्। **अभयं रूप**मित्यविद्यावर्जितमित्येतत्। यदेतद्विद्याफलं सर्वात्मभावस्तदेतदतिच्छन्दा अपहतपाप्माभयं रूपं सर्वसंसारधर्मवर्जितमतोऽभयं रूपमेतत्। इदं च पूर्वमेवोपन्यस्तमतीतानन्तरब्राह्मणसमाप्तौ "अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि"इत्यागमतः। इह तु तर्कतः प्रपञ्चितं दर्शितागमार्थप्रत्ययदार्ढ्याय।

अयमात्मा स्वयं चैतन्यज्योतिःस्वभावः सर्वं स्वेन चैतन्यज्योतिषाऽवभासयति। स यत्तत्र किंचित्पश्यति रमते चरति जानाति चेत्युक्तम्। स्थितं चैतन्यायतो नित्यं स्वरूपं चैतन्यज्योतिष्ट्वमात्मनः। स यद्यात्माऽत्राविनष्टः स्वेनैव रूपेण वर्तते कस्मादयमहमस्मीत्यात्मानं वा बहिर्वेमानि भूतानीति जाग्रत्स्वप्नयोरिव न जानातीत्यत्रोच्यते। शृण्वत्राज्ञानहेतुम्। एकत्वमेवाज्ञानहेतुः। तत्कथमिति। उच्यते। दृष्टान्तेन

(1) अविद्या (2) संचित कर्म (3) संस्कार (4) अन्तः करण. (5) कर्मेन्द्रिया 5. (6) ज्ञानेन्द्रिय 5. (7) पञ्च प्राण (8) पञ्च महाभूत.
(4)(5)(6)(7) मिलकर = 17 तत्त्व सूक्ष्म शरीर.

सूक्ष्म शरीर से पुर्यष्टक शरीर में थोड़ा सा अन्तर है। कहीं एक नहीं मान लेना.

हि प्रत्यक्षीभवति विवक्षितोऽर्थ इत्याह— **तत्त्र यथा** लोके **प्रिययेष्टया स्त्रिया संपरिष्वक्तः** सम्यक्परिष्वक्तः कामयन्त्या कामुकः सन्न **बाह्यमात्मनः किंचन** किंचिदपि **वेद** मत्तोऽन्यद्वस्त्विति **न चाऽऽन्तरमयमहमस्मि** सुखी दुःखी वेति। अपरिष्वक्तस्तु तया प्रविभक्तो जानाति सर्वमेव बाह्यमाभ्यन्तरं च। परिष्वङ्गोत्तरकालं त्वेकत्वापत्तेर्न जानाति।

(1) अष्ट पुरी में शयन करता है। अतः पुरुष कहते हैं. पुर्यष्टक शरीर

एवमेव यथा दृष्टान्तोऽयं **पुरुषः** क्षेत्रज्ञो भूतमात्रासंसर्गतः सैन्धवखिल्यवत्प्रविभक्तो जलादौ चन्द्रादिप्रतिबिम्बवत्कार्यकरण इह प्रविष्टः, सोऽयं पुरुषः **प्राज्ञेन** परमार्थेन स्वाभाविकेन स्वेना**ऽऽत्मना** परेण ज्योतिषा **संपरिष्वक्तः** सम्यक्परिष्वक्त एकीभूतो निरन्तरः सर्वात्मा **न बाह्यं किंचन** वस्त्वन्तरं **नाप्यान्तरमात्मन्**यमहमस्मि सुखी दुःखी वेति **वेद**। तत्र चैतन्यज्योतिःस्वभावत्वे कस्मादिह न जानातीति यदप्राक्षीस्तत्रायं हेतुर्मयोक्त एकत्वं, यथा स्त्रीपुंसयोः संपरिष्वक्तयोः। तत्रार्थान्नानात्वं विशेषविज्ञानहेतुरित्युक्तं भवति। नानात्वे च कारणमात्मनो वस्त्वन्तरस्य प्रत्युपस्थापिकाऽविद्येत्युक्तम्। तत्र चाविद्याया यदा प्रविविक्तो भवति, तदा सर्वेणैकत्वमेवास्य भवति। ततश्च ज्ञानज्ञेयादिकारकविभागेऽसति कुतो विशेषविज्ञानप्रादुर्भावः, कामो वा संभवति, स्वाभाविके स्वरूपस्थे आत्मज्योतिषि।

यस्मादेवं सर्वैकत्वमेवास्य रूपमत**स्तद्वा अस्याऽऽ**त्मनः स्वयंज्योतिःस्वभाव**स्यैतद्रूपमाप्तकामं** यस्मात्समस्तमेतत्तस्मादाप्ताः कामा अस्मिन्रूपे तदिद**माप्तकामम्**। यस्य ह्यन्यत्वेन प्रविभक्तः कामस्तदनाप्तकामं भवति। यथा जागरितावस्थायां देवदत्तादिरूपं, न त्विदं तथा कुतश्चित्प्रविभज्यतेऽतस्तदाप्तकामं भवति। किमन्यस्माद्वस्त्वन्तरान्न प्रविभज्यत आहोस्विदात्मैव तद्वस्त्वन्तरमत आह—नान्यदस्त्यात्मनः। कथम्? यत **आत्मकाम**मात्मैव कामा यस्मिन्रूपेऽन्यत्र प्रविभक्ता इवान्यत्वेन काम्यमाना, यथा जाग्रत्स्वप्नयोस्तस्याऽऽत्मैवान्यत्वप्रत्युपस्थापकहेतोरविद्याया अभावादात्मकाममत **एवाकाममेतद्रूपं** काम्यविषयाभावाच्छो**कान्तरं**

unmanifested. अविद्या विद्यते न साऽविद्या.

विषय के बिना आनन्द का अनुभव सुषुप्ति में होता है। आत्मा सुख स्वरूप है। संसार मिथ्या है समझाने के लिये स्वप्नावस्था.

(सुषुप्त पुरुष पुण्य पाप से असंग तथा शोक रहित होता है)

सुषुप्तौ. अत्र पिताऽपिता भवति माताऽमाता लोका अलोका देवा अदेवा वेदा अवेदाः। अत्र स्तेनोऽस्तेनो भवति भ्रूणहाऽभ्रूणहा चाण्डालोऽचाण्डालः पौल्कसोऽपौल्कसः श्रमणोऽश्रमणस्तापसोऽतापसोऽनन्वागतं पुण्येनानन्वागतं पापेन तीर्णो हि तदा सर्वाञ्छोकान्हृदयस्य भवति॥२२॥

इस सुषुप्तावस्था में पिता अपिता हो जाता है, माता अमाता हो जाती है अर्थात् वहाँ जन्यजनकभाव संबन्ध नहीं रह जाता। लोक अलोक हो जाते हैं, देव अदेव और वेद अवेद हो जाते हैं अर्थात् सभी साध्य-साधन का अभाव हो जाता है। वहाँ पर चोर अचोर हो जाता है। भ्रूणहत्यारा अभ्रूणहा हो जाता है। चाण्डाल चाण्डाल नहीं रह जाता है। पौल्कस अपौल्कस हो जाता है (शूद्र से ब्राह्मणी में उत्पन्न संतान को चाण्डाल कहते हैं, शूद्रा में ब्राह्मण से उत्पन्न संतान को निषाद कहते कहते हैं एवं निषाद से क्षत्रिया में उत्पन्न संतान को पुल्कस कहते हैं)। परिव्राजक अपरिव्राजक और वानप्रस्थी अतापस हो जाता है अर्थात् किसी वर्णाश्रम धर्म की या पुण्य-पाप की प्रतीति नहीं होती। उस समय यह पुरुष पुण्य से असंबद्ध तथा पाप से भी संबन्धरहित हो जाता है। किंबहुना उस अवस्था में हृदयस्थ समस्त शोकों को पार कर जाता है॥२२॥

शोकच्छिद्रं शोकशून्यमित्येतच्छोकमध्यमिति वा सर्वथाऽप्यशोकमेतद्रूपं शोकवर्जित-मित्यर्थः॥२१॥

॥ इत्यष्टादशाह्निकम्॥१८॥

स्वयं आनन्द रूप होना है जो हमेशा रहता है।

भक्त : पराधीन सपनेहु सुख नाहीं। भीख खाना पराधीन.

प्रकृतः स्वयंज्योतिरात्माऽविद्याकामकर्मविनिर्मुक्त इत्युक्तम्। असङ्गत्वादात्मन आगन्तुकत्वाच्च तेषाम्। तत्रैवमाशङ्का जायते। चैतन्यस्वभावत्वे सत्यप्येकीभावान्न जानाति स्त्रीपुंसयोरिव संपरिष्वक्तयोरित्युक्तम्। तत्र प्रासङ्गिकमेतदुक्तं कामकर्मादिवत्स्वयंज्योतिष्ट्वमप्यस्याऽऽत्मनो न स्वभावः। यस्मात्संप्रसादेनोपलभ्यत इत्येवमाशङ्कायां प्राप्तायां तन्निराकरणाय स्त्रीपुंसयोर्दृष्टान्तोपादानेन विद्यमानस्यैव स्वयंज्योतिष्ट्वस्य सुषुप्तेऽग्रहणमेकीभावाद्धेतोर्न तु कामकर्मादिवदागन्तुकम्। इत्येतत्प्रासङ्गिकमभिधाय यत्प्रकृतं तदेवानुवर्तयति। अत्र चैतत्प्रकृतमविद्याकामकर्मविनिर्मुक्तमेव तद्रूपं यत्सुषुप्त आत्मनो गृह्यते प्रत्यक्षत इति। तदेतद्यथाभूतमेवाभिहितं

सर्वसंबन्धातीतमेतद्रूपमिति। यस्मादत्रैतस्मिन्सुषुप्तस्थानेऽतिच्छन्दापहतपाप्माभयमेतद्रूपं, तस्मादत्रास्मिन्सुषुप्तेऽपि **पिता** जनकः। तस्य च जनयितृत्वाद्यत्पितृत्वं पुत्रं प्रति तत्कर्मनिमित्तं, तेन च कर्मणाऽयमसंबद्धोऽस्मिन्काले। तस्मात्पितापुत्रसंबन्धनिमित्तात्कर्मणो विनिर्मुक्तत्वात्पिताऽप्य**पिता भवति**। तथा पुत्रोऽपि पितुरपुत्रो भवतीति सामर्थ्याद्गम्यते। उभयोर्हि संबन्धनिमित्तं कर्म, तदयमतिक्रान्तो वर्तते। ''अपहतपाप्मेति'' ह्युक्तम्। तथा **माताऽमाता। लोकाः** कर्मणा जेतव्या जिताश्च, तत्कर्मसंबन्धाभावाल्लोका **अलोकाः**। तथा **देवाः** कर्माङ्गभूतास्तत्कर्मसंबन्धात्ययाद्देवा **अदेवाः**। तथा **वेदाः** साध्यसाधनसंबन्धाभिधायका मन्त्रलक्षणाश्चाभिधायकत्वेन कर्माङ्गभूता अधीता अध्येतव्याश्च कर्मनिमित्तमेव संबध्यन्ते पुरुषेण, तत्कर्मातिक्रमणादेतस्मिन्काले **वेदा** अप्य**वेदाः** संपद्यन्ते।

न केवलं शुभकर्मसंबन्धातीतः, किं तर्ह्यशुभैरप्यत्यन्तघोरैः कर्मभिरसंबद्ध एवायं वर्तत इत्येतमर्थमाह—**अत्र स्तेनो** ब्राह्मणसुवर्णहर्ता भ्रूणघ्ना सह पाठादवगम्यते। स तेन घोरेण कर्मणैतस्मिन्काले विनिर्मुक्तो भवति। येनायं कर्मणा महापातकी **स्तेन** उच्यते। तथा **भ्रूणहाऽभ्रूणहा** तथा **चाण्डालो**, न केवलं प्रत्युत्पन्नेनैव कर्मणा विनिर्मुक्तः, किं तर्हि? सहजेनाप्यत्यन्तनिकृष्टजातिप्रापकेणापि विनिर्मुक्त एवायम्। चाण्डालो नाम शूद्रेण ब्राह्मण्यामुत्पन्नश्चण्डाल एव चाण्डालः। स जातिनिमित्तेन कर्मणाऽसंबद्धत्वाद**चाण्डालो** भवति। **पौल्कसः** पुल्कस एव पौल्कसः शूद्रेणैव क्षत्रियायामुत्पन्नस्तथा सोऽप्यपुल्कसो भवति। तथाऽऽश्रमलक्षणैश्च कर्मभिरसंबद्धो भवतीत्युच्यते। **श्रमणः** परिव्राड्यत्कर्मनिमित्तो भवति स तेन विनिर्मुक्तत्वाद**श्रमणः**। तथा **तापसो** वानप्रस्थोऽ**तापसः** सर्वेषां वर्णाश्रमादीनामुपलक्षणार्थमुभयोर्ग्रहणम्।

किं बहुनाऽ**नन्वागतं** नान्वागतमनन्वागतमसंबद्धमित्येतत्पुण्येन शास्त्रविहितेन कर्मणा, तथा **पापेन** विहिताकरणप्रतिषिद्धक्रियालक्षणेन रूपपरत्वान्नपुंसकलिङ्गम्। अभयं रूपमिति ह्यनुवर्तते। किं पुनरसंबद्धत्वे कारणमिति तद्धेतुरुच्यते-

तीर्णोऽतिक्रान्तो **हि** यस्मादेवंरूपस्**तदा** तस्मिन्काले **सर्वाञ्छोका**ञ्शोकाः कामाः। इष्टविषयप्रार्थना हि तद्विषयवियोगे शोकत्वमापद्यते। इष्टं हि विषयमप्राप्तं वियुक्तं चोद्दिश्य चिन्तयानस्तद्गुणान्संतप्यते पुरुषोऽतः शोको रतिः काम इति पर्यायाः। यस्मात्सर्वकामातीतो ह्यत्रायं भवति। न कंचन कामं कामयते ''अतिच्छन्दा'' इति ह्युक्तं तत्प्रक्रियापतितोऽयं शोकशब्दः कामवचन एव भवितुमर्हति। कामश्च कर्महेतुः। वक्ष्यति हि ''स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते'' इति। अतः सर्वकामातितीर्णत्वाद्युक्तमनन्वागतं पुण्येनेत्यादि।

हृदयस्य हृदयमिति पुण्डरीकाकारो मांसपिण्डस्तत्स्थमन्तःकरणं बुद्धिर्हृदयमित्युच्यते। तात्स्थ्यान्मञ्चक्रोशनवत्। हृदयस्य बुद्धेर्ये शोकाः कामाः बुद्धिसंश्रया हि ते। ''कामः संकल्पो विचिकित्सा''इत्यादि सर्वं मन एवेत्युक्तत्वात्। वक्ष्यति च ''कामा येऽस्य हृदि श्रिताः'' इति, आत्मसंश्रयभ्रान्त्यपनोदाय हीदं वचनं, हृदि श्रिता हृदयस्य शोका इति च। हृदयकरणसंबन्धातीतश्चायमस्मिन्कालेऽतिक्रामति मृत्यो रूपाणीति ह्युक्तम्। हृदयकरणसंबन्धातीतत्वात्तत्संश्रयकामसंबन्धातीतो भवतीति युक्ततरं वचनम्।

ये तु वादिनो हृदि श्रिताः कामा वासनाश्च हृदयसंबन्धिनमात्मानमुपसृप्योपश्लिष्यन्ति, हृदयवियोगेऽपि चाऽऽत्मन्यवतिष्ठन्ते पुटतैलस्थ इव पुष्पादिगन्ध इत्याचक्षते। तेषां ''कामः संकल्पो'', ''हृदये ह्येव रूपाणि'' ''हृदयस्य शोका'' इत्यादीनां वचनानामानर्थक्यमेव। हृदयकरणोत्पाद्यत्वादिति चेत्। न। हृदि श्रिता इति विशेषणात्। न हि हृदयस्य करणमात्रत्वे हृदि श्रिता इति वचनं समञ्जसं, हृदये ह्येव रूपाणि प्रतिष्ठितानीति च। आत्मविशुद्धेश्च विवक्षितत्वाद्धृच्छ्रयणवचनं यथार्थमेव युक्तम्। ''ध्यायतीव लेलायतीव''इति च श्रुतेरन्यार्थासंभवात्।

कामा येऽस्य हृदि श्रिता इति विशेषणादात्माश्रया अपि सन्तीति चेत्।

न। अनाश्रितापेक्षत्वात्। नात्राश्रयान्तरमपेक्ष्य ये हृदीति विशेषणं, किं तर्हि ये हृद्यनाश्रिताःकामास्तानपेक्ष्य विशेषणम्। ये त्वप्ररूढा भविष्यन्तो भूताश्च प्रतिपक्षतो निवृत्तास्ते नैव हृदि श्रिताः, संभाव्यन्ते च ते। अतो युक्तं तानपेक्ष्य विशेषणम्। ये प्ररूढा वर्तमाना विषये ते सर्वे प्रमुच्यन्त इति।

तथाऽपि विशेषणानर्थक्यमिति चेत्। न। तेषु यत्नाधिक्याद्धेयार्थत्वात्। इतरथाऽश्रुतमनिष्टं च कल्पितं स्यादात्माश्रयत्वं कामानाम्। न कंचन कामं कामयत इति प्राप्तप्रतिषेधादात्माश्रयत्वं कामानां श्रुतमेवेति चेत्। न। सधीः स्वप्नो भूत्वेति परनिमित्तत्वात्कामाश्रयत्वप्राप्तेरसङ्गवचनाच्च। न हि कामाश्रयत्वेऽसङ्गवचनमुपपद्यते। सङ्गश्च काम इत्यवोचाम। आत्मकाम इति श्रुतेरात्मविषयोऽस्य कामो भवतीति चेत्। न। व्यतिरिक्तकामाभावार्थत्वात्तस्याः।

वैशेषिकादितन्त्रन्यायोपपन्नमात्मनः कामाद्याश्रयत्वमिति चेत्। न, हृदि श्रिता इत्यादिविशेषणश्रुतिविरोधादनपेक्ष्यास्ता वैशेषिकादितन्त्रोपपत्तयः। श्रुतिविरोधे न्यायाभासत्वोपगमात्। स्वयंज्योतिष्ट्वबाधनाच्च। कामादीनां च स्वप्ने केवलदृशिमात्रविषयत्वात्स्वयंज्योतिष्ट्वं स्थितं बाध्येत। आत्मसमवायित्वे तद्दृश्यत्वानुपपत्तेश्चक्षुर्गतविशेषवत्। द्रष्टुर्हि दृश्यमर्थान्तरभूतमिति द्रष्टुः स्वयंज्योतिष्ट्वं सिद्धम्। तद्बाधितं स्याद्यदि कामाद्याश्रयत्वं परिकल्प्येत।

सर्वशास्त्रार्थविप्रतिषेधाच्च। परस्यैकदेशकल्पनायां कामाद्याश्रयत्वे च सर्वशास्त्रार्थजातं कुप्येत। एतच्च विस्तरेण चतुर्थेऽवोचाम। महता हि प्रयत्नेन कामाद्याश्रयत्वकल्पनाः प्रतिषेद्धव्या आत्मनः परेणैकत्वशास्त्रार्थसिद्धये। तत्कल्पनायां पुनः क्रियमाणायां शास्त्रार्थ एव बाधितः स्यात्। यथेच्छादीनामात्मधर्मत्वं कल्पयन्तो वैशेषिका नैयायिकाश्चोपनिषच्छास्त्रार्थेन न संगच्छन्ते, तथेयमपि कल्पनोपनिषच्छास्त्रार्थबाधनान्नाऽऽदरणीया॥२२॥

(सुषुप्ति में आत्मा के स्वयं ज्योतिष्ट्व का प्रदर्शन)

यद्वै तन्न पश्यति पश्यन्वै तन्न पश्यति न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्। न तु तद्‌द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत्पश्येत्॥२३॥

वह जो सुषुप्ति में नहीं देखता है, निःसन्देह उस अवस्था में देखता हुआ ही नहीं देखता है, क्योंकि द्रष्टा की दृष्टि का कभी लोप नहीं होता। वह तो अविनाशी है। उस अवस्था में उससे भिन्न कोई अन्य वस्तु नहीं रह जाती, जिसे कि वह देखे॥२३॥

स्त्रीपुंसयोरिवैकत्वान्न पश्यतीत्युक्तं स्वयं ज्योतिरिति च। स्वयंज्योतिष्ट्वं नाम चैतन्यात्मस्वभावता। यदि ह्यग्न्युष्णत्वादिवच्चैतन्यात्मस्वभाव आत्मा स कथमेकत्वेऽपि स्वभावं जह्यान्न जानीयात्। अथ न जहाति कथमिह सुषुप्ते न पश्यति। विप्रतिषिद्धमेतच्चैतन्यमात्मस्वभावो न जानाति चेति। न विप्रतिषिद्धमुभयमप्येतदुपपद्यत एव। कथम्?

यद्वै सुषुप्ते **तन्न पश्यति पश्यन्वै** तत्तत्र पश्यन्नेव न **पश्यति**। यत्तत्र सुषुप्ते न पश्यतीति जानीषे तन्न तथा गृह्णीयाः। कस्मात्? पश्यन्वै भवति तत्र। नन्वेवं न पश्यतीति सुषुप्ते जानीमो यतो न चक्षुर्वा मनो वा दर्शने करणं व्यापृतमस्ति। व्यापृतेषु हि दर्शनश्रवणादिषु पश्यतीति व्यवहारो भवति शृणोतीति वा। न च व्यापृतानि करणानि पश्यामः। तस्मान्न पश्यत्येवायम्। न हि। किं तर्हि पश्यन्नेव भवति। कथम्? न **हि** यस्माद्‌**द्रष्टुर्**दृष्टिकर्तुर्या दृष्टिस्तस्या **दृष्टेर्विपरिलोपो** विनाशः, स न **विद्यते**। यथाऽग्नेरौष्ण्यं यावदग्निभावि तथाऽयं चाऽऽत्मा द्रष्टाऽविनाश्यतोऽ**विनाशित्वाद**ात्मनो दृष्टिरप्यविनाशिनी यावद्‌द्रष्टृभाविनी हि सा।

ननु विप्रतिषिद्धमिदमभिधीयते द्रष्टुः सा दृष्टिर्न विपरिलुप्यत इति च। दृष्टिश्च द्रष्ट्रा क्रियते। दृष्टिकर्तृत्वाद्धि द्रष्टेत्युच्यते। क्रियमाणा च द्रष्ट्रा दृष्टिर्न विप-

रिलुप्यत इति चाशक्यं वक्तुम्। ननु न विपरिलुप्यत इति वचनादविनाशिनी स्यात्। न। वचनस्य ज्ञापकत्वात्। न हि न्यायप्राप्तो विनाशः कृतकस्य वचनशतेनापि वारयितुं शक्यते। वचनस्य यथाप्राप्तार्थज्ञापकत्वात्।

नैष दोषः। आदित्यादिप्रकाशकत्ववद्दर्शनोपपत्तेः। यथाऽऽदित्यादयो नित्यप्रकाशस्वभावा एव सन्तः स्वाभाविकेन नित्येनैव प्रकाशेन प्रकाशयन्ति। न ह्यप्रकाशात्मानः सन्तः प्रकाशं कुर्वन्तः प्रकाशयन्तीत्युच्यन्ते। किं तर्हि? स्वभावेनैव नित्येन प्रकाशेन। तथाऽयमप्यात्माऽविपरिलुप्तस्वभावया दृष्ट्या नित्यया द्रष्टेत्युच्यते। गौणं तर्हि द्रष्टृत्वम्। नैवमेव, मुख्यत्वोपपत्तेः। यदि ह्यन्यथाऽप्यात्मनो द्रष्टृत्वं दृष्टं, तदाऽस्य द्रष्टृत्वस्य गौणत्वं, न त्वात्मनोऽन्यो दर्शनप्रकारोऽस्ति। तदेवमेव मुख्यं द्रष्टृत्वमुपपद्यते नान्यथा। यथाऽऽदित्यादीनां प्रकाशयितृत्वं नित्येनैव स्वाभाविकेनाक्रियमाणेन प्रकाशेन, तदेव च प्रकाशयितृत्वं मुख्यं प्रकाशयितृत्वान्तरानुपपत्तेः। तस्मान्न द्रष्टुर्दृष्टिर्विपरिलुप्यत इति न विप्रतिषेधगन्धोऽप्यस्ति।

नन्वनित्यक्रियाकर्तृविषय एव तृच्प्रत्ययान्तस्य शब्दस्य प्रयोगो दृष्टो, यथा छेत्ता भेत्ता गन्तेति तथा द्रष्टेत्यत्रापीति चेत्। न। प्रकाशयितेति दृष्टत्वात्। भवतु प्रकाशकेष्वन्यथाऽसंभवान्न त्वात्मनीति चेत्। न। दृष्ट्यविपरिलोपश्रुतेः। पश्यामि न पश्यामीत्यनुभवदर्शनान्नेति चेत्। न। करणव्यापारविशेषापेक्षत्वात्। उद्धृतचक्षुषां च स्वप्न आत्मदृष्टेरविपरिलोपदर्शनात्। तस्मादविपरिलुप्तस्वभावैवाऽऽत्मनो दृष्टिः। अतस्तयाऽविपरिलुप्तया दृष्ट्या स्वयंज्योतिःस्वभावया पश्यन्नेव भवति सुषुप्ते।

कथं तर्हि न पश्यतीति। उच्यते। **न तु तदस्ति**। किं तत्। **द्वितीयं** विषयभूतम्। किंविशिष्टम्। **ततो** द्रष्टु**रन्यदन्यत्वेन विभक्तं यत्पश्येद्य**दुपलभेत। यद्धि तद्विशेषदर्शनकारणमन्तःकरणं चक्षू रूपं च, तदविद्ययाऽन्यत्वेन प्रत्युपस्थापितमासीत्। तदेतस्मिन्काल एकीभूतम्। आत्मनः परेण परिष्वङ्गात्। द्रष्टुर्हि परिच्छिन्नस्य विशेषदर्शनाय करणान्यन्यत्वेन व्यवतिष्ठन्ते। अयं तु स्वेन सर्वात्मना

यद्वै तन्न जिघ्रति जिघ्रन्वै तन्न जिघ्रति न हि घ्रातुर्घ्रातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यज्जिघ्रेत्॥२४॥

यद्वै तन्न रसयते रसयन्वै तन्न रसयते न हि रसयितू रसयतेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यद्रसयेत्॥२५॥

वह जो उस अवस्था में सूँघता नहीं (इसका यह अर्थ नहीं है कि उसकी गन्धग्रहण करने वाली शक्ति का सर्वथा लोप हो गया है) वह तो सूँघता हुआ भी नहीं सूँघता, सूँघने वाले की सूँघने की शक्ति का सर्वथा लोप होता ही नहीं क्योंकि वह नाश-रहित है। हाँ यह बात सत्य है कि उस समय उससे भिन्न कोई वस्तु नहीं रहती, जिसे कि वह सूँघे॥२४॥

वहाँ पर वह जो रस नहीं लेता, निःसन्देह वह रस लेता हुआ रस नहीं लेता है। रसग्रहण करने वाले की रसग्रहणशक्ति का सर्वथा लोप नहीं होता क्योंकि वह अविनाशी है। किन्तु उस अवस्था में उससे भिन्न कोई वस्तु रहती ही नहीं, जिसका कि वह रस लेवे॥२५॥

संपरिष्वक्तः स्वेन परेण प्राज्ञेनाऽऽत्मना प्रिययेव पुरुषः। तेन न पृथक्त्वेन व्यवस्थितानि करणानि विषयाश्च। तदभावाद्विशेषदर्शनं नास्ति। करणादिकृतं हि तन्नाऽऽत्मकृतम्। आत्मकृतमिव प्रत्यवभासते। तस्मात्तत्कृतेयं भ्रान्तिरात्मनो दृष्टिः परिलुप्यत इति॥२३॥

समानमन्यत्। **यद्वै तन्न जिघ्रति। यद्वै तन्न रसयते। यद्वै तन्न वदति। यद्वै तन्न शृणोति। तद्वै तन्न मनुते।** **यद्वै तन्न स्पृशति। यद्वै तन्न विजानातीति।** मननविज्ञानयोर्दृष्ट्यादिसहकारित्वेऽपि सति चक्षुरादिनिरपेक्षो भूतभविष्यद्वर्तमानविषयव्यापारो विद्यत इति पृथग्ग्रहणम्।

यद्वै तन्न वदति वदन्वै तन्न वदति न हि वक्तुर्वक्तेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यद्वदेत् ॥ २६ ॥

यद्वै तन्न शृणोति शृण्वन्वै तन्न शृणोति न हि श्रोतुः श्रुतेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यच्छृणुयात् ॥२७॥

यद्वै तन्न मनुते मन्वानो वै तन्न मनुते न हि मन्तुर्मतेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यन्मन्वीत ॥ २८ ॥

जो वह बोलता नहीं, निःसन्देह वह बोलता हुआ नहीं बोलता, वक्ता की वदनशक्ति का सर्वथा लोप नहीं होता क्योंकि वह नाशरहित है। सत्य बात यह है कि उस अवस्था में उससे भिन्न कोई वस्तु नहीं, जिसके विषय में वह बोले ॥ २६ ॥

वहाँ जो नहीं सुनता है, वह निःसन्देह सुनता हुआ ही नहीं सुनता है। श्रोता की श्रवणशक्ति का सर्वथा लोप नहीं होता क्योंकि वह नाशरहित है। सत्य यह है कि उस अवस्था में उससे भिन्न कोई वस्तु नहीं रह जाती, जिसे कि वह सुने ॥२७॥

जो वह वहाँ पर मनन नहीं करता, सो मनन करता हुआ ही मनन नहीं करता है। मनन करने वाले की मननशक्ति का सर्वथा लोप नहीं होता क्योंकि वह नाशरहित है। सच्ची बात यह है कि उस अवस्था में उससे भिन्न कोई वस्तु नहीं रह जाती, जिसे कि वह मनन करे ॥२८॥

किं पुनर्दृष्ट्यादीनामग्नेरौष्ण्यप्रकाशनज्वलनादिवद्धर्मभेद आहोस्विदभिन्नस्यैव

यद्वै तन्न स्पृशति स्पृशन्वै तन्न स्पृशति न हि स्प्रष्टुः स्पृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत्स्पृशेत्॥२९॥

यद्वै तन्न विजानाति विजानन्वै तन्न विजानाति न हि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यद्विजानीयात्॥३०॥

वह जो उस समय स्पर्श नहीं करता, वह वस्तु का स्पर्श करता हुआ ही स्पर्श नहीं करता। स्पर्श करने वाले की स्पर्शनशक्ति का सर्वथा लोप नहीं होता क्योंकि वह अविनाशी है। हाँ उस अवस्था में उससे भिन्न कोई वस्तु नहीं रह जाती, जिसे वह स्पर्श करे॥२९॥

उस सुषुप्तावस्था में वह जो न जानता है, वह वस्तुतः जानता हुआ ही नहीं जानता है। विज्ञाता की विज्ञानशक्ति का सर्वथा लोप नहीं होता क्योंकि वह तो नित्य है। हाँ उस समय उससे भिन्न कोई वस्तु नहीं रह जाती, जिसे कि वह विशेष रूप से जाने॥३०॥

धर्मस्य परोपाधिनिमित्तं धर्मान्यत्वमिति। अत्र केचिद्व्याचक्षते — आत्मवस्तुनः स्वत एवैकत्वं नानात्वं च, यथा गोर्गोद्रव्यतयैकत्वं सास्नादीनां धर्माणां परस्परतो भेदः। यथा स्थूलेष्वेकत्वं नानात्वं च तथा निरवयवेष्वमूर्तवस्तुष्वेकत्वं नानात्वं चानुमेयम्। सर्वत्राव्यभिचारदर्शनादात्मनोऽपि तद्वदेव दृष्ट्यादीनां परस्परं नानात्वमात्मना चैकत्वमिति। नान्यपरत्वात्। न हि दृष्ट्यादिधर्मभेदप्रदर्शनपरमिदं वाक्यं यद्वै तदित्यादि। किं तर्हि, यदि चैतन्यात्मज्योतिः, कथं न जानाति सुषुप्ते? नूनमतो न चैतन्यात्मज्योतिरित्येवमाशङ्काप्राप्तौ तन्निराकरणायैतदारब्धं यद्वै तदित्यादि। यदस्य जाग्रत्स्वप्न-

जाग्रत् एवं स्वप्न में विशेष ज्ञान का कारण

यत्र वा अन्यदिव स्यात्तत्रान्योऽन्यत्पश्येदन्योऽन्य-

जिस जाग्रत् या स्वप्न में आत्मा से भिन्न अन्य सी-वस्तु होती है, वहाँ ही अन्य को देखता है, अन्य-अन्य को सूँघता है, अन्न-अन्य को चखता है, अन्य-अन्य को बोलता है, अन्य-अन्य का मनन करता है, अन्य-अन्य का स्पर्श करता है और अन्य-अन्य को

योश्चक्षुराद्यनेकोपाधिद्वारं चैतन्यात्मज्योतिःस्वाभाव्यमुपलक्षितं दृष्ट्याद्यभिधेयव्य-वहारापन्नं सुषुप्त उपाधिभेदव्यापारनिवृत्तावनुद्भास्यमानत्वादनुपलक्ष्यमाणस्वभाव-मप्युपाधिभेदेन भिन्नमिव यथाप्राप्तानुवादेनैव विद्यमानत्वमुच्यते। तत्र दृष्ट्यादिधर्म-भेदकल्पना विवक्षितार्थाऽनभिज्ञतया। सैन्धवघनवत्प्रज्ञानैकरसघनश्रुतिविरोधाच्च। 'विज्ञानमानन्दम्' 'सत्यं ज्ञानम्' 'प्रज्ञानं ब्रह्म' इत्यादिश्रुतिभ्यश्च। शब्दप्रवृत्तेश्च। लौकिकी च शब्दप्रवृत्तिश्चक्षुषा रूपं विजानाति श्रोत्रेण शब्दं विजानाति रस-नेनान्नस्य रसं विजानातीति च सर्वत्रैव च दृष्ट्यादिशब्दाभिधेयानां विज्ञानशब्द-वाच्यतामेव दर्शयति। शब्दप्रवृत्तिश्च प्रमाणम्।

दृष्टान्तोपपत्तेश्च। यथा हि लोके स्वच्छस्वाभाव्ययुक्तः स्फटिकस्तन्निमित्तमेव केवलं हरितनीललोहिताद्युपाधिभेदसंयोगात्तदाकारत्वं भजते। न च स्वच्छस्वाभा-व्यव्यतिरेकेण हरितनीललोहितादिलक्षणा धर्मभेदाः स्फटिकस्य कल्पयितुं शक्यन्ते। तथा चक्षुराद्युपाधिभेदसंयोगात्प्रज्ञानघनस्वभावस्यैवाऽऽत्मज्योतिषो दृष्ट्यादिशक्ति-भेद उपलक्ष्यते। प्रज्ञानघनस्य स्वच्छस्वाभाव्यात्स्फटिकस्वच्छस्वाभाव्यवत्स्वयंज्यो-तिष्ट्वाच्च। यथा चाऽऽदित्यज्योतिरवभास्यभेदैः संयुज्यमानं हरितनीलपीतलोहिता-दिभेदैरविभाग्यं तदाकाराभासं भवति, तथा च कृत्स्नं जगदवभासयच्चक्षुरादीनि च तदाकारं भवति, तथा चोक्तमात्मनैवायं ज्योतिषाऽऽस्त इत्यादि।

न च निरवयवेष्वनेकात्मता शक्यते कल्पयितुम्। दृष्टान्ताभावात्। यदप्या-काशस्य सर्वगतत्वादिधर्मभेदः परिकल्प्यते परमाण्वादीनां च गन्धरसाद्यनेकगुण-वत्त्वं, तदपि निरूप्यमाणं परोपाधिनिमित्तमेव भवति। आकाशस्य तावत्सर्वगतत्वं नाम

जिघ्रेदन्योऽन्यद्रसयेदन्योऽन्यद्वदेदन्योऽन्यच्छृणुयादन्यो-ऽन्यन्मन्वीतान्योऽन्यत्स्पृशेदन्योऽन्यद्विजानीयात् ॥ ३१ ॥

जानता है, अर्थात् अविद्या की विक्षेपशक्ति से उत्पन्न हुई वस्तु को देखता हुआ-सा प्रतीत होता है॥३१॥

न स्वतो धर्मोऽस्ति। सर्वोपाधिसंश्रयाद्धि सर्वत्र स्वेन रूपेण सत्त्वमपेक्ष्य सर्वगतत्वव्यवहारः। न त्वाकाशः क्वचिद्गतो वाऽऽगता वा स्वतः। गमनं हि नाम देशान्तरस्थस्य देशान्तरेण संयोगकारणम्। सा च क्रिया नैवाविशेषे संभवति। एवं धर्मभेदा नैव सन्त्याकाशे। तथा परमाण्वादावपि। परमाणुर्नाम पृथिव्या गन्धघनायाः परमसूक्ष्मोऽवयवो गन्धात्मक एव, न तस्य पुनर्गन्धवत्त्वं नाम शक्यते कल्पयितुम्। अथ तस्यैव रसादिमत्त्वं स्यादिति चेन्न। तत्राप्यबादिसंसर्गनिमित्तत्वात्। तस्मान्न निरवयवस्यानेकधर्मवत्त्वे दृष्टान्तोऽस्ति। एतेन दृगादिशक्तिभेदानां पृथक्चक्षूरूपादिभेदेन परिणामभेदकल्पना परमात्मनि प्रत्युक्ता॥२४॥ ॥२५॥ ॥२६॥ ॥२७॥ ॥२८॥ ॥२९॥ ॥३०॥

जाग्रत्स्वप्नयोरिव यद्विजानीयात्तद्द्वितीयं प्रविभक्तमन्यत्वेन नास्तीत्युक्तम्। अतः सुषुप्ते न विजानाति विशेषम्। ननु यद्यस्यायमेव स्वभावः किंनिमित्तमस्य विशेषविज्ञानं स्वभावपरित्यागेन। अथ विशेषविज्ञानमेवास्य स्वभावः, कस्मादेष विशेषं न विजानातीति? उच्यते शृणु। **यत्र** यस्मिञ्जागरिते स्वप्ने **वा अन्यदिवा**ऽऽत्मनो वस्त्वन्तरमिवाविद्यया प्रत्युपस्थापितं भवति, **तत्र** तस्मादविद्याप्रत्युपस्थापिता**दन्यो**ऽन्यमिवाऽऽत्मानं मन्यमानोऽसत्यात्मनः प्रविभक्ते वस्त्वन्तरेऽसति चाऽऽत्मनि ततः प्रविभक्ते**ऽन्योऽन्यत्पश्येदु**पलभेत। तच्च दर्शितं स्वप्ने प्रत्यक्षतो घ्नन्तीव जिनन्तीवेति। **तथाऽन्योऽन्यज्जिघ्रेद्रसयेद्वदेच्छृणुयान्मन्वीत स्पृशेद्विजानीयादिति** ॥ ३१ ॥

सलिल एको द्रष्टाऽद्वैतो भवत्येष ब्रह्मलोकः सम्राडिति हैनमनुशशास याज्ञवल्क्य एषाऽस्य परमा गतिरेषाऽस्य परमा संपदेषोऽस्य परमो लोक एषोऽस्य परम आनन्द एतस्यैवाऽऽनन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति ॥३२॥

जैसे जल विशुद्ध और एक है, वैसे ही सुषुप्ति में अद्वैत आत्मा द्रष्टा एक है। हे राजन्! यही ब्रह्मलोक है। ऐसा याज्ञवल्क्य ने जनक को उपदेश दिया। यही इस पुरुष की परम गति है। यह इसकी परमसंपत्ति है, यह इसका परमलोक है, यह इसका परमानन्द है। इसी आनन्द की (अविद्या द्वारा उपस्थित विषय और इन्द्रियों के संबन्ध से होने वाली) कला के आश्रित दूसरे जीव जीते रहते हैं॥३२॥

यत्र पुनः साऽविद्या सुषुप्ते वस्त्वन्तरप्रत्युपस्थापिका शान्ता तेनान्यत्वेनाविद्याप्रविभक्तस्य वस्तुनोऽभावात्तत्केन कं पश्येज्जिघ्रेद्विजानीयाद्वा। अतः स्वेनैव हि प्राज्ञेनाऽऽत्मना स्वयंज्योतिःस्वभावेन संपरिष्वक्तः समस्तः संप्रसन्न आप्तकाम आत्मकामः सलिलवत्स्वच्छीभूतः **सलिल** इव सलिल **एको,** द्वितीयस्याभावात्। अविद्यया हि द्वितीयःप्रविभज्यते। सा च शान्ताऽत्रात **एको द्रष्टा** दृष्टेरविपरिलुप्तत्वादात्मज्योतिःस्वभावाया **अद्वैतो** द्रष्टव्यस्य द्वितीयस्याभावात्। एतदमृतमभय**मेष ब्रह्मलोको** ब्रह्मैव लोको ब्रह्मलोकः पर एवायमस्मिन्काले व्यावृत्तकार्यकरणोपाधिभेदः स्वे आत्मज्योतिषि शान्तसर्वसंबन्धो वर्तते। हे **सम्राडिति** हैवं **हैनं** जनक**मनुशशासानुशिष्टवान्याज्ञवल्क्य** इति श्रुतिवचनमेतत्।

कथं वाऽनुशशास। **एषाऽस्य** विज्ञानमयस्य **परमा गतिः**। यास्त्वन्या देहग्रहणलक्षणा ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्ता अविद्याकल्पितास्ता गतयोऽतोऽपरमा, अविद्याविषयत्वात्। इयं तु देवत्वादिगतीनां कर्मविद्यासाध्यानां परमोत्तमा यः समस्तात्मभावो "यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति" इत्येषैव च **परमा संपत्सर्वासां**

तत्त्वज्ञानी के आनन्द की मीमांसा

स यो मनुष्याणाꣳ राद्धः समृद्धो भवत्यन्येषामधिपतिः सर्वैर्मानुष्यकैर्भोगैः संपन्नतमः स मनुष्याणां परम आनन्दोऽथ ये शतं मनुष्याणामानन्दाः स एकः पितृणां जितलोकानामानन्दोऽथ ये शतं पितृणां जितलोकानामानन्दाः स एको गन्धर्वलोक आनन्दो

मनुष्यों में वह जो भी कोई सम्पूर्ण अंगों से युक्त, भोगसामग्री से सम्पन्न, दूसरों का स्वतन्त्र अधिपति और मनुष्यसंबन्धी सम्पूर्ण भोगसामग्री के कारण सबसे बढ़ा-चढ़ा हो, वह मनुष्यों का परम आनन्द है—अर्थात् मनुष्यलोक में ऐसे व्यक्ति का आनन्द सर्वश्रेष्ठ

संपदां विभूतीनामियं परमा स्वाभाविकत्वादस्याः कृतका ह्यन्याः संपदः। **तथैषोऽस्य परमो लोकः**। येऽन्ये कर्मफलाश्रया लोकास्तेऽस्मादपरमाः। अयं तु न केनचन कर्मणा मीयते स्वाभाविकत्वा**देषोऽस्य** परमो लोकः। तथै**षोऽस्य परम आनन्दः**। यान्यन्यानि विषयेन्द्रियसंबन्धजनितान्यानन्दजातानि, तान्यपेक्ष्यैषोऽस्य परम आनन्दो, नित्यत्वात्। "यो वै भूमा तत्सुखम्" इति श्रुत्यन्तरात्।

यत्रान्यत्पश्यत्यन्यद्विजानाति तदल्पं मर्त्यममुख्यं सुखमिदं तु तद्विपरीतम्। अत एवैषोऽस्य परम आनन्दः। **एतस्यैवाऽऽनन्दस्य मात्रां** कलामविद्याप्रत्युपस्थापितां विषयेन्द्रियसंबन्धकालविभाव्याम**न्यानि भूतान्युपजीवन्ति**। कानि तानि? तत एवाऽऽनन्दादविद्यया प्रविभज्यमानस्वरूपाण्यन्यत्वेन तानि ब्रह्मणः परिकल्प्यमानान्यन्यानि सन्त्युपजीवन्ति भूतानि विषयेन्द्रियसंपर्कद्वारेण विभाव्यमानाम्॥३२॥

यस्य परमानन्दस्य मात्रा अवयवा ब्रह्मादिभिर्मनुष्यपर्यन्तैर्भूतैरुपजीव्यन्ते तदानन्दमात्राद्वारेण मात्रिणं परमानन्दमधिजिगमयिषन्नाह सैन्धवलवणशकलैरिव लवण-

निष्पाप

ऽथ ये शतं गन्धर्वलोक आनन्दाः स एकः कर्मदेवानामानन्दो ये कर्मणा देवत्वमभिसंपद्यन्तेऽथ ये शतं कर्मदेवानामानन्दाः स एक आजानदेवानामानन्दो यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतोऽथ ये शतमाजानदेवानामानन्दाः स एकः प्रजापतिलोक आनन्दो यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतोऽथ ये शतं प्रजापतिलोक आनन्दाः स एको ब्रह्मलोक आनन्दो यश्च श्रोत्रियो-

माना गया है। ऐसे मनुष्यों के जो सौ गुणे आनन्द हैं, वह पितृलोक को जीतने वाले पितृगणों का एक आनन्द माना जाता है और जो पितृलोक को जीतने वाले पितृगणों के सौ आनन्द हैं, वह गन्धर्वलोक का एक आनन्द माना जाता है। तथा जो गन्धर्वलोक के सौ आनन्द हैं, वह अग्निहोत्रादि श्रौतकर्म के द्वारा देवत्व को प्राप्त हुए कर्मदेवों का एक आनन्द है। इसी प्रकार कर्मदेवों के जो सौ आनन्द हैं, वह आजान (जन्मसिद्ध) देवों का एक आनन्द है। तथा आजानदेवों के जो सौ आनन्द हैं, वह प्रजापति का एक आनन्द है एवं जो पाप तथा कामनारहित श्रोत्रिय विद्वान् है, उसका भी वह आनन्द माना जाता है और जो प्रजापतिलोक के सौ आनन्द हैं, वह हिरण्यगर्भ ब्रह्मा का एक आनन्द है। एवं जो आप्त तथा कामना से शून्य श्रोत्रिय विद्वान् का आनन्द है, वह भी वही है।

शैलम्। **स यः** कश्चि**न्मनुष्याणां** मध्ये **राद्धः** संसिद्धोऽविकलः समग्रावयव इत्यर्थः। **समृद्ध** उपभोगोपकरणसंपन्नो **भवति**। किंचा**न्येषां** समानजातीयाना**मधिपतिः** स्वतन्त्रः पतिर्न माण्डलिकः **सर्वैः** समस्तै**र्मानुष्यकै**रिति। दिव्यभोगोपकरणनिवृत्त्यर्थं मनुष्याणामेव यानि भोगोपकरणानि तैः संपन्नानामप्यतिशयेन संपन्नः **संपन्नतमः स मनुष्याणां परम आनन्दः**।

तत्राऽऽनन्दानन्दिनोरभेदनिर्देशान्नार्थान्तरभूतत्वमित्येतत्। परमानन्दस्यैवेयं विषयविषय्याकारेण मात्रा प्रसृतेति ह्युक्तं यत्र वा अन्यदिव स्यादित्यादिवाक्येन। तस्माद्यु-

ऽवृजिनोऽकामहतोऽथैष एव परम आनन्द एष ब्रह्मलोकः सम्राडिति होवाच याज्ञवल्क्यः सोऽहं भगवते सहस्रं ददाम्यत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहीत्यत्र ह याज्ञवल्क्यो बिभयांचकार मेधावी राजा सर्वेभ्यो माऽन्तेभ्य उदरौत्सीदिति॥ ३३॥ अवरोधं कृतवान् उपाधिरुद्ध

यही परम उत्कृष्ट आनन्द है। हे राजन्! यही ब्रह्मलोक है, ऐसा याज्ञवल्क्य ने कहा। इस पर राजा जनक ने कहा— मैं इसके बदले श्रीमान् को एक सहस्र गौएँ देता हूँ। अतः इसके आगे भी आप बन्धन से मुक्त करने के लिये ही उपदेश करें। इस बात को सुनकर महर्षि याज्ञवल्क्य भयभीत हो गये कि इस बुद्धिमान् राजा ने तो मुझे मोक्ष के साधन रूप में सम्पूर्ण प्रश्नों के सम्यक्‌निर्णय देने के लिये बाँध लिया है (कामप्रश्न के बहाने से यह मेरा सारा विज्ञान ले लेना चाहता है)॥३३॥

क्तोऽयं स परम आनन्द इत्यभेदनिर्देशः। युधिष्ठिरादितुल्यो राजाऽत्रोदाहरणम्। दृष्टं मनुष्यानन्दमादिं कृत्वा शतगुणोत्तरोत्तरक्रमेणोन्नीय परमानन्दं यत्र भेदो निवर्तते, तमधिगमयति। अत्रायमानन्दः शतगुणोत्तरोत्तरक्रमेण वर्धमानो यत्र वृद्धिकाष्ठामनुभवति। यत्र गणितभेदो निवर्ततेऽन्यदर्शनश्रवणमननाभावात्तं परमानन्दं विवक्षन्नाह— **अथ ये मनुष्याणामे**वंप्रकाराः **शत**मानन्दभेदाः **स एकः पितृणाम्**। तेषां विशेषणं **जितलोकाना**मिति। श्राद्धादिकर्मभिः पितॄंस्तोषयित्वा तेन कर्मणा जितो लोको येषां ते जितलोकाः पितरस्तेषां **पितॄणां जितलोकानां** मनुष्यानन्दशतगुणीकृतपरिमाण **एक आनन्दो** भवति। सोऽपि शतगुणीकृतो गन्धर्वलोक एक आनन्दो भवति। स च शतगुणीकृतः कर्मदेवानामेक आनन्दो भवति।

अग्निहोत्रादिश्रौतकर्मणा ये देवत्वं प्राप्नुवन्ति ते **कर्मदेवाः**। तथैवाऽऽजानदेवानामेक आनन्दः। आजानत एवोत्पत्तित एव ये देवास्त **आजानदेवाः**। **यश्च श्रोत्रियो**ऽधीतवेदो**ऽवृजिनो** वृजिनं पापं तद्रहितो यथोक्तकारीत्यर्थः। **अकाम-**

हतो वीततृष्ण आजानदेवेभ्योऽर्वाग्यावन्तो विषयास्तेषु। तस्य चैवंभूतस्याऽऽजानदेवैः समान आनन्द इत्येतदन्वाकृष्यते चशब्दात्तच्छतगुणीकृतपरिमाणः **प्रजापतिलोक एक आनन्दो** विराट्शरीरे। तथा तद्विज्ञानवाञ्**श्रोत्रियो**ऽधीतवेदश्चा**वृजिन** इत्यादि पूर्ववत्। तच्छतगुणीकृतपरिमाण **एक** आनन्दो **ब्रह्मलोके** हिरण्यगर्भात्मनि।

यश्चेत्यादि पूर्ववदेव। अतः परं गणितनिवृत्तिः। **एष परम आनन्द** इत्युक्तः। यस्य च परमानन्दस्य ब्रह्मलोकाद्यानन्दा मात्रा उदधेरिव विप्रुषः। एवं शतगुणोत्तरोत्तरवृद्ध्युपेता आनंदाः यत्रैकतां यान्ति, यश्च श्रोत्रियप्रत्यक्षोऽथैष एव सम्प्रसादलक्षणः परम आनन्दस्तत्र हि नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति। अतो भूमा भूमत्वादमृतः। इतरे तद्विपरीताः। अत्र च श्रोत्रियत्वावृजिनत्वे तुल्ये। अकामहतत्वकृतो विशेष आनन्दशतगुणवृद्धिहेतुः। अत्रैतानि साधनानि श्रोत्रियत्वावृजिनत्वाकामहतत्वानि तस्य तस्याऽऽनन्दस्य प्राप्तावर्थादभिहितानि। यथा कर्माण्यग्निहोत्रादीनि देवानां देवत्वप्राप्तौ।

तत्र च श्रोत्रियत्वावृजिनत्वलक्षणे कर्मणी अधरभूमिष्वपि समाने इति नोत्तरानन्दप्राप्तिसाधने अभ्युपेयेते। अकामहतत्वं तु वैराग्यतारतम्योपपत्तेरुत्तरोत्तरभूम्यानन्दप्राप्तिसाधनमित्यवगम्यते। स **एष परम आनन्दो** वितृष्णश्रोत्रियप्रत्यक्षोऽधिगतः। तथा च वेदव्यासः—

"यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्" इति।

एष ब्रह्मलोको हे **सम्राडिति होवाच याज्ञवल्क्यः सोऽहमेवमनुशिष्टो भगवते** तुभ्यं **सहस्रं ददामि** गवाम्। **अत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहीति** व्याख्यातमेतत्। **अत्र ह** विमोक्षायेत्यस्मिन्वाक्ये **याज्ञवल्क्यो बिभयांचकार** भीतवान्। याज्ञवल्क्यस्य भयकारणमाह श्रुतिः। न याज्ञवल्क्यो

सुषुप्ति में गया हुआ जीव संसार रूप जाग्रत में जीव का लौटना

स वा एष एतस्मिन्स्वप्नान्ते रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति बुद्धान्तायैव ॥३४॥

जाग्रत

(जाग्रत् से स्वप्नान्त द्वारा सुषुप्ति में गया हुआ) वह यह पुरुष इस स्वप्नान्त में रमण और विहार कर, पुण्य तथा पाप को केवल देखकर ही पुनः जाने के मार्ग से ही अपने नियत स्थान जाग्रत् अवस्था में ही लौट आता है ॥३४॥

वक्तृत्वसामर्थ्याभावाद्भीतवानज्ञानाद्वा। किं तर्हि, मेधावी राजा सर्वेभ्यो मा मामन्तेभ्यः प्रश्ननिर्णयावसानेभ्य **उदरौत्सीदा**वृणोदवरोधं कृतवानित्यर्थः। यद्यन्मया निर्णीतं प्रश्नरूपं विमोक्षार्थं तत्तदेकदेशत्वेनैव कामप्रश्नस्य गृहीत्वा पुनः पुनर्मां पर्यनुयुङ्क्त एव, मेधावित्वादित्येतद्भयकारणं सर्वं मदीयं विज्ञानं कामप्रश्नव्याजेनोपादित्सतीति ॥३३॥

अत्र विज्ञानमयः स्वयं ज्योतिरात्मा स्वप्ने प्रदर्शितः। स्वप्नान्तबुद्धान्तसंचारेण कार्यकरणव्यतिरिक्तत्वम्। कामकर्मप्रविवेकश्चासङ्गतया महामत्स्यदृष्टान्तेन प्रदर्शितः। पुनश्चाविद्याकार्यं स्वप्न एवैनं घ्नन्तीवेत्यादिना प्रदर्शितम्। अर्थादविद्यायाः सतत्त्वं निर्धारितमतद्धर्माध्यारोपणरूपत्वमनात्मधर्मत्वं च। तथा विद्यायाश्च कार्यं प्रदर्शितं सर्वात्मभावः स्वप्न एव प्रत्यक्षतः सर्वोऽस्मीति मन्यते, सोऽस्य परमो लोक इति। तत्र च सर्वात्मभावः स्वभावोऽस्यैवमविद्याकामकर्मादिसर्वसंसारधर्मसंबन्धातीतं रूपमस्य साक्षात्सुषुप्ते गृह्यत इत्येतद्विज्ञापितं स्वयं ज्योतिरात्मैष परम आनन्दः। एष विद्याया विषयः। स एष परमः संप्रसादः सुखस्य च परा काष्ठेत्येतदेवमन्तेन ग्रन्थेन व्याख्यातम्। तच्चैतत्सर्वं विमोक्षपदार्थस्य दृष्टान्तभूतं बन्धनस्य च। ते चैते मोक्षबन्धने सहेतुके सप्रपञ्चे निर्दिष्टे विद्याविद्याकार्ये तत्सर्वं दृष्टान्तभूतमेवेति तद्दार्ष्टान्तिकस्थानीये मोक्षबन्धने सहेतुके कामप्रश्नार्थभूते त्वया वक्तव्ये इति पुनः पर्यनुयुङ्क्ते जनकोऽत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहीति।

मरणासन्न की दशा।

तद्यथाऽनः सुसमाहितमुत्सर्जद्यायादेवमेवायꣳ शारीर आत्मा प्राज्ञेनाऽऽत्मनाऽन्वारूढ उत्सर्जन्याति अत्रैतदूर्ध्वोच्छ्वासी भवति॥ ३५॥

लोक में जैसे बहुत बोझ से भरा हुआ छकड़ा चलते शब्द करता हुआ चलता है, वैसे ही यह शरीरी आत्मा स्वयंप्रकाश परमात्मा से प्रकाशित हो शब्द करता हुआ जाता है, जबकि यह ऊर्ध्व श्वास लेता हुआ लिङ्गोपाधिक मर्मस्थानों को छोड़ने लगता है॥३५॥

तत्र महामत्स्यवत्स्वप्नबुद्धान्तावसङ्गः संचरत्येक आत्मा स्वयं ज्योतिरित्युक्तम्। यथा चासौ कार्यकरणानि मृत्युरूपाणि परित्यजन्नुपाददानश्च महामत्स्यवत्स्वप्नबुद्धान्तावनुसंचरति, तथा जायमानो म्रियमाणश्च तैरेव मृत्युरूपैः संयुज्यते वियुज्यते च। उभौ लोकावनुसंचरतीति संचरणं स्वप्नबुद्धान्तानुसंचारस्य दार्ष्टान्तिकत्वेन सूचितम्। तदिह विस्तरेण सनिमित्तं संचरणं वर्णयितव्यमिति तदर्थोऽयमारम्भः। तत्र च बुद्धान्तात्स्वप्नान्तमयमात्माऽनुप्रवेशितः। तस्मात्संप्रसादस्थानं मोक्षदृष्टान्तभूतम्। ततः प्रच्याव्य बुद्धान्ते संसारव्यवहारः प्रदर्शयितव्य इति तेनाऽस्य संबन्धः। **स वै** बुद्धान्तात्स्वप्नान्तक्रमेण संप्रसन्न **एष एतस्मिन्**संप्रसादे स्थित्वा ततः पुनरीषत्प्रच्युतः स्वप्नान्ते **रत्वा चरित्वे**त्यादि पूर्ववद्**बुद्धान्तायैवाऽऽद्रवति**॥३४॥

इत आरभ्यास्य संसारो वर्ण्यते। यथाऽयमात्मा स्वप्नान्ताद्बुद्धान्तमागत एवमयमस्माद्देहाद्देहान्तरं प्रतिपत्स्यत इत्याहात्र दृष्टान्तम्। **तत्तत्र यथा** लोके **ऽनः** शकटं **सुसमाहितं** सुष्ठु भृशं वा समाहितं भाण्डोपस्करणेनोलूखलमुसलशूर्पपिठरादिनाऽन्नाद्येन संपन्नं संभारेणाऽऽक्रान्तमित्यर्थः। तथा भाराक्रान्तं **सदुत्सर्जच्छब्दं** कुर्वद्यथा **यायाद्**गच्छेच्छाकटिकेनाधिष्ठितं सत्। **एवमेव** यथोक्तो दृष्टान्तो**ऽयं शारीरः** शरीरे भवः। कोऽसौ? **आत्मा** लिङ्गोपाधिः। यः स्वप्नबुद्धान्ताविव जन्ममरणाभ्यां पाप्मसंसर्गवियोगलक्षणाभ्यामिहलोकपरलोका-

ऊर्ध्व श्वास का कारण निगच्छति

स यत्रायमणिमानं न्येति जरया वोपतपता वाऽणि-मानं निगच्छति तद्यथाऽऽम्रं वोदुम्बरं वा पिप्पलं वा

वह यह हस्त-पादादि अवयव वाला देह वृद्धावस्थादि कतिपय कारणों से जब कृशता को प्राप्त होता है, तब जैसे आम, गूलर, पीपल के फल बन्धन से छूट जाते हैं, ठीक वैसे ही यह शारीर पुरुष भी इन अंगों से छूटकर पुनः जिस मार्ग से आया था; उसी

वनुसंचरति। यस्योत्क्रमणमनु प्राणाद्युत्क्रमणं स **प्राज्ञेन परेणाऽऽत्मना** स्वंयज्योतिःस्वभावे**नान्वारूढो**ऽधिष्ठितोऽवभास्यमानः। तथा चोक्तमात्मनैवायं ज्योतिषाऽऽस्ते पल्ययत इति। **उत्सर्जन्याति** तत्र चैतन्यात्मज्योतिषा भाष्ये लिङ्गे प्राणप्रधाने गच्छति सति तदुपाधिरप्यात्मा गच्छतीव। तथाच श्रुत्यन्तरम्— "कस्मिन्न्वहम्" इत्यादि "ध्यायतीव" इति च। अत एवोक्तं प्राज्ञेनाऽऽत्मनाऽन्वारूढ इति। अन्यथा प्राज्ञेनैकीभूतः शकटवत्कथमुत्सर्जन्याति।

तेन लिङ्गोपाधिरात्मोत्सर्जन्मर्मसु निकृत्यमानेषु दुःखवेदनयाऽऽर्तः शब्दं कुर्वन्यातिगच्छति। तत्कस्मिन्काल इति? उच्यते— यत्रैतद्भवति। **एतदिति** क्रिया-विशेषणम्। **ऊर्ध्वोच्छ्वासी** यत्रोर्ध्वोच्छ्वासित्वमस्य **भवती**त्यर्थः। दृश्यमानस्याप्यनुवदनं वैराग्यहेतोः। ईदृशः कष्टः खल्वयं संसारः। येनोत्क्रान्तिकाले मर्मसूत्कृत्यमानेषु स्मृतिलोपो दुःखवेदनार्तस्य पुरुषार्थसाधनप्रतिपत्तौ चासामर्थ्यं परवशीकृत-चित्तस्य। तस्माद्यावदियमवस्था नाऽऽगमिष्यति तावदेव पुरुषार्थसाधनकर्तव्यतायामप्रमत्तो भवेदित्याह कारुण्याच्छ्रुतिः॥३५॥

तदस्योर्ध्वोच्छ्वासित्वं कस्मिन्काले किंनिमित्तं कथं किमर्थं वा स्यादित्येतदुच्यते— **सोऽयं** प्राकृतः शिरःपाण्यादिमान्पिण्डो **यत्र** यस्मिन्काले**ऽणिमानमणो**र्भावमणुत्वं कार्श्यमित्यर्थः। **न्येति** निगच्छति। किंनिमित्तं **जरया वा** स्वयमेव कालपक्वफलवज्जीर्णः कार्श्यं गच्छति। उपतपतीत्युपतपञ्ज्वरादिरोगस्तेनो**पतपता वा**। उपतप्यमानो हि रोगेण विषमाग्नितयाऽन्नं भुक्तं न जरयति ततो-

बन्धनात्प्रमुच्यत एवमेवायं पुरुष एभ्योऽङ्गेभ्यः संप्रमुच्य पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति प्राणायैव॥३६॥

मार्ग से (अपने कर्मानुसार यथासंभव) प्रत्येक योनि में प्राणदि की अभिव्यक्ति के लिये चला जाता है (क्योंकि प्राणादि की विशेषाभिव्यक्ति के बिना कर्मफलभेग का होना सम्भव नहीं है)॥३६॥

ऽन्नरसेनानुपचीयमानः पिण्डः कार्श्यमापद्यते तदुच्यत **उपतपता वेति**। **अणिमानं निगच्छति**। यदाऽत्यन्तकार्श्यं प्रतिपन्नो जरादिनिमित्तैस्तदोर्ध्वोच्छ्वासी भवति। यदोर्ध्वोच्छ्वासी, तदा भृशाहितसंभारशकटवदुत्सर्जन्याति। जराभिभवो रोगादिपीडनं कार्श्यापत्तिश्च शरीरवतोऽवश्यंभाविन एतेऽनर्था इति वैराग्यायेदमुच्यते।

यदाऽसावुत्सर्जन्याति, तदा कथं शरीरं विमुञ्चतीति दृष्टान्त उच्यते— **तत्त्र यथाऽऽम्रं वा फलमुदुम्बरं वा फलं पिप्पलं वा** फलम्। विषमानेकदृष्टान्तोपादानं मरणस्यानियतनिमित्तत्वख्यापनार्थम्। अनियतानि हि मरणस्य निमित्तान्यसंख्यातानि च। एतदपि वैराग्यार्थमेव। यस्मादयमनेकमरणनिमित्तवांस्तस्मात्सर्वदा मृत्योरास्ये वर्तत इति। बन्धनाद्बध्यते येन वृन्तेन सह स बन्धनकारणो रसो यस्मिन्वा बध्यत इति वृन्तमेवोच्यते बन्धनं तस्माद्रसाद्वृन्ताद्वा **बन्धनात्प्रमुच्यते** वाताद्यनेकनिमित्तमेव**मेवायं पुरुषो** लिङ्गात्मा लिङ्गोपाधि**रेभ्योऽङ्गेभ्यश्**चक्षुरादिदेहावयवेभ्यः **संप्रमुच्य** सम्यङ्निर्लेपेन प्रमुच्य। न सुषुप्तगमनकाल इव प्राणेन रक्षन्। किं तर्हि सह वायुनोपसंहृत्य **पुनः प्रतिन्यायं** पुनःशब्दात्पूर्वमप्ययं देहाद्देहान्तरमसकृद्गतवान्यथा स्वप्नबुद्धान्तौ पुनः पुनर्गच्छति, तथा पुनः **प्रतिन्यायं** प्रतिगमनं यथागतमित्यर्थः। **प्रतियोनि** योनिं योनिं प्रति कर्मश्रुतादिवशा**दाद्रवति**। किमर्थम्? **प्राणायैव** प्राणव्यूहायैवेत्यर्थः। सप्राण एव हि गच्छति ततः प्राणायैवेति विशेषणमनर्थकम्। प्राणव्यूहाय हि गमनं देहाद्-

@ शरीरेश्व स्वार्थे कन् शारीरक "तनु विन वैद न भजन"

(शरीरान्तर में जाने का प्रकार)

तद्यथा राजानमायान्तमुग्राः प्रत्येनसः सूतग्रामण्यो-ऽन्नैः पानैरावसथैः प्रतिकल्पन्तेऽयमायात्ययमागच्छ-तीत्येवं हैवंविदꣳ सर्वाणि भूतानि प्रतिकल्पन्त इदं ब्रह्माऽऽयातीदमागच्छतीति ॥३७ ॥

और जैसे अपने राष्ट्र में आते हुए राज्याभिषिक्त राजा की उग्रकर्मा एवं (चौरादि को दण्ड देने के लिये) पापकर्म में नियुक्त सूत और गाँव के नेता लोग अन्नदान तथा निवासस्थान भोग्यवस्तु को तैयार रखकर "ये आये, ये आये" इस प्रकार कहते हुए प्रतीक्षा करते हैं, वैसे ही "यह ब्रह्म आता है, यह आता है" इस प्रकार कहते हुए इस कर्मफल के ज्ञाता की सभी भूत प्रतीक्षा करते हैं॥३७॥

देहान्तरं प्रति। तेन ह्यस्य कर्मफलोपभोगार्थसिद्धिर्न प्राणसत्तामात्रेण। तस्मात्तादर्थ्यार्थं युक्तं विशेषणं प्राणव्यूहायेति॥३६॥

तत्रास्येदं शरीरं परित्यज्य गच्छतो नान्यस्य देहान्तरस्योपादाने सामर्थ्यमस्ति देहेन्द्रियवियोगात्। न चान्येऽस्य भृत्यस्थानीया गृहमिव राज्ञे शरीरान्तरं कृत्वा प्रतीक्षमाणा विद्यन्ते। अथैवं सति कथमस्य शरीरान्तरोपादानमिति। उच्यते— सर्वं ह्यस्य जगत्स्वकर्मफलोपभोगसाधनत्वायोपात्तं स्वकर्मफलोपभोगाय चायं प्रवृत्तो देहाद्देहान्तरं प्रतिपित्सुस्तस्मात्सर्वमेव जगत्स्वकर्मणा प्रयुक्तं तत्कर्मफलोपभोग-योग्यं साधनं कृत्वा प्रतीक्षत एव। "कृतं लोकं पुरुषोऽभिजायते" इति श्रुतेः। यथा स्वप्नाज्जागरितं प्रतिपित्सोः।

तत्कथमिति लोकप्रसिद्धो दृष्टान्त उच्यते—

तत्तत्र यथा राजानं राज्याभिषिक्त**मायान्तं** स्वराष्ट्र **उग्रा** जाति-विशेषाः क्रूरकर्माणो वा प्रत्येनसः प्रत्येनसि पापकर्मणि नियुक्ताः प्रत्येनसस्तस्करा-दिदण्डनादौ नियुक्ताः सूताश्चग्रामण्यश्च **सूतग्रामण्यः** सूता वर्णसंकरजातिविशेषा ग्रामण्यो ग्रामनेतारस्ते पूर्वमेव राज्ञ आगमनं बुद्ध्वाऽ**न्नै**र्भोज्यभक्ष्यादिप्रकारैः **पानै**र्मदिरादिभि**रावसथैश्च** प्रासादादिभिः**प्रतिकल्पन्ते** निष्पन्नैरेव प्रतीक्षन्तेऽ**यं**

तद्यथा राजानं प्रयियासन्तमुग्राः प्रत्येनसः सूतग्रामण्योऽभिसमायन्त्येवमेवेममात्मानमन्तकाले सर्वे प्राणा अभिसमायन्ति यत्रैतदूर्ध्वोच्छ्वासी भवति॥ ३८ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि चतुर्थाध्यायस्य ज्योतिर्नामतृतीयं ब्राह्मणम् ॥३ ॥

जैसे जाने के लिये तैयार हुए राजा के सामने होकर उग्रकर्मा और पापकर्म में नियुक्त सूत एवं गाँव के मुखिया लोग एकत्रित हो जाते हैं; वैसे ही जब यह ऊर्ध्व श्वास लेने लगता है, तो अन्त काल में सभी प्राण इस जीवात्मा के सम्मुख होकर इसके साथ जाते हैं, अर्थात् जीव के साथ-साथ चक्षुरादि प्राण भी जाते हैं॥३८॥

॥ इति तृतीयं ब्राह्मणम्॥

राजाऽऽयात्ययमागच्छतीत्येवं वदन्तः। यथाऽयं दृष्टान्त **एवं हैवंविदं** कर्मफलस्य वेदितारं संसारिणमित्यर्थः। कर्मफलं हि प्रस्तुतं तदेवंशब्देन परामृश्यते। **सर्वाणि भूतानि** शरीरकर्तृणि करणानुग्रहीतृणि चाऽऽदित्यादीनि तत्कर्मप्रयुक्तानि कृतैरेव कर्मफलोपभोगसाधनैः प्रतीक्षन्ते। **इदं ब्रह्म** भोक्तृ कर्तृ चास्माक**मायाति तथेदमागच्छतीत्येवमेव** कृत्वा प्रतीक्षन्त इत्यर्थः॥३७॥

तमेव जिगमिषुं के सह गच्छन्ति। ये वा गच्छन्ति ते किं तत्क्रियाप्रणुन्ना आहोस्वित्तत्कर्मवशात्स्वयमेव गच्छन्ति परलोकशरीरकर्तृणि च भूतानीति। अत्रोच्यते दृष्टान्तः— **तद्यथा राजानं प्रयियासन्तं** प्रकर्षेण यातुमिच्छन्त**मुग्राः प्रत्येनसः सूतग्रामण्यस्तं** यथा**ऽभिसमायन्त्या**भिमुख्येन समायन्त्येकीभावेन तमभिमुखा आयन्त्यनाज्ञप्ता एव राज्ञा केवलं तज्जिगमिषाभिज्ञाः, **एवमेवेममात्मानं** भोक्तार**मन्तकाले** मरणकाले **सर्वे प्राणा** वागादयो**ऽभिसमायन्ति। यत्रैतदूर्ध्वोच्छ्वासी भवतीति** व्याख्यातम्॥३८॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये चतुर्थाध्यायस्य ज्योतिर्नामतृतीयं ब्राह्मणम्॥३॥

॥ इत्येकोनविंशाह्निकम्॥१९॥

❀❀❀

। अथ चतुर्थाध्यायस्य शारीरनाम चतुर्थं ब्राह्मणम्।

स यत्रायमात्माऽबल्यं न्येत्य संमोहमिव न्येत्यथैन-मेते प्राणा अभिसमायन्ति स एतास्तेजोमात्राः समभ्याददानो हृदयमेवान्ववक्रामति स यत्रैष चाक्षुषः पुरुषः पराङ्पर्यावर्ततेऽथारूपज्ञो भवति॥१॥

वह आत्मा जब दुर्बलता को प्राप्त हो मानो संमूढता (विवेकाभाव) को प्राप्त होता है, तब ये वागादि प्राण सामने एकत्रित हो जाते हैं, वह इन प्राणों की तेजोमात्रा को सम्यक् प्रकार से लेकर हृदय में ही अभिव्यक्त विज्ञान वाला होता है। जब यह चाक्षुष पुरुष सभी ओर से पृथक् हो जाता है, तब यह मरणासन्न पुरुष रूपादि ज्ञान से हीन हो जाता है॥१॥

स यत्रायमात्मा। संसारोपवर्णनं प्रस्तुतम्। तत्रायं पुरुष एभ्योऽङ्गेभ्यः संप्रमुच्येत्युक्तम्। तत्संप्रमोक्षणं कस्मिन्काले कथं वेति सविस्तरं संसरणं वर्णयितव्य-मित्यारभ्यते—

सोऽयमात्मा प्रस्तुतो **यत्र** यस्मिन्काले**ऽबल्य**मबलभावं **नि एत्य** गत्वा। यद्देहस्य दौर्बल्यं तदात्मन एव दौर्बल्यमित्युपचर्यतेऽबल्यं न्येत्येति। न ह्यसौ स्वतोऽमूर्तत्वादबलभावं गच्छति। तथा **संमोहमिव** संमूढता संमोहो विवेकाभावः संमूढतामिव **न्येति** निगच्छति। न चास्य स्वतः संमोहोऽसंमोहो वाऽस्ति नित्यचैतन्यज्योतिःस्वभावत्वात्। तेनेवशब्दः संमोहमिव न्येतीति। उत्क्रान्तिकाले हि करणोपसंहारनिमित्तो व्याकुलीभाव आत्मन इव लक्ष्यते लौकिकैः। तथा च वक्तारो भवन्ति संमूढः संमूढोऽयमिति।

अथवोभयत्रेवशब्दप्रयोगो योज्योऽबल्यमिव न्येत्य संमोहमिव न्येतीति। उभयस्य परोपाधिनिमित्तत्वाविशेषात्। समानकर्तृकनिर्देशाच्च। **अथा**स्मिन्काल **एते प्राणा** वागादय **एनमात्मानमभिसमायन्ति** तदाऽस्य शारीरस्याऽऽत्मनोऽङ्गेभ्यः संप्र-

लिङ्ग देह में इन्द्रियों के लय और उत्क्रमण

united with subtle body

एकीभवति न पश्यतीत्याहुरेकी भवति न जिघ्रती-त्याहुरेकीभवति न रसयत इत्याहुरेकीभवति न

नेत्रेन्द्रिय लिङ्गात्मा से जब एक रूप हो जाती है, तब लोक कहते हैं, अब यह देखता नहीं। घ्राणेन्द्रिय जब एक रूप हो जाती है, तब कहते हैं कि यह सूंघता नहीं। जब रसनेन्द्रिय

मोक्षणम्। कथं पुनः संप्रमोक्षणं, केन वा प्रकारेणाऽऽत्मानमभिसमायन्तीति। उच्यते— **स आत्मैतास्तेजोमात्रास्**तेजसो मात्रास्तेजोमात्रास्तेजोऽवयवा रूपादिप्रकाशकत्वाच्चक्षुरादीनि करणानीत्यर्थः। ता एता **समभ्याददानः** सम्यङ्निर्लेपेनाभ्याददान आभिमुख्येनाऽऽददानः संहरमाणस्तत्स्वप्नापेक्षया विशेषणं समिति। न तु स्वप्ने निर्लेपेन सम्यगादानम्। अस्ति त्वादानमात्रम्। ''गृहीता वाग्गृहीतं चक्षुः'' ''अस्य लोकस्य सर्वावतो मात्रामपादाय'' ''शुक्रमादाय'' इत्यादिवाक्येभ्यः।

हृदयमेव पुण्डरीकाकार**मन्ववक्रामत्यन्**वागच्छति, हृदयेऽभिव्यक्त-विज्ञानो भवतीत्यर्थः। बुद्ध्यादिविक्षेपोसंहारे सति। न हि तस्य स्वतश्चलनं विक्षेपोपसंहारादिविक्रिया वा। ध्यायतीव लेलायतीवेत्युक्तत्वात्। बुद्ध्याद्युपाधिद्वारैव हि सर्वविक्रियाऽध्यारोप्यते तस्मिन्। कदा पुनस्तस्य तेजोमात्राभ्यादानमिति। उच्यते— **स यत्रैष** चक्षुषि भव**श्चाक्षुषः पुरुष** आदित्यांशो भोक्तुः कर्मणा प्रयुक्तो यावद्देहधारणं तावच्चक्षुषोऽनुग्रहं कुर्वन्वर्तते। मरणकाले त्वस्य चक्षुरनुग्रहं परित्यजति, स्वमादित्यात्मानं प्रतिपद्यते।

तदेतदुक्तम् ''यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्याग्निं वागप्येति वातं प्राणश्चक्षुरादित्यम्'' इत्यादि पुनर्देहग्रहणकाले संश्रयिष्यन्ति। तथा स्वप्स्यतः प्रबुध्यतश्च। तदेतदाह— चाक्षुषः पुरुषो यत्र यस्मिन्काले **पराङ्पर्यावर्तते** परि समन्तात्पराङ्गवर्तत इति। **अथात्रा**स्मिन्काले**ऽरूपज्ञो भवति** मुमूर्षू रूपं न जानाति तदाऽयमात्मा चक्षुरादितेजोमात्राः समभ्याददानो भवति स्वप्नकाल इव॥१॥

एकीभवति करणजातं स्वेन लिङ्गात्मना। तदैनं पार्श्वस्था **आहुर्न पश्यतीति।** तथा घ्राणदेवतानिवृत्तौ घ्राणमेकीभवति लिङ्गात्मना। तदा **न**

वदतीत्याहुरेकीभवति न शृणोतीत्याहुरेकीभवति न मनुत इत्याहुरेकीभवति न स्पृशतीत्याहुरेकीभवति न विजानातीत्याहुस्तस्य हैतस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतते तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो वाऽन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यस्तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तꣳ सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति सविज्ञानो भवति सविज्ञानमेवान्ववक्रामति। तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च॥२॥

एक रूप हो जाती है, तब यह कहते हैं कि यह चखता नहीं। वागिन्द्रिय जब एक रूप हो जाती है, तब कहते हैं कि यह बोलता नहीं। श्रोत्रेन्द्रिय जब एक रूप हो जाती है, तब यह कहते हैं कि यह सुनता नहीं। जब मन एक रूप हो जाता है, तब कहते हैं कि यह मनन करता नहीं। जब त्वगिन्द्रिय एकरूप हो जाती है, तब कहते हैं कि यह स्पर्श करता नहीं। जब बुद्धि लिङ्गात्मा से एक रूप हो जाती है, तब कहते हैं, यह जानता नहीं। उस समय इस हृदय का बाहर जाने वाला मार्ग अत्यन्त प्रकाशित होने लगता है। उसी से यह आत्मा नेत्र द्वारा, शिर द्वारा या शरीर के किसी अन्य भाग के द्वारा बाहर निकल जाता है। उसके निकलते ही उसके साथ प्राण भी निकल जाता है और प्राण के निकलने पर सभी इन्द्रियाँ निकल जाती हैं। उस समय यह जीव विशेष विज्ञान वाला होता है और विज्ञानयुक्त प्रदेश को ही जाता है। उस समय इसके साथ-साथ ज्ञान, कर्म और पूर्वानुभवजन्य संस्कार जाता है॥२॥

जिघ्रतीत्याहुः। समानमन्यत्। जिह्वायां सोमो वरुणो वा देवता तन्निवृत्त्यपेक्षया **न रसयत इत्याहुः**। तथा **न वदति न शृणोति न मनुते न स्पृशति न विजानातीत्याहुः**। तदोपलक्ष्यते देवतानिवृत्तिः करणानां च हृदये एकीभावः। तत्र हृदय उपसंहृतेषु करणेषु योऽन्तर्व्यापारः स कथ्यते—**तस्य हैतस्य** प्रकृतस्य **हृदयस्य** हृदयच्छिद्रस्येत्येतत्। **अग्रं** नाडीमुखं निर्गमनद्वारं **प्रद्योतते** स्वप्नकाल इव स्वेन भासा तेजोमात्रादानकृतेन स्वेनैव ज्योतिषाऽऽत्मनैव च।

तेनाऽऽत्मज्योतिषा **प्रद्योतेन** हृदयाग्रेणै**ष आत्मा** विज्ञानमयो लिङ्गोपाधि-र्निर्गच्छति **निष्क्रामति**। तथाऽऽथर्वणे "कस्मिन्वहमुत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन्वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामीति स प्राणमसृजत" इति।

तत्र चाऽऽत्मचैतन्यज्योतिः सर्वदाऽभिव्यक्ततरम्। तदुपाधिद्वारा ह्यात्मनि जन्ममरणगमनागमनादिसर्वविक्रियालक्षणः संव्यवहारः। तदात्मकं हि द्वादशविधं करणं बुद्ध्यादि तत्सूत्रं तज्जीवनं सोऽन्तरात्मा जगतस्तस्थुषश्च। तेन प्रद्योतेन हृदयाग्रप्रकाशेन निष्क्रममाणः केन मार्गेण निष्क्रामतीति। उच्यते—**चक्षुष्टो वा**। आदित्यलोकप्राप्तिनिमित्तं ज्ञानं कर्म वा यदि स्यात्। **मूर्ध्नो वा** ब्रह्मलोक-प्राप्तिनिमित्तं चेत्। **अन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यः** शरीरावयवेभ्यो यथाकर्म यथाश्रुतम्। **तं** विज्ञानात्मान**मुत्क्रामन्तं** परलोकाय प्रस्थितं परलोकायोद्भूताकूत-मित्यर्थः। **प्राणः** सर्वाधिकारिस्थानीयो राज्ञ इवा**नूत्क्रामति**। तं च प्राणमनूत्क्रान्तं वागादयः सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति।

यथाप्रधानान्वाचिख्यासेयं न तु क्रमेण सार्थवद्गमनमिह विवक्षितम्। तदैष आत्मा सविज्ञानो भवति स्वप्न इव विशेषविज्ञानवान्भवति कर्मवशान्न स्वतन्त्रः। स्वातन्त्र्येण हि सविज्ञानत्वे सर्वः कृतकृत्यः स्यात्, नैव तु तल्लभ्यते। अत एवाऽऽह व्यासः "सदा तद्भावभावितः" इति। कर्मणा तूद्भाव्यमानेनान्तः-करणवृत्तिविशेषाश्रितवासनात्मकविशेषविज्ञानेन सर्वो लोक एतस्मिन्काले सविज्ञानो भवति। सविज्ञानमेव च गन्तव्यमन्ववक्रामत्यनुगच्छति विशेषविज्ञानोद्भासितमेवेत्यर्थः। तस्मात्तत्काले स्वातन्त्र्यार्थं योगधर्मानुसेवनं परिसंख्यानाभ्यासश्च विशिष्टपुण्योपचयश्च श्रद्दधानैः परलोकार्थिभिरप्रमत्तैः कर्तव्य इति।

सर्वशास्त्राणां यत्नतो विधेयोऽर्थो दुश्चरिताच्चोपरमणम्। न हि तत्काले शक्यते किंचित्संपादयितुम्। कर्मणा नीयमानस्य स्वातन्त्र्याभावात्। "पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन"त्युक्तम्। एतस्य ह्यनर्थस्योपशमोपायविधानाय सर्वशाखोपनिषदः प्रवृत्ताः। न हि तद्विहितोपायानुसेवनं मुक्त्वाऽऽत्यन्तिकोऽस्यानर्थस्योपशमोपायोऽस्ति। तस्मादत्रैवोपनिषद्विहितोपाये यत्नपरैर्भवितव्यमित्येष प्रकरणार्थः।

शकटवत्संभृतसंभार उत्सर्जन्यातीत्युक्तं, किं पुनस्तस्य परलोकाय प्रवृत्तस्य पथ्यदनं शाकटिकसंभारस्थानीयं गत्वा वा परलोकं यद्भुङ्क्ते शरीराद्यारम्भकं च यत्तत्किमिति। उच्यते—**तं** परलोकाय गच्छन्तमात्मानं **विद्याकर्मणी** विद्या च कर्म च विद्याकर्मणी विद्या सर्वप्रकारा विहिता प्रतिषिद्धा चाविहिताऽप्रतिषिद्धा च। तथा कर्म विहितं प्रतिषिद्धं चाविहितमप्रतिषिद्धं च **समन्वारभेते** सम्यगन्वारभेते अन्वालभेते अनुगच्छतः **पूर्वप्रज्ञा** च पूर्वानुभूतविषया प्रज्ञा पूर्वप्रज्ञाऽतीतकर्मफलानुभववासनेत्यर्थः।

सा च वासनाऽपूर्वकर्मारम्भे कर्मविपाके चाङ्गं भवति। तेनासावप्यन्वारभते। न हि तथा वासनया विना कर्म कर्तुं फलं चोपभोक्तुं शक्यते। न ह्यनभ्यस्ते विषये कौशलमिन्द्रियाणां भवति। पूर्वानुभववासनाप्रवृत्तानां त्विन्द्रियाणामिहाभ्यासमन्तरेण कौशलमुपपद्यते। दृश्यते च केषांचित्कासुचित्क्रियासु चित्रकर्मादिलक्षणासु विनैवेहाभ्यासेन जन्मत एव कौशलं कासुचिदत्यन्तसौकर्ययुक्तास्वप्यकौशलं केषांचित्। तथा विषयोपभोगेषु स्वभावत एव केषांचित्कौशलाकौशले दृश्येते। तच्चैतत्सर्वं पूर्वप्रज्ञोद्भवानुद्भवनिमित्तम्। तेन पूर्वप्रज्ञया विना कर्मणि वा फलोपभोगे वा न कस्यचित्प्रवृत्तिरुपपद्यते। तस्मादेतत्त्रयं शाकटिकसंभारस्थानीयं परलोकपथ्यदनं विद्याकर्मपूर्वप्रज्ञाख्यम्। यस्माद्विद्याकर्मणी पूर्वप्रज्ञा च देहान्तरप्रतिपत्त्युपभोगसाधनं, तस्माद्विद्याकर्मादि शुभमेव समाचरेद्यथेष्टदेहसंभोगोपभोगौ स्यातामिति प्रकरणार्थः॥२॥

एवं विद्यादिसंभारसंभृतो देहान्तरं प्रतिपद्यमानो मुक्त्वा पूर्वं देहं पक्षीव वृक्षान्तरं देहान्तरं प्रतिपद्यते। अथवाऽऽतिवाहिकेन शरीरान्तरेण कर्मफलजन्मदेशं नीयते। किंचात्रस्थस्यैव सर्वगतानां करणानां वृत्तिलाभो भवत्याहोस्विच्छरीरस्थस्य संकुचितानि करणानि मृतस्य भिन्नघटप्रदीपप्रकाशवत्सर्वतो व्याप्य पुनर्देहान्तरारम्भे संकोचमुपगच्छन्ति। किंच मनोमात्रं वैशेषिकसमय इव देहान्तरारम्भदेशं प्रति गच्छति, किंवा कल्पनान्तरमेव वेदान्तसमय इति। उच्यते— "त एते सर्व एव

तद्यथा तृणजलायुका तृणस्यान्तं गत्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्याऽऽत्मानमुपसꣳहरत्येवमेवायमात्मेदꣳ शरीरं निहत्याविद्यां गमयित्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्याऽऽत्मानमुपसꣳहरति॥३॥

जैसे घास पर चलने वाले तृणजलोंका नामक कीड़ा एक तृण के अन्तिम भाग पर पहुँच कर दूसरे तृण रूप आश्रय को पकड़कर अपने शरीर को सिकोड़ लेता है, वैसे ही यह जीवात्मा इस वर्तमान देह को मारकर अचेतनावस्था को प्राप्त कराकर दूसरे शरीर रूप आश्रय का आधार ले अपना उपसंहार कर लेता है, अर्थात् उसी देह में आत्मभाव करने लगता है। यही देहान्तर के आरम्भ की विधि है॥३॥

समा सर्वेऽनन्ताः'' इति श्रुतेः सर्वात्मकानि तावत्करणानि। सर्वात्मकप्राणसंश्रयाच्च। तेषामाध्यात्मिकाधिभौतिकपरिच्छेदः प्राणिकर्मज्ञानभावनानिमित्तः। अतस्तद्वशात्स्वभावतः सर्वगतानामनन्तानामपि प्राणानां कर्मज्ञानवासनानुरूपेणैव देहान्तरारम्भवशात्प्राणानां वृत्तिः संकुचति विकसति च। तथा चोक्तम् ''समः प्लुषिणा समो मशकेन समो नागेन सम एभिस्त्रिभिर्लोकैः समोऽनेन सर्वेण'' इति। तथा चेदं वचनमनुकूलम्—''स यो हैताननन्तानुपास्ते'' इत्यादि ''तं यथा यथोपासते'' इति च।

तत्र वासना पूर्वप्रज्ञाख्या विद्याकर्मतन्त्रा जलूकावत्संततैव स्वप्नकाल इव कर्मकृतं देहान्तरमुपस्पृशति हृदयस्थैव पुनर्देहान्तरं पूर्वाश्रयं विमुञ्चतीत्येतस्मिन्नर्थे दृष्टान्त उपादीयते—

तत्तत्र देहान्तरसंचार इदं निदर्शनम्। **यथा** येन प्रकारेण **तृणजलायुका तृणस्यान्तम**वसानं **गत्वा** प्राप्यान्यं तृणान्तर**माक्रममाक्रम्यत** इत्याकमस्त**माक्रममाक्रम्या**ऽऽश्रित्याऽऽ**त्मान**मात्मनः पूर्वावयव**मुपसंहरत्य**न्त्यावयवस्थाने। **एवमेवायमात्मा** यः प्रकृतः संसारी**दं शरीरं** पूर्वोपात्तं **निहत्य**

तद्यथा पेशस्कारी पेशसो मात्रामपादायान्यन्नवतरं कल्याणतरꣳ रूपं तनुत एवमेवायमात्मेदꣳ शरीरं निहत्याविद्यां गमयित्वाऽन्यन्नवतरं कल्याणतरꣳ रूपं कुरुते पित्र्यं वा गान्धर्वं वा दैवं वा प्राजापत्यं वा ब्राह्मं वाऽन्येषां वा भूतानाम् ॥४॥

जैसे सोनार सोने की मात्रा को लेकर उससे नूतन और अत्यन्त सुन्दर रूप की रचना करता है, वैसे ही यह जीवात्मा इस वर्तमान देह को नष्ट कर केवल अचेतनावस्था को प्राप्त कराकर दूसरे पितर, गन्धर्व, देव, प्रजापति, ब्रह्मा या अन्य प्राणियों के नूतन तथा अत्यन्त सुन्दर रूप की रचना कर लेता है॥४॥

स्वप्नं प्रतिपित्सुरिव पातयित्वाऽ**विद्यां गमयित्वा**ऽचेतनं कृत्वा स्वात्मोपसंहारेणा**न्यमाक्रमं** तृणान्तरमिव तृणजलूका शरीरान्तरं गृहीत्वा प्रसारितया वासनया**ऽऽत्मानमुपसंहरति**। तत्राऽऽत्मभावमारभते यथा स्वप्ने देहान्तरमारभते स्वप्नदेहान्तरस्थ इव शरीरारम्भदेश आरभ्यमाणे देहे जङ्गमे स्थावरे वा।

तत्र च कर्मवशात्करणानि लब्धवृत्तीनि संहन्यन्ते। बाह्यं च कुशमृत्तिकास्थानीयं शरीरमारभ्यते। तत्र च करणव्यूहमपेक्ष्य वागाद्यनुग्रहायाग्न्यादिदेवताः संश्रयन्ते। एष देहान्तरारम्भविधिः ॥३॥

तत्र देहान्तरारम्भे नित्योपात्तमेवोपादानमुपमृद्योपमृद्य देहान्तरमारभत आहोस्विदपूर्वमेव पुनः पुनरादत्त इति। अत्रोच्यते दृष्टान्तः—

तत्तत्रैतस्मिन्नर्थे। **यथा पेशस्कारी** पेशः सुवर्णं तत्करोतीति पेशस्कारी सुवर्णकारः **पेशसः** सुवर्णस्य **मात्रामपादाया**पच्छिद्य गृहीत्वाऽ**न्य**त्पूर्वस्माद्रचनाविशेषान्नवान्नवतरमभिनवतरं कल्याणात्**कल्याणतरं रूपं तनुते** निर्मिनोति। **एवमेवायमात्मे**त्यादि पूर्ववत्।

नित्योपात्तान्येव पृथिव्यादीन्याकाशान्तानि पञ्च भूतानि यानि "द्वे वाव

स वा "अयमात्मा ब्रह्म" विज्ञानमयो मनोमयः प्राणमयश्चक्षुर्मयः श्रोत्रमयः पृथिवीमय आपोमयो वायुमय आकाशमयस्तेजोमयोऽतेजोमयः काममयोऽकाममयः क्रोधमयोऽक्रोधमयो धर्ममयोऽधर्ममयः सर्वमयस्तद्यदेतदिदंमयोऽदोमय इति यथाकारी यथाचारी तथा भवति साधुकारी साधुर्भवति पाप-

वह यह आत्मा ही ब्रह्म है। वह विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय, चक्षुर्मय, श्रोत्रमय, पृथिवीमय, जलमय, वायुमय, आकाशमय, तेजोमय, अतेजोमय, काममय, अकाममय, क्रोधमय, अक्रोधमय, धर्ममय, अधर्ममय और सर्वमय है (अर्थात् बुद्धि, मन, प्राण, नेत्रादि, पृथिव्यादि एवं अन्तःकरण के कामादि जो विकार हैं, इनमें से जिनके साथ वह तन्मय होता है, उस समय वह तद्रूप ही प्रतीत होने लगता है)। किंबहुना— जो कुछ इदंमय प्रत्यक्ष वस्तु और अदोमय परोक्ष वस्तु है; सब वह ब्रह्म ही है। वह जैसा करने वाला तथा जैसा आचरण वाला होता है, उसके साथ तादात्म्य हुआ वैसा ही प्रतीत होने लगता है। पुरुष शुभ कर्म करते समय उसमें तन्मयता के कारण शुभ होता है और पापकर्मा पुरुष पापी हो जाता है।

ब्रह्मणो रूपे" इति चतुर्थे व्याख्यातानि पेशस्थानीयानि तान्येवोपमृद्योपमृद्य**ान्य-दन्यच्च** देहान्तरं **नवतरं कल्याणतरं रूपं** संस्थानविशेषं देहान्तरमित्यर्थः। **कुरुते पित्र्यं वा** पितृभ्यो हितं पितृलोकोपभोगयोग्यमित्यर्थः। **गान्धर्वं** गन्धर्वाणामुपभोगयोग्यं तथा देवानां **दैवं** प्रजापतेः **प्राजापत्यं** ब्रह्मण इदं **ब्राह्मं वा**। यथाकर्म यथाश्रुत**मन्येषां वा भूतानां** संबन्धि शरीरान्तरं कुरुत इत्यभिसंबध्यते॥४॥

येऽस्य बन्धनसंज्ञका उपाधिभूताः, यैः संयुक्तस्तन्मयोऽयमिति विभाव्यते, ते पदार्थाः पुञ्जीकृत्येहैकत्र प्रतिनिर्दिश्यन्ते—

स वा अयं य एवं संसरत्य**ात्मा ब्रह्मैव** पर एव योऽशनायाद्यतीतो

कारी पापो भवति पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन। अथो खल्वाहुः काममय एवायं पुरुष इति स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते यत्कर्म कुरुते तदभिसंपद्यते ॥५॥

(ब्रह्म स्वरूप को भूल कर कर्म तथा उनके साधनों में तनमयता के कारण ही) पुरुष पुण्य कर्म से पुण्यात्मा होता है और पाप कर्म से पापी होता है। फिर भी कुछ लोग कहते हैं— यह पुरुष काममय है। यह जैसी कामना वाला होता है, वैसा ही संकल्प करता है। जैसे सकंल्प वाला होता है, वैसे ही शरीरादि साधनों से आचरण करता है (अतः ब्रह्म के सर्वमयत्व और संसारित्व में कामना ही कारण है)॥५॥

विज्ञानमयो विज्ञानं बुद्धिस्तेनोपलक्ष्यमाणस्तन्मयः। "कतम आत्मेति योऽयं विज्ञानमयः प्राणेष्वि"ति ह्युक्तम्। **विज्ञानमयो** विज्ञानप्रायो यस्मात्तद्धर्मत्वमस्य विभाव्यते "ध्यायतीव लेलायतीवे"ति। तथा **मनोमयो** मनःसंनिकर्षान्मनोमयः। तथा **प्राणमयः** प्राणः पञ्चवृत्तिस्तन्मयो येन चेतनश्चलतीव लक्ष्यते। तथा **चक्षुर्मयो** रूपदर्शनकाले। एवं **श्रोत्रमयः** शब्दश्रवणकाले। एवं तस्य तस्येन्द्रियस्य व्यापारोद्भवे तत्तन्मयो भवति।

एवं बुद्धिप्राणद्वारेण चक्षुरादिकरणमयः सञ्शरीरारम्भकपृथिव्यादिभूतमयो भवति। तत्र पार्थिवशरीरारम्भे **पृथिवीमयो** भवति। तथा वरुणादिलोकेष्वाप्यशरीरारम्भ **आपोमयो** भवति। तथा वायव्यशरीरारम्भे **वायुमयो** भवति। तथाऽऽकाशशरीरारम्भ **आकाशमयो** भवति। एवमेतानि तैजसानि देवशरीराणि। तेष्वारभ्यमाणेषु तन्मयस्**तेजोमयो** भवति। अतो व्यतिरिक्तानि पश्वादिशरीराणि नरकप्रेतादिशरीराणि चातेजोमयानि तान्यपेक्ष्याऽऽहा**तेजोमय** इति। एवं कार्यकरणसंघातमयः सन्नात्मा प्राप्तव्यं वस्त्वन्तरं पश्यन्निदं मया प्राप्तमदो मया प्राप्तव्यमित्येवं विपरीतप्रत्ययस्तदभिलाषः **काममयो** भवति। तस्मिन्कामे दोषं पश्यतस्तद्विषयाभिलाषप्रशमे चित्तं प्रसन्नमकलुषं शान्तं भवति तन्मयो**ऽकाममयः**।

एवं तस्मिन्विहते कामे केनचित्स कामः क्रोधत्वेन परिणमते, तेन तन्मयो **भवन्क्रोधमयः**। स क्रोधः केनचिदुपायेन निवर्तितो यदा भवति, तदा प्रसन्नमनाकुलं चित्तं सदक्रोध उच्यते तेन तन्मयः। एवं कामक्रोधाभ्यामकामक्रोधाभ्यां च तन्मयो भूत्वा **धर्ममयोऽधर्ममयश्च** भवति। न हि कामक्रोधादिभिर्विना धर्मादिप्रवृत्तिरुपपद्यते।

"यद्यद्धि कुरुते कर्म तत्तत्कामस्य चेष्टितम्"

इति स्मरणात्। धर्ममयोऽधर्ममयश्च भूत्वा **सर्वमयो** भवति। समस्तं धर्माधर्मयोः कार्यं यावत्किंचिद्व्याकृतं, तत्सर्वं धर्माधर्मयोः फलं तत्प्रतिपद्यमानस्तन्मयो भवति।

किं बहुना **तदेतत्सिद्धमस्य यदयमिदंमयो** गृह्यमाणविषयादिमयस्तस्मादय**मदोमयः**। **अद** इति परोक्षं कार्येण गृह्यमाणेन निर्दिश्यते। अनन्ता ह्यन्तःकरणे भावनाविशेषाः। नैव ते विशेषतो निर्देष्टुं शक्यन्ते। तस्मिंस्तस्मिन्क्षणे कार्यतोऽवगम्यन्त इदमस्य हृदि वर्ततेऽदोऽस्येति। तेन गृह्यमाणकार्येणेदंमयतया निर्दिश्यते, परोक्षोऽन्तःस्थो व्यवहारोऽयमिदानी**मदोमय** इति। संक्षेपतस्तु यथा कर्तुं यथा वा चरितुं शीलमस्य सोऽयं **यथाकारी यथाचारी** स **तथा भवति**। करणं नाम नियता क्रिया विधिप्रतिषेधादिगम्या, चरणं नामानियतमिति विशेषः। **साधुकारी साधुर्भवती**ति यथाकारीत्यस्य विशेषणं **पापकारी पापो भवती**ति च यथाचारीत्यस्य।

ताच्छील्यप्रत्ययोपादानादत्यन्ततात्पर्यतयैव तन्मयत्वं न तु तत्कर्ममात्रेणेत्याशङ्क्याऽऽह **पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेने**ति। पुण्यपापकर्ममात्रेणैव तन्मयता स्यान्न तु ताच्छील्यमपेक्षते। ताच्छील्ये तु तन्मयत्वातिशय इत्ययं विशेषः। तत्र कामक्रोधादिपूर्वकपुण्यापुण्यकारिता सर्वमयत्वे हेतुः। संसारस्य कारणं देहाद्देहान्तरसंचारस्य च। एतत्प्रयुक्तो ह्यन्यदन्यद्देहान्तरमुपादत्ते। तस्मात्पुण्यापुण्ये संसारस्य कारणम्। एतद्विषयौ हि विधिप्रतिषेधौ। अत्र शास्त्रस्य साफल्यमिति।

तदेष श्लोको भवति। तदेव सक्तः सह कर्मणैति लिङ्गं मनो यत्र निषक्तमस्य। प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किंचेह करोत्ययम्। तस्माल्लोकात्पुनरैत्यस्मै

उस विषय में यह मन्त्र भी है। इसका मन प्रधान लिङ्गदेह जिसमें अत्यन्त आसक्त होता है; उसमें ही अभिलाषा प्रकट कर कर्म के सहित उसी फल को वह प्राप्त करता है। इस संसार में यह जीव जो कुछ भी करता है; उस कर्म का फल प्राप्त करके उस लोक से कर्म करने के लिए पुनः इस मनुष्यलोक में आ जाता है (क्योंकि यह मनुष्यलोक

अथो अप्यन्ये बन्धमोक्षकुशलाः **खल्वाहुः**—सत्यं कामादिपूर्वके पुण्यापुण्ये शरीरग्रहणकारणं, तथाऽपि कामप्रयुक्तो हि पुरुषः पुण्यापुण्ये कर्मणी उपचिनोति। कामप्रहाणे तु कर्म विद्यमानमपि पुण्यापुण्योपचयकरं न भवति। उपचिते अपि पुण्यापुण्ये कर्मणी कामशून्ये फलारम्भके न भवतः। तस्मात्काम एव संसारस्य मूलम्। तथाचोक्तमाथर्वणे "कामान्यः कामयते मन्यमानः स कामभिर्जायते तत्र तत्र" इति। तस्मा**त्काममय एवायं पुरुषो** यदन्यमयत्वं तदकारणं विद्यमानमपीत्यतोऽवधारयति काममय **एवेति**।

यस्मात्स च काममयः सन्यादृशेन कामेन **यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति** स काम ईषदभिलाषमात्रेणाभिव्यक्तो यस्मिन्विषये भवति सोऽविहन्यमानः स्फुटीभवन्क्रतुत्वमापद्यते। क्रतुर्नामाध्यवसायो निश्चयो यदनन्तरा क्रिया प्रवर्तते। **यत्क्रतुर्भवति** यादृक्कामकार्येण क्रतुना यथारूपः क्रतुरस्य सोऽयं **यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते** यद्विषयः क्रतुस्तत्फलनिर्वृत्तये यद्योग्यं कर्म तत्कुरुते निर्वर्तयति। **यत्कर्म कुरुते तदभिसंपद्यते**, तदीयं फलमभिसंपद्यते। तस्मात्सर्वमयत्वेऽस्य संसारित्वे च काम एव हेतुरिति॥५॥

तत्तस्मिन्नर्थ एष श्लोको मन्त्रोऽपि **भवति। तदेवैति तदेव** गच्छति **सक्त** आसक्तस्तत्रोद्भूताभिलाषः सन्नित्यर्थः। कथमेति। **सह कर्मणा** यत्कर्म,

लोकाय कर्मण इति नु कामयमानोऽथाकामयमानो योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति ॥६ ॥

ही कर्म प्रधान है, पर फलासक्ति के कारण पुनः परलोक में जाता है, निःसन्देह कामना वाला पुरुष ही कर्मानुसार ऐसी शुभाशुभ गति को प्राप्त होता रहता है)। अब जो अकाम पुरुष है, उसके विषय में कहते हैं। जो अकाम, निष्काम, आप्तकाम और आत्मकाम होता है, उस तत्त्वज्ञानी के लिङ्गदेह रूप प्राणों का उत्क्रमण शरीरान्तर के लिए नहीं होता। वह तत्त्ववेत्ता पुरुष ब्रह्मस्वरूप होता हुआ ही ब्रह्म को प्राप्त करता है ॥६ ॥

फलासक्तः सन्नकरोत्तेनकर्मणा सहैव तदेति तत्फलमेति। किंतल्लिङ्गं? **मनः**। मनःप्रधानत्वाल्लिङ्गस्य मनो लिङ्गमित्युच्यते। अथवा लिङ्ग्यतेऽवगम्यतेऽवगच्छति येन, तल्लिङ्गं तन्मनो **यत्र** यस्मिन्निषक्तं निश्चयेन सक्तमुद्भूताभिलाष**मस्य** संसारिणः। तदभिलाषो हि तत्कर्म कृतवान्। तस्मात्तन्मनोऽभिषङ्गवशादेवास्य तेन कर्मणा तत्फलप्राप्तिः। तेनैतत्सिद्धं भवति कामो मूलं संसारस्येति। अत उच्छिन्न-कामस्य विद्यमानान्यपि कर्माणि ब्रह्मविदो वन्ध्यप्रसवानि भवन्ति। "पर्याप्तकामस्य कृतात्मनश्चेहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः" इति श्रुतेः।

किंच **प्राप्यान्तं कर्मणः** — प्राप्य भुक्त्वाऽन्तमवसानं यावत्**कर्मणः** फलपरिसमाप्तिं कृत्वेत्यर्थः। कस्य कर्मणोऽन्तं प्राप्येत्युच्यते—**तस्य यत्किंच कर्मेहास्मिँल्लोके** करोति निर्वर्तयत्ययं तस्य कर्मणः फलं भुक्त्वाऽन्तं प्राप्य **तस्माल्लोकात्पुनरैत्यागच्छत्यस्मै लोकाय कर्मणे**ऽयं हि लोकः कर्म-प्रधानस्तेनाऽऽहकर्मण इति पुनः कर्मकरणाय पुनः कर्म कृत्वा फलासङ्गवशात्पुनरमुं लोकं यातीतिन्वेवम्। **इति न्वेवं नु कामयमानः** संसरति। यस्मात्कामयमान एवैवं संसरत्य**थ** तस्माद**कामयमानो** न क्वचित्संसरति।

फलासक्तस्य हि गतिरुक्ता। अकामस्य हि क्रियानुपपत्तेरकामयमानो मुच्यत एव। कथं पुनरकामयमानो भवति। **योऽकामो** भवत्यसावकामयमानः। कथम-कामतेत्युच्यते—यो **निष्कामो** यस्मान्निर्गताः कामाः सोऽयं **निष्कामः**। कथं

कामा निर्गच्छन्ति। य **आप्तकामो** भवत्याप्ताः कामा येन, स **आप्तकामः**। कथमाप्यन्ते कामा?आत्मकामत्वेन, यस्याऽऽत्मैव नान्यः कामयितव्यो वस्त्वन्तरभूतः पदार्थो भवति। आत्मैवानन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एकरसो नोर्ध्वं न तिर्यङ्नाध आत्मनोऽन्यत्कामयितव्यं वस्त्वन्तरम्। यस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्चेच्छृणुयान्मन्वीत विजानीयाद्वैवं विजानन्कं कामयेत। ज्ञायमानो ह्यन्यत्वेन पदार्थः कामयितव्यो भवति। न चासावन्यो ब्रह्मविद आप्तकामस्यास्ति। य एवाऽऽत्मकामतयाऽऽप्तकामः स निष्कामोऽकामोऽकामयमानश्चेति मुच्यते। न हि यस्याऽऽत्मैव सर्वं भवति, तस्यानात्मा कामयितव्योऽस्ति। अनात्मा चान्यः कामयितव्यः सर्वं चाऽऽत्मैवाभूदिति विप्रतिषिद्धम्। सर्वात्मदर्शिनः कामयितव्याभावात्कर्मानुपपत्तिः।

ये तु प्रत्यवायपरिहारार्थं कर्म कल्पयन्ति ब्रह्मविदोऽपि, तेषां नाऽऽत्मैव सर्वं भवति। प्रत्यवायस्य जिहासितव्यस्याऽऽत्मनोऽन्यस्याभिप्रेतत्वात्। येन चाशनायाद्यतीतो नित्यं प्रत्यवायासंबद्धो विदित आत्मा, तं वयं ब्रह्मविदं ब्रूमः। नित्यमेवाशनायाद्यतीतमात्मानं पश्यति। यस्माच्च जिहासितव्यमन्यमुपादेयं वा यो न पश्यति तस्य कर्म न शक्यत एव संबद्धु (न्धु) म्। यस्त्वब्रह्मवित्तस्य भवत्येव प्रत्यवायपरिहारार्थं कर्मेति, न विरोधः। अतः कामाभावादकामयमानो न जायते, मुच्यत एव।

तस्यैवमकामयमानस्य कर्माभावे गमनकारणाभावात्प्राणा वागादयो नोत्क्रामन्ति नोर्ध्वं क्रामन्ति देहात्। स च विद्वानाप्तकाम आत्मकामतयेहैव ब्रह्मभूतः। सर्वात्मनो हि ब्रह्मणो दृष्टान्तत्वेन प्रदर्शितमेतद्रूपं तद्वा अस्यैतदाप्तकाममात्मकाममकामं रूपमिति। तस्य हि दार्ष्टान्तिकभूतोऽयमर्थ उपसंह्रियते**ऽथाकामयमान** इत्यादिना। स कथमेवंभूतो मुच्यत इत्युच्यते—यो हि सुषुप्तावस्थमिव निर्विशेषमद्वैतमलुप्तचिद्रूपज्योतिःस्वभावमात्मानं पश्यति, **तस्यैवाकामयमानस्य** कर्माभावे गमनकारणाभावात्**प्राणा** वागादयो **नोत्क्रामन्ति**। किंतु विद्वान्स इहैव ब्रह्म, यद्यपि देहवानिव लक्ष्यते, स **ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति**।

यस्मान्न हि तस्याब्रह्मत्वपरिच्छेदहेतवः कामाः सन्ति, तस्मादिहैव ब्रह्मैव

सन्ब्रह्माप्येति न शरीरपातोत्तरकालम्। न हि विदुषो मृतस्य भावान्तरापत्तिर्जीवतोऽन्यो भावो देहान्तरप्रतिसंधानाभावमात्रेणैव तु ब्रह्माप्येतीत्युच्यते। भावान्तरापत्तौ हि मोक्षस्य सर्वोपनिषद्विवक्षितोऽर्थ आत्मैकत्वाख्यः, स बाधितो भवेत्। कर्महेतुकश्च मोक्षः प्राप्नोति न ज्ञाननिमित्त इति। स चानिष्टोऽनित्यत्वं च मोक्षस्य प्राप्नोति। न हि क्रियानिर्वृत्तोऽर्थो नित्यो दृष्टः। नित्यश्च मोक्षोऽभ्युपगम्यते। "एष नित्यो महिमा" इति मन्त्रवर्णात्।

न च स्वाभाविकात्स्वभावादन्यन्नित्यं कल्पयितुं शक्यम्। स्वाभाविकश्चेदग्न्युष्णवदात्मनः स्वभावः, स न शक्यते पुरुषव्यापारानुभावीति वक्तुम्। न ह्यग्नेरौष्ण्यं प्रकाशो वाऽग्निव्यापारानुभावी। अग्निव्यापारानुभावी स्वाभाविकश्चेति विप्रतिषिद्धम्। ज्वलनव्यापारानुभावित्वमौष्ण्यप्रकाशयोरिति चेत्। न। अन्योपलब्धिव्यवधानापगमाभिव्यक्त्यपेक्षत्वात्। ज्वलनादिपूर्वकमग्निरौष्ण्यप्रकाशगुणाभ्यामभिव्यज्यते तन्नाग्न्यपेक्षया किं तर्ह्यन्यदृष्टेरग्नेरौष्ण्यप्रकाशौ धर्मौ व्यवहितौ कस्यचिद्दृष्ट्या त्वसंबध्यमानौ ज्वलनापेक्षया व्यवधानापगमे दृष्टेरभिव्यज्येते। तदपेक्षया भ्रान्तिरुपजायते ज्वलनपूर्वकावेतावौष्ण्यप्रकाशौ धर्मौ जाताविति।

यद्यौष्ण्यप्रकाशयोरपि स्वाभाविकत्वं न स्यात्। यः स्वाभाविकोऽग्नेर्धर्मस्तमुदाहरिष्यामः। न च स्वाभाविको धर्म एव नास्ति पदार्थानामिति शक्यं वक्तुम्। न च निगडभङ्ग इवाभावभूतो मोक्षो बन्धननिवृत्तिरुपपद्यते। परमात्मैकत्वाभ्युपगमात् "एकमेवाद्वितीयम्" इति श्रुतेः। न चान्यो बद्धोऽस्ति यस्य निगडनिवृत्तिवद्बन्धननिवृत्तिर्मोक्षः स्यात्। परमात्मव्यतिरेकेणान्यस्याभावं विस्तरेणावादिष्म। तस्मादविद्यानिवृत्तिमात्रे मोक्षव्यवहार इति चावोचाम। यथा रज्ज्वादौ सर्पाद्यज्ञाननिवृत्तौ सर्पादिनिवृत्तिः।

येऽप्याचक्षते मोक्षे विज्ञानान्तरमानन्दान्तरं चाभिव्यज्यत इति तैर्वक्तव्योऽभिव्यक्तिशब्दार्थः। यदि तावल्लौकिक्येवोपलब्धिविषयव्याप्तिरभिव्यक्तिशब्दार्थः।

ततो वक्तव्यं किं विद्यमानमभिव्यज्यतेऽविद्यमानमिति वा। विद्यमानं चेद्यस्य मुक्तस्य तदभिव्यज्यते तस्याऽऽत्मभूतमेव तदित्युपलब्धिव्यवधानानुपपत्तेर्नित्याभिव्यक्तत्वान्मुक्तस्याभिव्यज्यत इति विशेषणवचनमनर्थकम्। अथ कदाचिदेवाभिव्यज्यत उपलब्धिव्यवधानादनात्मभूतं तदित्यन्यतोऽभिव्यक्तिप्रसङ्गः। तथाचाभिव्यक्तिसाधनापेक्षता। उपलब्धिसमानाश्रयत्वे तु व्यवधानकल्पनानुपपत्तेः सर्वदाऽभिव्यक्तिरनभिव्यक्तिर्वा। न त्वन्तरालकल्पनायां प्रमाणमस्ति।

न च समानाश्रयाणामेकस्याऽऽत्मभूतानां धर्माणामितरेतरविषयविषयित्वं संभवति। विज्ञानसुखयोश्च प्रागभिव्यक्तेः संसारित्वमभिव्यक्त्युत्तरकालं च मुक्तत्वं यस्य सोऽन्यः परस्मान्नित्याभिव्यक्तज्ञानसुखस्वरूपादत्यन्तवैलक्षण्याच्छैत्यमिवौष्ण्यात्। परमात्मभेदकल्पनायां च वैदिकः कृतान्तः परित्यक्तः स्यात्। मोक्षस्येदानीमिव निर्विशेषत्वे तदर्थाधिकयत्नानुपपत्तिः, शास्त्रवैयर्थ्यं च प्राप्नोतीति चेन्न। अविद्याभ्रमापोहार्थत्वात्। न हि वस्तुतो मुक्तामुक्तत्वविशेषोऽस्ति। आत्मनो नित्यैकरूपत्वात्। किंतु तद्विषयाऽविद्याऽपोह्यते शास्त्रोपदेशजनितविज्ञानेन। प्राक्तदुपदेशप्राप्तेस्तदर्थश्च प्रयत्न उपपद्यत एव।

अविद्यावतोऽविद्यानिवृत्त्यनिवृत्तिकृतो विशेष आत्मनः स्यादिति चेत्। न। अविद्याकल्पनाविषयत्वाभ्युपगमाद्रज्जूषरशुक्तिकागगनानां सर्पोदकरजतमलिनत्वादिवददोष इत्यवोचाम। तिमिरातिमिरदृष्टिवदविद्याकर्तृत्वाकर्तृत्वकृत आत्मनो विशेषः स्यादिति चेत्। न। ध्यायतीव लेलायतीवेति स्वतोऽविद्याकर्तृत्वस्य प्रतिषिद्धत्वात्। अनेकव्यापारं संनिपातजनितत्वाच्चाविद्याभ्रमस्य। विषयत्वोपपत्तेश्च।

यस्य चाविद्याभ्रमो घटादिवद्विविक्तो गृह्यते, स नाविद्याभ्रमवान्। अहं न जाने मुग्धोऽस्मीति प्रत्ययदर्शनादविद्याभ्रमवत्त्वमेवेति चेन्न। तस्यापि विवेकग्रहणात्। न हि यो यस्य विवेकेन ग्रहीता, स तस्मिन्भ्रान्त इत्युच्यते। तस्य च विवेकग्रहणं तस्मिन्नेव च भ्रम इति विप्रतिषिद्धम्। न जाने मुग्धोऽस्मीति दृश्यत इति ब्रवीषि तद्दर्शिनश्चाज्ञानं मुग्धरूपता दृश्यत इति च तद्दर्शनस्य विषयो

भवति कर्मतामापद्यत इति। तत्कथं कर्मभूतं सत्कर्तृ स्वरूपदृशिविशेषणमज्ञानमुग्धते स्याताम्? अथ दृशिविशेषणत्वं तयोः कथं कर्म स्यातां दृशिना व्याप्येते? कर्म हि कर्तृक्रियया व्याप्यमानं भवति। अन्यश्च व्याप्यमन्यद्व्यापकं न तेनैव तद्व्याप्यते। वद कथमेवंसत्यज्ञानमुग्धते दृशिविशेषणे स्याताम्। न चाज्ञानविवेकदर्श्यज्ञानमात्मनः कर्मभूतमुपलभमान उपलब्धृधर्मत्वेन गृह्णाति शरीरे कार्श्यरूपादिवत्तथा।

सुखदुःखेच्छाप्रयत्नादीन्सर्वो लोको गृह्णातीति चेत्। तथाऽपि ग्रहीतुर्लोकस्य विविक्ततैवाभ्युपगता स्यात्। न जानेऽहं त्वदुक्तं मुग्ध एवेति चेत्। भवत्वज्ञो मुग्धो यस्त्वेवंदर्शी, तं ज्ञममुग्धं प्रतिज्ञानीमहे वयम्। तथा व्यासेनोक्तम्—इच्छादि कृत्स्नं क्षेत्रं क्षेत्री प्रकाशयतीति।

''समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तम्''।

इत्यादि शतश उक्तम्। तस्मान्नाऽऽत्मनः स्वतो बद्धमुक्तज्ञानाज्ञानकृतो विशेषोऽस्ति। सर्वदा समैकरसस्वाभाव्याभ्युपगमात्।

ये त्वतोऽन्यथाऽऽत्मवस्तु परिकल्प्य बन्धमोक्षादिशास्त्रं चार्थवादमापादयन्ति, त उत्सहन्ते खेऽपि शाकुनं पदं द्रष्टुं खं वा मुष्टिनाऽऽक्रष्टुं चर्मवद्वेष्टितुम्। वयं तु तत्कर्तुमशक्ताः। सर्वदा सममेकरसमद्वैतमविक्रियमजमजरममरममृतमभयमात्मतत्त्वं ब्रह्मैव इत्येष सर्ववेदान्तनिश्चितोऽर्थ इत्येवं प्रतिपद्यामहे। तस्माद्ब्रह्माप्येतीत्युपचारमात्रमेतद्विपरीतग्रहवद्देहसंततेर्विच्छेदमात्रं विज्ञानफलमपेक्ष्य॥६॥

स्वप्नबुद्धान्तगमनदृष्टान्तस्य दार्ष्टान्तिकः संसारो वर्णितः। संसारहेतुश्च विद्याकर्मपूर्वप्रज्ञा वर्णिताः। यैश्चोपाधिभूतैः कार्यकरणलक्षणैर्भूतैः परिवेष्टितः संसारित्वमनुभवति, तानि चोक्तानि। तेषां साक्षात्प्रयोजकौ धर्माधर्माविति पूर्वपक्षं कृत्वा काम एवेत्यवधारितम्। यथा च ब्राह्मणेनायमर्थोऽवधारित एवं मन्त्रेणापीति बन्धं

तदेष श्लोको भवति। यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुत इति। तद्यथाऽहिनिर्ल्वयनी वल्मीके मृता प्रत्यस्ता शयीतैवमेवेदꣳ शरीरꣳ शेतेऽथायमशरीरो-ऽमृतः प्राणो ब्रह्मैव तेज एव सोऽहं भगवते सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः ॥७॥

उसी विषय में यह मन्त्र भी है। जब इसके हृदय में स्थित समस्त कामनाएँ मूल से नष्ट हो जाती हैं; तब यह मरणशील पुरुष अमर हो जाता है और इस वर्तमान शरीर में ही वह ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। इसमें दृष्टान्त यह है कि जैसे सर्प की केंचुली सर्प के निवास स्थान बिल के ऊपर मृत एवं सर्प द्वारा त्यागी हुई पड़ी रहती है, वैसे ही सर्पस्थानीय मुक्त पुरुष द्वारा यह अनात्म देह परित्यक्त हो मरे हुए के समान पड़ा रहता है और यह शरीररहित, अमर, प्राणपदवाच्य चेतन आत्मा तो ब्रह्म ही है, तेज ही है (अर्थात् देहाध्यास के कारण से प्रतीत होने वाला संसार उस तत्त्वेत्ता को संतप्त नहीं करता)। इस पर विदेहराज जनक ने कहा— भगवन्! वह मैं जनक आपको एक सहस्र गौएँ देता हूँ॥७॥

बन्धकारणं चोक्त्वोपसंहृतं प्रकरणमिति नु कामयमान इति। अथाकामयमान इत्यारभ्य सुषुप्तदृष्टान्तस्य दार्ष्टान्तिकभूतः सर्वात्मभावो मोक्ष उक्तः। मोक्षकारणं चाऽऽत्मकामतया यदाप्तकामत्वमुक्तम्। तच्च सामर्थ्यान्नाऽऽत्मज्ञानमन्तरेणाऽऽत्मकामतयाऽऽप्तकामत्वमिति सामर्थ्याद्ब्रह्मविद्यैव मोक्षकारणमित्युक्तम्। अतो यद्यपि कामो मूलमित्युक्तं तथाऽपि मोक्षकारणविपर्ययेण बन्धकारणमविद्येत्येतदप्युक्तमेव भवति। अत्रापि मोक्षो मोक्षसाधनं च ब्राह्मणेनोक्तम्। तस्यैव दृढीकरणाय मन्त्र उदाह्रियते श्लोकशब्दवाच्यः—

तत्तस्मिन्नेवार्थ एष श्लोको मन्त्रो **भवति।** यदा यस्मिन्काले **सर्वे**

समस्ताः कामास्तृष्णाप्रभेदाः **प्रमुच्यन्ते**। आत्मकामस्य ब्रह्मविदः समूलतो विशीर्यन्ते। **ये** प्रसिद्धा लोक इहामुत्रार्थाः पुत्रवित्तलोकैषणा लक्षणा **अस्य** प्रसिद्धस्य पुरुषस्य **हृदि** बुद्धौ **श्रिता** आश्रिताः। **अथ** तदा **मर्त्यो** मरणधर्मा सन्कामवियोगात्समूलतोऽ**मृतो भवति**। अर्थादनात्मविषयाः कामा अविद्यालक्षणा मृत्यवः इत्येतदुक्तं भवति। अतो मृत्युवियोगे विद्वाञ्जीवन्नेवामृतो भवति। **अत्रा**स्मिन्नेव शरीरे वर्तमानो **ब्रह्म समश्नुते** ब्रह्मभावं मोक्षं प्रतिपद्यत इत्यर्थः। अतो मोक्षो न देशान्तरगमनाद्यपेक्षते। तस्माद्विदुषो नोत्क्रामन्ति प्राणा यथावस्थिता एव स्वकारणे पुरुषे समवनीयन्ते। ''नाममात्रं ह्यवशिष्यते'' इत्युक्तम्।

कथं पुनः समवनीतेषु प्राणेषु देहे च स्वकारणे प्रलीने विद्वान्मुक्तोऽत्रैव सर्वात्मा सन्वर्तमानः पुनः पूर्ववद्देहित्वं संसारित्वलक्षणं न प्रतिपद्यत इति। अत्रोच्यते—**तत्त**त्रायं दृष्टान्तो **यथा** लोकेऽ**हिः** सर्पस्तस्य **निर्ल्वयनी** निर्मोकः साऽहिनिर्ल्वयनी **वल्मीके** सर्पाश्रये वल्मीकादावित्यर्थः। **मृता प्रत्यस्ता** प्रक्षिप्ताऽनात्मभावेन सर्पेण परित्यक्ता **शयीत** वर्तेत। **एवमेव** यथाऽयं दृष्टान्त **इदं शरीरं** सर्पस्थानीयेन मुक्तेनानात्मभावेन परित्यक्तं मृतमिव **शेते**।

अथेतरः सर्पस्थानीयो मुक्तः सर्वात्मभूतः सर्पवत्तत्रैव वर्तमानोऽप्य**शरीर** एव न पूर्ववत्पुनः सशरीरो भवति। कामकर्मप्रयुक्तशरीरात्मभावेन हि पूर्वं सशरीरो मर्त्यश्च। तद्वियोगादथेदानीमशरीरोऽत एव **चामृतः**। **प्राणः** प्राणितीति **प्राणः**। ''प्राणस्य प्राणमिति'' हि वक्ष्यमाणे श्लोके। ''प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः'' इति च श्रुत्यन्तरे। प्रकरणवाक्यसामर्थ्याच्च पर एवाऽऽत्माऽत्र प्राणशब्दवाच्यः। **ब्रह्मैव** परमात्मैव। किं पुनस्त**त्तेज एव** विज्ञानंज्योतिर्येनाऽऽत्मज्योतिषा जगदवभास्यमानं प्रज्ञानेत्रं विज्ञानज्योतिष्मत्सदविभ्रंशद्वर्तते।

यः कामप्रश्नो विमोक्षार्थो याज्ञवल्क्येन वरो दत्तो जनकाय, सहेतुको बन्धमोक्षार्थलक्षणो दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभूतः, स एष निर्णीतः सविस्तरो जनकयाज्ञवल्क्याख्यायिकारूपधारिण्या श्रुत्या। संसारविमोक्षोपाय उक्तः प्राणिभ्यः। इदानीं श्रुतिः स्वयमेवाऽऽह विद्यानिष्क्रयार्थं जनकेनैवमुक्तमिति। कथं? **सोऽहमेवं**

तदेते श्लोका भवन्ति। अणुः पन्था विततः पुराणो माꣳ स्पृष्टोऽनुवित्तो मयैव। तेन धीरा

उक्त विषय में ये मन्त्र हैं। यह ज्ञानमार्ग दुर्विज्ञेय होने के कारण सूक्ष्म है, विस्तीर्ण और वेदोक्त होने से पुरातन है। वह ब्रह्मविद्या रूप मोक्षमार्ग प्राप्त होने के कारण मुझे स्पर्श किया हुआ है तथा उसका फलसाधक आत्मज्ञान मैंने प्राप्त किया है। इसी मार्ग से

विमोक्षितस्त्वया **भगवते** तुभ्यं विद्यानिष्क्रयार्थं **सहस्रं ददामीति** **ह**ैवं किलो**वाचोक्त**वा**अनको वैदेहः**। अत्र कस्माद्विमोक्षपदार्थे निर्णीते विदेहराज्यमात्मानमेव च न निवेदयत्येकदेशोक्ताविव सहस्रमेव ददाति तत्र कोऽभिप्राय इति।

अत्र केचिद्वर्णयन्ति—अध्यात्मविद्यारसिको जनकः श्रुतमप्यर्थं पुनर्मन्त्रैः शुश्रूषति। अतो न सर्वमेव निवेदयति। श्रुत्वाऽभिप्रेतं याज्ञवल्क्यात्पुनरन्ते निवेदयिष्यामीति हि मन्यते। यदि चात्रैव सर्वं निवेदयामि निवृत्ताभिलाषोऽयं श्रवणादिति मत्वा श्लोकान्न वक्ष्यतीति च भयात्सहस्रदानं शुश्रूषालिङ्गज्ञापनायेति। सर्वमप्येतदसत्पुरुषस्येव प्रमाणभूतायाः श्रुतेर्व्याजानुपपत्तेः। अर्थशेषोपपत्तेश्च। विमोक्षपदार्थ उक्तेऽप्यात्मज्ञानसाधन आत्मज्ञानशेषभूतः सर्वैषणापरित्यागः संन्यासाख्यो वक्तव्योऽर्थशेषो विद्यते। तस्माच्छ्लोकमात्रशुश्रूषाकल्पनाऽनृज्वी। अगतिका हि गतिः पुनरुक्तार्थकल्पना। सा चायुक्ता सत्यां गतौ।

न च तत्स्तुतिमात्रमित्यवोचाम। नन्वेवंसत्यत ऊर्ध्वं विमोक्षायैवेति वक्तव्यम्। नैष दोषः। आत्मज्ञानवदप्रयोजकः संन्यासः पक्षे प्रतिपत्तिकर्मवदिति हि मन्यते। "संन्यासेन तनुं त्यजेत्" इति स्मृतेः। साधनत्वपक्षेऽपि नात ऊर्ध्वं विमोक्षायैवेति प्रश्नमर्हति मोक्षसाधनभूतात्मज्ञानपरिपाकार्थत्वात्॥७॥

आत्मकामस्य ब्रह्मविदो मोक्ष इत्येतस्मिन्नर्थे मन्त्रब्राह्मणोक्ते विस्तरप्रतिपादका **एते श्लोका भवन्ति**। **अणुः** सूक्ष्मः **पन्था** दुर्विज्ञेयत्वा**द्विततो** विस्तीर्णो

अपियन्ति ब्रह्मविदः स्वर्गं लोकमित ऊर्ध्वं विमुक्ताः ॥८॥

तस्मिञ्छुक्लमुत नीलमाहुः पिङ्गलꣳ हरितं लोहितं

अन्य ब्रह्मवेत्ता पुरुष भी इस लोक में जीते जी मुक्त हुए प्रारब्ध क्षय के बाद इस देह का त्याग कर मोक्ष को प्राप्त करते हैं॥८॥

उस मोक्ष साधन रूप ज्ञानमार्ग में मुमुक्षुओं का वैमत्य है। कोई उसमें शुक्ल और कोई नील वर्ण कहते हैं, तथा अपनी दृष्टि के अनुसार अन्य कोई मुमुक्षु उसमें पिङ्गल

विस्पष्टतरणहेतुत्वाद्वा वितर इति पाठान्तरान्मोक्षसाधनो ज्ञानमार्गः **पुराणश्**चिरंतनो नित्यश्रुतिप्रकाशितवान्न तार्किकबुद्धिप्रभवकुदृष्टिमार्गवदर्वाक्कालिको **मां स्पृष्टो** मया लब्ध इत्यर्थः। यो हि येन लभ्यते स तं स्पृशतीव संबध्यते, तेनायं ब्रह्मविद्यालक्षणो मोक्षमार्गो मया लब्धत्वान्मां स्पृष्ट इत्युच्यते। न केवलं मया लब्धः। **किंत्वनुवित्तो मयैव**। अनुवेदनं नाम विद्यायाः परिपाकापेक्षया फलावसानता निष्ठा प्राप्तिः। भुजेरिव तृप्त्यवसानता। पूर्वं तु ज्ञानप्राप्तिसंबन्धमात्रमेवेति विशेषः।

किमसावेव मन्त्रदृगेको ब्रह्मविद्याफलं प्राप्तो नान्यः प्राप्तवान्येनानुवित्तो मयैवेत्यवधारयति। नैष दोषः। अस्याः फलमात्मसाक्षिकमनुत्तममिति ब्रह्मविद्यायाः स्तुतिपरत्वात्। एवं हि कृतार्थात्माभिमानकरमात्मप्रत्ययसाक्षिकमात्मज्ञानं किमतः परमन्यत्स्यादिति ब्रह्मविद्यां स्तौति। न तु पुनरन्यो ब्रह्मवित्तत्फलं न प्राप्नोतीति। "तद्यो यो देवानाम्" इति सर्वार्थश्रुतेः। तदेवाऽऽह— **तेन** ब्रह्मविद्यामार्गेण **धीराः** प्रज्ञावन्तोऽन्येऽपि **ब्रह्मविद** इत्यर्थः। **अपियन्त्य**पिगच्छन्ति ब्रह्मविद्याफलं मोक्षं **स्वर्गं लोकम्**। स्वर्गलोकशब्दस्त्रिविष्टपवाच्यपि सन्निह प्रकरणान्मोक्षाभिधायकः। **इतो**ऽस्माच्छरीरपातादूर्ध्वं जीवन्त एव **विमुक्ताः** सन्तः॥८॥

॥इतिविंशाह्निकम्॥२०॥

❁❁❁

तस्मिन्मोक्षसाधनमार्गे विप्रतिपत्तिर्मुमुक्षूणाम्। कथम्? **तस्मिञ्शुक्लं** शुद्धं

च। एष पन्था ब्रह्मणा हानुवित्तस्तेनैति ब्रह्मवित्पुण्य-कृत्तैजसश्च॥९॥

वर्ण, हरित और लोहित भी कहते हैं (वस्तुतः श्लेष्मादि रस से पूर्ण होने के कारण सुषुम्नादि नाड़ियों में साधक को उक्त भ्रान्ति हो जाती है) यह मार्ग साक्षात् ब्रह्म द्वारा अनुभूत है। उस मार्ग से पुण्य कर्म करने वाला ब्रह्मवेत्ता पुरुष परमात्मतेज को प्राप्त करता है॥९॥

विमलमाहुः केचिन्मुमुक्षवो, **नीलमन्ये पिङ्गलमन्ये हरितं लोहितं च** यथादर्शनम्। नाड्यस्त्वेताः सुषुम्नाद्याः श्लेष्मादिरससंपूर्णाः "शुक्लस्य नीलस्य पिङ्गलस्ये"त्याद्युक्तत्वात्। आदित्यं वा मोक्षमार्गमेवंविधं मन्यन्ते। "एष शुक्ल एष नीलः" इत्यादिश्रुत्यन्तरात्। दर्शनमार्गस्य च शुक्लादिवर्णासंभवात्। सर्वथाऽपि तु प्रकृताद्ब्रह्मविद्यामार्गादन्य एते शुक्लादयः।

ननु शुक्लः शुद्धोऽद्वैतमार्गः। न। नीलपीतादिशब्दैर्वर्णवाचकैः सहानुद्रवणात्। याञ्छुक्लादीन्योगिनो मोक्षपथानाहुर्न ते मोक्षमार्गाः संसारविषया एव हि ते। "चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो वाऽन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्य" इति शरीरदेशान्निःसरणसंबन्धात्। ब्रह्मादिलोकप्रापका हि ते। तस्मादयमेव मोक्षमार्गो य आत्मकामत्वेनाऽऽप्तकामतया सर्वकामक्षये गमनानुपपत्तौ प्रदीपनिर्वाणवच्चक्षुरादीनां कार्यकरणानामत्रैव समवनय इत्येष ज्ञानमार्गः **पन्था ब्रह्मणा** परमात्मस्वरूपेणैव ब्राह्मणेन त्यक्तसर्वैषणे-**नानुवित्तः**। **तेन** ब्रह्मविद्यामार्गेण **ब्रह्मविदन्योऽप्येति**। कीदृशो ब्रह्मवित्तेनैतीत्युच्यते—पूर्वं **पुण्यकृद्**भूत्वा पुनस्त्यक्तपुत्राद्येषणः परमात्मतेजस्यात्मानं संयोज्य तस्मिन्नभिनिर्वृत्त**स्तैजसश्चा**ऽऽत्मभूत इहैवेत्यर्थः। ईदृशो ब्रह्मवित्तेन मार्गेणैति। न पुनः पुण्यादिसमुच्चयकारिणो ग्रहणं, विरोधादित्यवोचाम।

"अपुण्यपुण्योपरमे यं पुनर्भवनिर्भयाः।
शान्ताः संन्यासिनो यान्ति तस्मै मोक्षात्मने नमः"॥

(+) पाप और पुण्य से उपरत होने पर जिसे पुनर्जन्म होने से निर्भय हुए॥

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते। ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाꣳ रताः ॥१०॥

जो अविद्या (कर्म) की उपासना करते हैं, वे अन्धेरे में प्रवेश करते हैं और जो कर्मकाण्डात्मक त्रयी विद्या में अनुरक्त रहते हैं; वे उससे भी अधिक अंधेरे में प्रवेश करते हैं अर्थात् उपनिषदर्थ की उपेक्षा करने वाले दोनों ही अन्धकूप में गिरते हैं॥१०॥

इति च स्मृतेः।

''त्यज धर्ममधर्मं च'' इत्यादि पुण्यापुण्यत्यागोपदेशात्।

''निराशिषमनारम्भं निर्नमस्कारमस्तुतिम्।
अक्षीणं क्षीणकर्माणं तं देवा ब्राह्मणं विदुः''॥
''नैतादृशं ब्राह्मणस्यास्ति वित्तं यथैकता समता सत्यता च।
शीलं स्थितिर्दण्डनिधानमार्जवं ततस्ततश्चोपरमः क्रियाभ्यः''॥

इत्यादिस्मृतिभ्यश्च।

उपदेक्ष्यति चेहापि ''एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न वर्धते कर्मणा नो कनीयान्'' इति कर्मप्रयोजनाभावे हेतुमुक्त्वा ''तस्मादेवंविच्छान्तो दान्तः'' इत्यादिना सर्वक्रियोपरमम्। तस्माद्यथाव्याख्यातमेव पुण्यकृत्त्वम्। अथवा यो ब्रह्मवित्तेनैति स पुण्यकृत्तैजसश्चेति ब्रह्मवित्स्तुतिरेषा। पुण्यकृति तैजसे च योगिनि महाभाग्यं प्रसिद्धं लोके, ताभ्यामतो ब्रह्मवित्स्तूयते, प्रख्यातमहाभाग्यत्वाल्लोके॥९॥

अन्धमदर्शनात्मकं **तमः** संसारनियामकं **प्रविशन्ति** प्रतिपद्यन्ते। के? **येऽविद्यां** विद्यातोऽन्यां साध्यसाधनलक्षणा**मुपासते** कर्मानुवर्तन्त इत्यर्थः। **तत**स्तस्मादपि **भूय इव** बहुतरमिव **तमः** प्रविशन्ति। के? **य उ विद्याया**मविद्यावस्तुप्रतिपादिकायां कर्मार्थायां त्रय्यामेव विद्यायां **रता** अभिरताः। विधिप्रतिषेधपर एव वेदो नान्योऽस्तीत्युपनिषदर्थानपेक्षिण इत्यर्थः॥१०॥

अनन्दा नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः।
ताथंस्ते प्रेत्याभिगच्छन्त्यविद्वाथंसोऽबुधो जनाः ॥११॥

आत्मानं चेद्विजानीयादयस्मीति पूरुषः।
किमिच्छन्कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत् ॥१२॥

वे लोक सुखरहित तथा घोर अन्धकार से आवृत हैं, उन्हीं लोकों को वे अज्ञानी अविद्वान् लोग प्राप्त करते हैं अर्थात् आत्मज्ञान ही एकमात्र मोक्ष का साधन है॥११॥

मैं यह नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव ब्रह्म हूँ। इस प्रकार विशेष रूप से आत्मा को साधक पुरुष यदि जान लेवे, तो भला किस चीज को चाहता हुआ, किस भोग के लिये शरीर के पीछे संतप्त होने लगे अर्थात् आत्मबोध के बाद सर्वात्मदर्शी को जन्म जरादि दुःख नहीं सताते॥१२॥

यदि तेऽदर्शनलक्षणं तमः प्रविशन्ति, को दोष इत्युच्यते—**अनन्दा** अनानन्दा असुखा **नाम ते लोकास्**तेना**न्धेना**दर्शनलक्षणेन **तमसाऽऽवृता** व्याप्तास्ते तस्याज्ञानतमसो गोचरास्**तांस्ते प्रेत्य** मृत्वाऽ**भिगच्छन्त्य**भियान्ति। के? येऽ**विद्वांसः**। किं सामान्येनाविद्वत्तामात्रेण। नेत्युच्यते—**अबुधः**। बुधेरवगमनार्थस्य धातोः क्विप्प्रत्ययान्तस्य रूपम्। आत्मावगमवर्जिता इत्यर्थः। **जनाः** प्राकृता एव जननधर्मिणो वेत्येतत्॥११॥

आत्मानं स्वं सर्वप्राणिमनीषितज्ञं हृत्स्थमशनायादिधर्मातीतं **चेद्**यदि **विजानीया**त्सहस्रेषु कश्चित्। चेदित्यात्मविद्याया दुर्लभत्वं दर्शयति। कथम**यं** पर आत्मा सर्वप्राणिप्रत्ययसाक्षी यो नेति नेतीत्याद्युक्तो, यस्मान्नान्योऽस्ति द्रष्टा श्रोता मन्ता विज्ञाता समः सर्वभूतस्थो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावोऽ**स्मि** भवा**मीति पूरुषः** पुरुषः। स **किमिच्छं**स्तत्स्वरूपव्यतिरिक्तमन्यद्वस्तु फलभूतं किमि-**च्छन्कस्य** वाऽन्यस्याऽऽत्मनो व्यतिरिक्तस्य **कामाय** प्रयोजनाय। न हि तस्याऽऽत्मन एष्टव्यं फलम्। न चाप्यात्मनोऽन्योऽस्ति यस्य कामायेच्छति, सर्वस्याऽऽत्मभूतत्वात्।

यस्यानुवित्तः प्रतिबुद्ध आत्माऽस्मिन्संदेह्ये गहने प्रविष्टः। स विश्वकृत्स हि सर्वस्य कर्ता, तस्य लोकः स उ लोक एव॥१३॥

इन अनेक अनर्थों से परिपूर्ण और विवेक विज्ञान के शत्रु विषम स्थान शरीर में प्रविष्ट हुआ आत्मा जिस ब्रह्मवेत्ता पुरुष को प्राप्त तथा अवगत हो गया है; वह कृतकृत्य हो गया, वह सभी कर्मों का कर्ता है। उसी का सारा लोक है और स्वयं भी वह लोक स्वरूप आत्मा ही है॥१३॥

अतः किमिच्छन्कस्य कामाय **शरीरमनुसंज्वरेद्** भ्रंशेत्। शरीरोपाधिकृतदुःखमनुदुःखी स्यात्। शरीरतापमनुतप्येत। अनात्मदर्शिनो हि तद्व्यतिरिक्तवस्त्वन्तरेप्सोः। ममेदं स्यात्पुत्रस्येदं भार्याया इदमित्येवमीहमानः पुनः पुनर्जननमरणप्रबन्धारूढः शरीररोगमनुरुज्यते। सर्वात्मदर्शिनस्तु तदसंभव इत्येतदाह॥१२॥

किंच **यस्य** ब्राह्मणस्या**नुवित्तो**ऽनुलब्धः **प्रतिबुद्धः** साक्षात्कृतः। कथमहमस्मि परंब्रह्मेत्येवं प्रत्यगात्मत्वेनावगत **आत्माऽस्मिन्संदेह्ये** संदेहेऽनेकानर्थसंकटोपचये **गहने** विषमेऽनेकशतसहस्रविवेकविज्ञानप्रतिपक्षे विषमे **प्रविष्टो** जलसूर्यकादिवदिति स यस्य ब्राह्मणस्यानुवित्तः प्रतिबोधेनेत्यर्थः। **स विश्वकृ**द्विश्वस्य कर्ता। कथं विश्वकृत्त्वं तस्य? किं विश्वकृदिति नामेत्याशङ्क्याऽऽह— **स हि** यस्मात्**सर्वस्य कर्ता** न नाममात्रं न केवलं विश्वकृत्परप्रयुक्तः सन्। किं तर्हि **तस्य लोकः** सर्वः। किमन्यो लोकोऽन्योऽसावित्युच्यते— **स उ लोक एव**। लोकशब्देनाऽऽत्मोच्यते। तस्य सर्व आत्मा स च सर्वस्याऽऽत्मेत्यर्थः। य एष ब्राह्मणेन प्रत्यगात्मा प्रतिबुद्धतयाऽनुवित्त आत्माऽनर्थसंकटे गहने प्रविष्टः स न संसारी किंतु पर एव। यस्माद्विश्वस्य कर्ता सर्वस्याऽऽत्मा, तस्य च सर्व आत्मा। एक एवाद्वितीयः पर एवास्मीत्यनुसंधातव्यः इति श्लोकार्थः॥१३॥

इहैव सन्तोऽथ विद्मस्तद्वयं न चेदवेदिर्महती विनष्टिः। ये तद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापियन्ति॥१४॥

यदैतमनुपश्यत्यात्मानं देवमञ्जसा। ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते॥१५॥

हम इस अनर्थ पूर्ण शरीर में रहते हुए ही यदि उस आत्मतत्त्व को जान लेते हैं तो कृतकृत्य हो जाते हैं और यदि उसे नहीं जानते तो बड़ी भारी क्षति होती है (जिसकी पूर्ति अन्यत्र दुःशक्य है)। अतः जो साधक उसे जानकर उस तत्त्व को आत्मभावेन साक्षात् कर लेते हैं; वे अमर हो जाते हैं। इनसे भिन्न लोग जन्म मरणादि रूप दुःख को ही प्राप्त होते हैं॥१४॥

जिस समय भूत और भविष्य के शासक इस प्रकाशमय या कर्मफल दाता आत्मा को आचार्य द्वारा शास्त्र श्रवण के बाद मनुष्य अपरोक्ष रूप से जान लेता है; उस समय अपने को सुरक्षित रखने की इच्छा नहीं करता अर्थात् ब्रह्मवेत्ता को भय के अभाव में सुरक्षा की इच्छा भी नहीं होती॥१५॥

किंचे**हैवा**नेकानर्थसंकुले सन्तो भवन्तोऽज्ञानदीर्घनिद्रामोहिताः **सन्तः** कथंचिदिव ब्रह्मतत्त्वमात्मत्वे**नाथ विद्मो** विजानीमः। **तदे**तद्ब्रह्म प्रकृतमहो **वयं** कृतार्था इत्यभिप्रायः। यदेतद्ब्रह्म विजानीमस्तन्न **चे**द्विदितवन्तो वयं, वेदनं वेदोऽस्यास्तीति वेदी वेद्येव वेदिर्न वेदि**रवेदिः**। ततोऽहमवेदिः स्याम्। यद्यवेदिः स्यां को दोषः स्यान्महत्यनन्तपरिणामा जन्ममरणादिलक्षणा **विनष्टि**र्विनशनम्। अहो वयमस्मान्महतो विनशनान्निर्मुक्ता, यदद्वयं ब्रह्म विदितवन्त इत्यर्थः। यथा च वयं विदित्वाऽस्माद्विनशनाद्विप्रमुक्ता एवं **तद्विदुरमृतास्तेभवन्ति**। ये पुनर्नैवं ब्रह्म विदुस्त **इतरे** ब्रह्मविद्भ्योऽन्येऽब्रह्मविद इत्यर्थः। **दुःखमेव** जन्ममरणादिलक्षणमेवा**पियन्ति** प्रतिपद्यन्ते, न कदाचिदप्यविदुषां ततो विनिवृत्तिरित्यर्थः। दुःखमेव हि ते आत्मत्वेनोपगच्छन्ति॥१४॥

यदा पुन**रेतमा**त्मानं कथंचित्परमकारुणिकं कंचिदाचार्यं प्राप्य ततो

यस्मादर्वाक्संवत्सरोऽहोभिः परिवर्तते।

तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम् ॥१६॥

यस्मिन्पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः।

जिसके नीचे संवत्सर अहोरात्रादि अपने अवयवों के साथ चक्कर काटता रहता है, उस आदित्यादि ज्योतियों के भी ज्योति स्वरूप अमरधर्मा परमेश्वर को देवता लोग "आयु" इस रूप से उपासना करते हैं अर्थात् आयुकाम पुरुष ब्रह्म की आयुरूप गुण के द्वारा उपासना करे॥१६॥

जिस ब्रह्म में (गन्धर्व, पितर, देव, असुर और राक्षस या ब्राह्मणादि) पाँच पंचजन

लब्धप्रसादः **सन्ननु पश्चात्पश्यति** साक्षात्करोति स्वमा**त्मानं देवं** द्योतनवन्तं दातारं वा सर्वप्राणिकर्मफलानां यथाकर्मानुरूप**मञ्जसा** साक्षा**दीशानं** स्वामिनं **भूतभव्यस्य** कालत्रयस्येत्येतत्। **न ततस्त**स्मादीशानाद् देवादात्मानं **विशेषेण जुगुप्सते** गोपायितुमिच्छति। सर्वो हि लोक ईश्वराद्गुप्तिमिच्छति भेददर्शी। अयं त्वेकत्वदर्शी "न बिभेति कुतश्चन"। अतो न तदा विजुगुप्सते। यदेशानं देवमञ्जसाऽऽत्मत्वेन पश्यति न तदा निन्दन्ति वा कंचित्। सर्वमात्मानं हि पश्यति **स,** एवं पश्यन्कमसौ निन्देत्॥१५॥

किंच **यस्मादीशानादर्वाग**यस्मादन्यविषय एवेत्यर्थः। **संवत्सरः** कालात्मा सर्वस्य जनिमतः **परिच्छेत्ता** यमपरिच्छिन्दन्नर्वागेव **वर्ततेऽहोभिः** स्वावयवैरहोरात्रैरित्यर्थः। **तज्ज्योतिषां ज्योति**रादित्यादिज्योतिषामप्यवभासकत्वादायुरित्युपासते **देवा** अमृतं ज्योतिरतोऽन्यन्म्रियते **न** हि ज्योतिः। सर्वस्य ह्येतज्ज्योतिरायुः। **आयुर्गुणेन** यस्माद्देवास्तज्ज्योति**रुपासते,** तस्मादायुष्मन्तस्ते। तस्मादायुष्कामेनाऽऽ (णाऽऽ) युर्गुणेनोपास्यं ब्रह्मेत्यर्थः॥१६॥

किंच **यस्मिन्**यत्र ब्रह्मणि **पञ्च पञ्चजना** गन्धर्वादयः पञ्चैव संख्याता

तमेव मन्य आत्मानं विद्वान्ब्रह्मामृतोऽमृतम् ॥१७॥

(प्राण के प्राणादि रूप से ब्रह्म को जानने वाला ही ज्ञानी है)

प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रं

realised मनसो ये मनो विदुः। ते निचिक्युर्ब्रह्म पुराण- चिरंतनं

मग्र्यम् ॥१८॥ अग्रे भवम् निश्चयेन ज्ञातवन्तो

ancient . Primordial Brahman.

तथा अव्याकृत नामक आकाश भी प्रतिष्ठित हैं; उस आत्मा को ही मैं अविनाशी ब्रह्म मानता हूँ (उससे भिन्न आत्मा को मैं नहीं जानता)। अतः मैं इसे जानने वाला ब्रह्मवेत्ता अमृत ही हूँ ॥१७॥

(ब्रह्म की शक्ति से अधिष्ठित नेत्रादि में दर्शन सामर्थ्य होने से) जो उस ब्रह्म को प्राण का प्राण, चक्षु का चक्षु, श्रोत्र का श्रोत्र, मन का मन जानते हैं; वे ही उस पुरातन तथा आगे रहने वाले ब्रह्म को जानते हैं ॥१८॥

गन्धर्वाः पितरो देवा असुरा रक्षांसि, निषादपञ्चमा वा वर्णा **आकाशश्चाव्याकृताख्यो** यस्मिन्सूत्रमोतं च प्रोतं च। यस्मिन्**प्रतिष्ठित** "एतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाशः" इत्युक्तं **तमेवाऽऽत्मानम**मृतं ब्रह्म **मन्येऽहं** न चाह**मात्मानं** ततोऽन्यत्वेन जाने। किं तर्ह्य**मृतोऽहं ब्रह्म विद्वान्**सन्नज्ञानमात्रेण तु मर्त्योऽहमासं, तदपगमाद्विद्वानहममृत एव ॥१७॥

किंच तेन हि चैतन्यात्मज्योतिषाऽवभास्यमानः प्राण आत्मभूतेन प्राणिति तेन प्राणस्यापि प्राणः स तं **प्राणस्य प्राणम्**। तथा **चक्षुषोऽपि चक्षुरुत श्रोत्रस्यापि श्रोत्रम्**। ब्रह्मशक्त्यधिष्ठितानां हि चक्षुरादीनां दर्शनादिसामर्थ्यं न स्वतः, काष्ठलोष्टसमानि हि तानि चैतन्यात्मज्योतिःशून्यानि। **मनसोऽपि मन** इति **ये विदुश्**चक्षुरादिव्यापारानुमितास्तित्वं प्रत्यगात्मानं न विषयभूतं ये विदु**स्ते निचिक्युर्**निश्चयेन ज्ञातवन्तो **ब्रह्म पुराणं** चिरंतन**मग्र्यम**ग्रे भवम्। "तद्यदात्मविदो विदुः" इति ह्याथर्वणे ॥१८॥

मनसैवानुद्रष्टव्यं नेह नानाऽस्ति किंचन।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति॥१९॥

एकधैवानुद्रष्टव्यमेतदप्रमयं ध्रुवम्।
विरजः पर आकाशादज आत्मा महान्ध्रुवः॥२०॥

(परमार्थ ज्ञान से शुद्ध) मन के द्वारा ही आचार्य उपदेशपूर्वक ब्रह्म को देखना चाहिए। उस ब्रह्म में नाना कुछ भी नहीं है, फिर भी जो उसमें नाना के समान देखता है; वह मरण से मरण को प्राप्त करता है अर्थात् अज्ञान के कारण ही उसे बार-बार मरना पड़ता है॥१९॥

आचार्योपदेश के बाद उस ब्रह्म को (आकाश के समान अन्तर बाह्य शून्य एक मात्र विज्ञानघनरूप से ही) देखना चाहिए। यह ब्रह्म किसी प्रमाण का विषय नहीं, ध्रुव, निर्मल, आकश से भी सूक्ष्म, अजन्मा, आत्मा, महान् और अविनाशी है॥२०॥

तद्ब्रह्मदर्शने साधनमुच्यते **मनसैव** परमार्थज्ञानसंस्कृतेनाऽऽचार्योपदेशपूर्वकंचा**नुद्रष्टव्यम्**। तत्र च दर्शनविषये ब्रह्मणि **नेह नानाऽस्ति किंचन** किंचिदपि। असति नानात्वे नानात्वमध्यारोपयत्यविद्यया। **स मृत्योर्म**रणा**न्मृत्युं** मरण**माप्नोति**। कोऽसौ? **य इह नानेव पश्यति**। अविद्याध्यारोपणव्यतिरेकेण नास्ति परमार्थतो द्वैतमित्यर्थः॥१९॥

यस्मादेवं तस्मा**देकधैवै**केनैव प्रकारेण विज्ञानघनैकरसप्रकारेणाऽऽकाशवन्निरन्तरेणा**नुद्रष्टव्यम्**। यस्मा**देतद्**ब्रह्माप्रमेय**मप्रमेयम्**। सर्वैकत्वात्। अन्येन ह्यन्यत्प्रमीयत इदं त्वेकमेवातोऽप्रमेयम्। **ध्रुवं** नित्यं कूटस्थमविचालीत्यर्थः। ननु विरुद्धमिदमुच्यतेऽप्रमेयं ज्ञायत इति च। ज्ञायत इति प्रमाणैर्मीयत इत्यर्थोऽप्रमेयमिति च तत्प्रतिषेधः। नैष दोषः। अन्यवस्तुवदागमातिरिक्तप्रमाणप्रमेयत्वप्रतिषेधार्थत्वात्। यथाऽन्यानि वस्तून्यागमनिरपेक्षैः प्रमाणैर्विषयीक्रियन्ते, न तथैतदात्मतत्त्वं प्रमाणान्तरेण विषयीकर्तुं शक्यते। सर्वस्याऽऽत्मत्वे केन कं पश्येद्विजानीयादिति प्रमातृप्रमाणादिव्यापारप्रतिषेधेनैवाऽऽगमोऽपि विज्ञापयति, न त्वभि-

तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः। नानुध्यायाद्बहूञ्छब्दान्वाचो विग्लापनꣳ हि तदिति ॥२१॥

बुद्धिमान ब्राह्मण को उस ब्रह्म को ही जानकर उसी में बुद्धि लगानी चाहिये। बहुत शब्दों का चिन्तन न करे क्योंकि वह तो वाणी का परिश्रम मात्र ही है॥२१॥

धानाभिधेयलक्षणवाक्यधर्माङ्गीकरणेन। तस्मान्नाऽऽगमेनापि स्वर्गमेर्वादिवत्तत्प्रतिपाद्यते। प्रतिपादयित्रात्मभूतं हि तत्। प्रतिपादयितुः प्रतिपादनस्य प्रतिपाद्यविषयत्वात्। भेदे हि सति तद्भवति।

ज्ञानं च तस्मिन्परात्मभावनिवृत्तिरेव। न तस्मिन्साक्षादात्मभावः कर्तव्यो, विद्यमानत्वादात्मभावस्य। नित्यो ह्यात्मभावः सर्वस्यातद्विषय इव प्रत्यवभासते। तस्मादतद्विषयाभासनिवृत्तिव्यतिरेकेण न तस्मिन्नात्मभावो विधीयते। अन्यात्मभावनिवृत्तावात्मभावः स्वात्मनि स्वाभाविको यः स केवलो भवतीत्यात्मा ज्ञायत इत्युच्यते। स्वतश्चाप्रमेयः प्रमाणान्तरेण न विषयीक्रियत इत्युभयमप्यविरुद्धमेव। **विरजो** विगतरजो रजो नाम धर्माधर्मादिमलं तद्रहित इत्येतत्। **परः** परो व्यतिरिक्तः सूक्ष्मो व्यापी **वाऽऽकाशाद**प्यव्याकृताख्यात्। **अजो** न जायते जन्मप्रतिषेधादुत्तरेऽपि भावविकाराः प्रतिषिद्धाः। सर्वेषांजन्मादित्वात्। **आत्मा महान्परिमाणतो** महत्तरः सर्वस्मात्। **ध्रुवो**ऽविनाशी॥२०॥

तमीदृशमात्मान**मेव धीरो** धीमान्**विज्ञायो**पदेशतः शास्त्रतश्च **प्रज्ञां** शास्त्राचार्योपदिष्टविषयां जिज्ञासापरिसमाप्तिकरीं **कुर्वीत ब्राह्मणः**। एवं प्रज्ञाकरणसाधनानि संन्यासशमदमोपरमतितिक्षासमाधानानि कुर्यादित्यर्थः। **नानुध्याया**न्नानुचिन्तयेद्**बहू**न्प्रभूता**ञ्छब्दान्**। तत्र बहुत्वप्रतिषेधात्केवलात्मैकत्वप्रतिपादकाः स्वल्पाः शब्दा अनुज्ञायन्ते। "ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानम्" "अन्या वाचो विमुञ्चथ" इति चाऽऽथर्वणे। **वाचो विग्लापनं** विशेषेण ग्लानिकरं श्रमकरं **हि** यस्मा**त्तद्**बहुशब्दाभिध्यानमिति॥२१॥

स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः
प्राणेषु य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते
सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः स
न साधुना कर्मणा भूयान्नो एवासाधुना कनी-
यानेष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल
एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसंभेदाय, तमेतं
वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति, यज्ञेन दानेन
तपसाऽनाशकेनैतमेव विदित्वा मुनिर्भवति। एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति। एतद्ध
स्म वै तत्पूर्वे विद्वाꣳसः प्रजां न कामयन्ते किं

यह वह महान् अजन्मा आत्मा है, जो कि यह प्राणों में विज्ञानमय स्वयं ज्योति स्वरूप है। जो यह हृदय में आकाश है उसमें यह पुरुष रहता है। वह सबको अपने वश में करने वाला शासक और सबका अधिपति है। वह न तो शुभ कर्म से बढ़ता है और न अशुभ कर्म से घटता ही है। यह सर्वेश्वर है, यह समस्त भूतों का अधिपति और पालक है। इन भूरादि लोकों की मर्यादा नष्ट न हो, इसीलिये वह इन्हें धारण करने वाले सेतु के समान है। उस इस आत्मा को ब्रह्म जिज्ञासु या जाति से ब्राह्मण लोग वेदों के स्वाध्याय से यज्ञ, दान तथा निष्काम तप से जानना चाहते हैं। इसी को जानकर मुनि हो जाते हैं। इस आत्मलोक को चाहते हुआ त्यागी पुरुष सभी का परित्याग कर संन्यासी हो जाते हैं। इस संन्यास में कारण यह है कि पहले विद्वान् संतान आदि की इच्छा नहीं करते थे, उनका निश्चय था कि हमें प्रजा से क्या लेना है। जिन

सहेतुकौ बंन्धमोक्षावभिहितौ मन्त्रब्राह्मणाभ्यां श्लोकैश्च। पुनर्मोक्षस्वरूपं विस्तरेण प्रतिपादितमेवमेतस्मिन्नात्मविषये सर्वो वेदो यथोपयुक्तो भवति, तत्तथा वक्तव्यमिति तदर्थेयं कण्डिकाऽऽरभ्यते। तच्च यथाऽस्मिन्प्रपाठकेऽभिहितं सप्रयोजन-

प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयं लोक इति
ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणा-
याश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति या ह्येव पुत्रैषणा
सा वित्तैषणा या वित्तैषणा सा लोकैषणोभे ह्येते
एषणे एव भवतः। स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो न
हि गृह्यतेऽशीर्यो न हि शीर्यतेऽसङ्गो न हि सज्यते-
ऽसितो न व्यथते न रिष्यत्येतमु हैवैते न तरत
इत्यतः पापमकरवमित्यतः कल्याणमकरवमित्युभे उ
हैवैष एते तरति नैनं कृताकृते तपतः॥२२॥

हम मोक्षाभिलाषियों को यह आत्मलोक प्राप्त करना ही अभीष्ट है। अतः वे मुमुक्षु पुत्रैषणा, वित्तैषणा तथा लोकैषणा से ऊपर उठकर फिर भिक्षाचर्या कियाँ करते हैं। जो भी पुत्रैषणा है; वह फलतः वित्तैषणा ही है, और जो वित्तैषणा है, वही लोकैषणा है। ये दोनों साध्य-साधन एषणा ही हैं। 'नेति नेति' इत्यादि वाक्य से बतलाया गया वह यह आत्मा अगृह्य है, इसलिये वह ग्रहण नहीं किया जाता। वह अशीर्य है, अतः उसका नाश नहीं होता। वह असंग है, अतएव वह कहीं संसक्त नहीं होता। वह कहीं बँधा हुआ नहीं है, इसीलिये वह दुःखी नहीं होता एवं उसका नाश भी नहीं होता। केवल इस आत्मज्ञानी को ही ये दोनों (धर्माधर्म संबन्धी) हर्ष-शोक नहीं सताते। इसीलिये मैंने पाप किया है, ऐसा पश्चातापः या मैंने पुण्य किया है, ऐसा हर्ष उसे नहीं होता, किन्तु इन दोनों को वह पारकर जाता है। इस तत्त्ववेत्ता का किया हुआ और न किया हुआ नित्य नैमित्तिकादि कर्म (फल प्रदान और प्रत्यवाय के द्वारा) ताप नहीं पहुँचाता॥२२॥

मनूद्यात्रैवोपयोगः कृत्स्नस्य वेदस्य काम्यराशिवर्जितस्येत्येवमर्थ उक्तार्थानुवादः **स वा एष** इत्यादिः। **स** इत्युक्तपरामर्शार्थः। कोऽसावुक्तः परामृश्यतेऽतं प्रति निर्दिशति य **एष** विज्ञानमय इति। अतीतानन्तरवाक्योक्तसंप्रत्ययो मा भूदिति। य एषः। कतम एष इत्युच्यते विज्ञानमयः प्राणेष्विति उक्तवाक्योल्लिङ्गनं संशय-

निवृत्त्यर्थम्। उक्तं हि पूर्वं जनकप्रश्नारम्भे ''कतम आत्मेति योऽयं विज्ञानमय प्राणेषु''इत्यादि।

एतदुक्तं भवति **''योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु''**इत्यादिना वाक्येन प्रतिपादितः स्वयं ज्योतिरात्मा, स एष कामकर्माविद्यानामनात्मधर्मत्वप्रतिपादनद्वारेण मोक्षितः परमात्मभावमापादितः पर एवायं नान्य इत्येष स साक्षान्महानज आत्मेत्युक्तः। **योऽयं विज्ञानमयः प्राणेष्विति** यथाव्याख्यातार्थ एव। **य एषोऽन्तर्हृदये** हृदयपुण्डरीकमध्ये य एष **आकाशो** बुद्धिविज्ञानसंश्रयस्त**स्मिन्ना**काशे बुद्धि-विज्ञानसहिते **शेते** तिष्ठति। अथवा संप्रसादकालेऽन्तर्हृदये य एष आकाशः पर एवाऽऽत्मा निरुपाधिको विज्ञानमयस्य स्वस्वभावस्तस्मिन्स्वस्वभावे परमात्मन्या-काशाख्ये शेते। चतुर्थ एतद्व्याख्यातं ''क्वैष तदाऽभूत्'' इत्यस्य प्रतिवचनत्वेन स **च सर्वस्य** ब्रह्मेन्द्रादे**र्वशी**। सर्वो ह्यस्य वशे वर्तते। उक्तं च ''एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने'' इति। न केवलं वशी **सर्वस्येशान** ईशिता च ब्रह्मेन्द्रप्रभृतीनामीशितृत्वं च कदाचिज्जातिकृतं यथा राजकुमारस्य बलवत्तरानपि भृत्यान्प्रति, तद्वन्मा भूदित्याह **सर्वस्याधिपतिर**धिष्ठाय पालयिता स्वतन्त्र इत्यर्थः। न राजपुत्रवदमात्या-दिभृत्यतन्त्रः।त्रयमप्येतद्वशित्वादिहेतुहेतुमद्रूपम्।

यस्मात्सर्वस्याधिपतिस्ततोऽसौ सर्वस्येशानः। यो हि यमधिष्ठाय पालयति, स तं प्रतीष्टे एवेति प्रसिद्धम्। यस्माच्च सर्वस्येशानस्तस्मात्सर्वस्य वशीति। किञ्चान्य**त्स** एवं भूतो हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषो विज्ञानमयो **न साधुना** शास्त्रविहितेन **कर्मणा भूयान्**भवति न वर्धते पूर्वावस्थातः केनचिद्धर्मेण। **नो एव** शास्त्रप्रतिषिद्धे-**नासाधुना** कर्मणा **कनीयान**ल्पतरो भवति, पूर्वावस्थातो न हीयत इत्यर्थः। किं च सर्वो ह्यधिष्ठानपालनादि कुर्वन्परानुग्रहपीडाकृतेन धर्माधर्माख्येन युज्यतेऽस्यैव तु कथं तदभाव इति? उच्यते—यस्मा**देष सर्वेश्वरः** सन्कर्मणोऽपीशितुं भवत्येव शीलमस्य, तस्मान्न कर्मणा संबध्यते। किंचैष **भूताधिपतिर्**ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तानां भूतानामधिपतिरित्युक्तार्थं पदम्।

स्तम्ब = क्षुद्र जन्तुः Microscopic

एष भूतानां तेषामेव पालयिता रक्षिता। **एष सेतुः**। किंविशिष्टः? इत्याह **विधरणो** वर्णाश्रमादिव्यवस्थाया विधारयिता। तदाहै**षां** भूरादीनां ब्रह्मलोकान्तानां **लोकानामसंभेदाया**संभिन्नमर्यादायै। परमेश्वरेण सेतुवदविधार्यमाणा लोकाः संभिन्नमर्यादाः स्युः। अतो लोकानामसंभेदाय सेतुभूतोऽयं परमेश्वरो यः स्वयं ज्योतिरात्मैव। एवंवित्सर्वस्य वशीत्यादि ब्रह्मविद्यायाः फलमेतन्निर्दिष्टम्। किंज्योतिरयं पुरुष इत्येवमादिषष्ठप्रपाठक विहितायामेतस्यां ब्रह्मविद्यायामेवंफलायां काम्यैकदेशवर्जितं कृत्स्नं कर्मकाण्डं तादर्थ्येन विनियुज्यते। तत्कथमित्युच्यते—**तमेतमे**वंभूतमौपनिषदं पुरुषं **वेदानुवचनेन** मन्त्रब्राह्मणाध्ययनेन नित्यस्वाध्यायलक्षणेन **विविदिषन्ति** वेदितुमिच्छन्ति। के? **ब्राह्मणाः**। ब्राह्मणग्रहणमुपलक्षणार्थम्। अविशिष्टो ह्यधिकारस्त्रयाणां वर्णानाम्। अथवा कर्मकाण्डेन मन्त्रब्राह्मणेन वेदानुवचनेन विविदिषन्ति। कथं विविदिषन्तीत्युच्यते यज्ञेनेत्यादि।

ये पुनर्मन्त्रब्राह्मणलक्षणेन वेदानुवचनेन प्रकाश्यमानं विविदिषन्तीति व्याचक्षते तेषामारण्यकमात्रमेव वेदानुवचनं स्यात्। न हि कर्मकाण्डेन पर आत्मा प्रकाश्यते। तं त्वौपनिषदमिति विशेषश्रुतेः। वेदानुवचनेनेति चाविशेषितत्वात्समस्तग्राहीदं वचनम्। न च तदेकदेशोत्सर्गो युक्तः। ननु त्वत्पक्षेऽप्युपनिषद्वर्जमित्येकदेशत्वं स्यात्। न आऽऽद्यव्याख्यानेऽविरोधादस्मत्पक्षे नैष दोषो भवति। यदा वेदानुवचनशब्देन नित्यः स्वाध्यायो विधीयते, तदोपनिषदपि परिगृहीतैवेति वेदानुवचनशब्दार्थैकदेशो न परित्यक्तो भवति। यज्ञादिसहपाठाच्च। यज्ञादीनि कर्माण्येवानुक्रमिष्यन्वेदानुवचनशब्दं प्रयुङ्क्ते। तस्मात्कर्मैव वेदानुवचनशब्देनोच्यत इति गम्यते। कर्म हि नित्यस्वाध्यायः। कथं पुनर्नित्यस्वाध्यायादिभिः कर्मभिरात्मानं विविदिषन्ति? नैव हि तान्यात्मानं प्रकाशयन्ति यथोपनिषदः। नैष दोषः—कर्मणां विशुद्धिहेतुत्वात्। कर्मभिः संस्कृता हि विशुद्धात्मानः शक्नुवन्त्यात्मानमुपनिषत्प्रकाशितमप्रतिबन्धेन वेदितुम्। तथा ह्याथर्वणे— ''विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः'' इति। स्मृतिश्च ''ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः'' इत्यादिः।

कथं पुनर्नित्यानि कर्माणि संस्कारार्थानीत्यवगम्यते ? ''स ह वा आत्मयाजी यो वेदेदं मेऽनेनाङ्गं संस्क्रियत इदं मेऽनेनाङ्गमुपधीयते'' इत्यादिश्रुतेः। सर्वेषु च स्मृतिशास्त्रेषु कर्माणि संस्कारार्थान्येवाऽऽचक्षतेऽष्टाचत्वारिंशत्संस्कारा इत्यादिषु। गीतासु च—

''यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्''।
''सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः''।

इति। यज्ञेनेति द्रव्ययज्ञा ज्ञानयज्ञाश्च संस्कारार्थाः। संस्कृतस्य च विशुद्धसत्त्वस्य ज्ञानोत्पत्तिरप्रतिबन्धेन भविष्यत्यतो **यज्ञेन** विविदिषन्ति **दानेन**। दानमपि पापक्षयहेतुत्वाद्धर्मवृद्धिहेतुत्वाच्च। **तपसा** तप इत्यविशेषेण कृच्छ्रचान्द्रायणादिप्राप्तौ विशेषणम**नाशकेने**ति। कामानशनमनाशकं न तु भोजननिवृत्तिः। भोजननिवृत्तौ म्रियत एव नाऽऽत्मवेदनम्।

वेदानुवचनयज्ञदानतपःशब्देन सर्वमेव नित्यं कर्मोपलक्ष्यते। एवं काम्यवर्जितं नित्यं कर्मजातं सर्वमात्मज्ञानोत्पत्तिद्वारेण मोक्षसाधनत्वं प्रतिपद्यते। एवं कर्मकाण्डेनास्यैकवाक्यतावगतिः। एवं यथोक्तेन न्यायेनैतमेवाऽऽत्मानं विदित्वा यथाप्रकाशितं मुनिर्भवति, मननान्मुनिर्योगी भवतीत्यर्थः। **एतमेव विदित्वा मुनिर्भवति** नान्यम्। नन्वन्यवेदनेऽपि मुनित्वं स्यात्कथमवधार्यत एतमेवेति? बाढमन्यवेदनेऽपि मुनिर्भवेत्। किंत्वन्यवेदने न मुनिरेव स्यात्किं तर्हि कर्म्यपि भवेत्सः। एतं त्वौपनिषदं पुरुषं विदित्वा मुनिरेव स्यान्न तु कर्मी। अतोऽसाधारणं मुनित्वं विवक्षितमस्येत्यवधारयत्येतमेवेति। एतस्मिन्हि विदिते केन कं पश्येदित्येवं क्रियासंभवान्मननमेव स्यात्। किं **चैतमेवाऽऽ**त्मानं स्वं **लोकमिच्छन्तः** प्रार्थयन्तः **प्रव्राजिनः** प्रव्रजनशीलाः **प्रव्रजन्ति** प्रकर्षेण व्रजन्ति सर्वाणि कर्माणि संन्यस्यन्तीत्यर्थः।

एतमेव लोकमिच्छन्त इत्यवधारणान्न बाह्यलोकत्रयेप्सूनां पारिव्राज्येऽधिकार इति गम्यते। न हि गङ्गाद्वारं प्रतिपित्सुः काशीदेशनिवासी पूर्वाभिमुखः प्रैति।

तस्माद्बाह्यलोकत्रयार्थिनां पुत्रकर्मापरब्रह्मविद्याः साधनम्। "पुत्रेणायं लोको जय्यो नान्येन कर्मणा" इत्यादिश्रुतेः। अतस्तदर्थिभिः पुत्रादिसाधनं प्रत्याख्याय न पारिव्राज्यं प्रतिपत्तुं युक्तम्। अतत्साधनत्वात्पारिव्राज्यस्य। तस्मादेतमेव लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्तीति युक्तमवधारणम्। आत्मलोकप्राप्तिर्ह्यविद्यानिवृत्तौ स्वात्मन्यवस्थानमेव। तस्मादात्मानं चेल्लोकमिच्छति यस्तस्य सर्वक्रियोपरम एवाऽऽत्मलोकसाधनं मुख्यमन्तरङ्गम्। यथा पुत्रादिरेव बाह्यलोकत्रयस्य। पुत्रादिकर्मण आत्मलोकं प्रत्यसाधनत्वात्। असंभवेन च विरुद्धत्वमवोचाम। तस्मादात्मानं लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्त्येव सर्वक्रियाभ्यो निवर्तेरन्नेवेत्यर्थः। यथा च बाह्यलोकत्रयार्थिनः प्रतिनियतानि पुत्रादीनि साधनानि विहितान्येवमात्मलोकार्थिनः सर्वैषणानिवृत्तिः पारिव्राज्यं ब्रह्मविदो विधीयत एव।

कुतः पुनस्त आत्मलोकार्थिनः प्रव्रजन्त्येवेत्युच्यते? तत्रार्थवादवाक्यरूपेण हेतुं दर्शयति। **एतद्ध स्म वै तत्**। तदेतत्पारिव्राज्ये कारणमुच्यते—**ह स्म वै** किल **पूर्वे**ऽतिक्रान्तकालीना **विद्वांस** आत्मज्ञाः **प्रजां** कर्मापरब्रह्मविद्यां च। प्रजोपलक्षितं हि त्रयमेतद्बाह्यलोकत्रयसाधनं निर्दिश्यते प्रजामिति। प्रजां किं **न कामयन्ते** पुत्रादिलोकत्रयसाधनं नानुतिष्ठन्तीत्यर्थः। नन्वपरब्रह्मदर्शनमनुतिष्ठन्त्येव। तद्बलाद्धि व्युत्थानम्। न, अपवादात्। ब्रह्म "तं परादाद्योऽन्यत्राऽऽत्मनो ब्रह्म वेद" सर्वं तं परादादित्यपरब्रह्मदर्शनमप्यपवदत्येव। अपरब्रह्मणोऽपि सर्वमध्यान्तर्भावात्। यत्र नान्यत्पश्यतीति च। पूर्वापरबाह्यान्तरदर्शनप्रतिषेधाच्चापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यमिति। "तत्केन कं पश्येद्विजानीयात्"इति च। तस्मान्नाऽऽत्मदर्शनव्यतिरेकेणान्यद्व्युत्थानकारणमपेक्ष्यते।

कः पुनस्तेषामभिप्राय इत्युच्यते **किं** प्रयोजनं फलं साध्यं **करिष्यामः प्रजया** साधनेन। प्रजा हि बाह्यलोकसाधनं निर्ज्ञाता। स च बाह्यलोको नास्त्यस्माकमात्मव्यतिरिक्तः। सर्वं ह्यस्माकमात्मभूतमेव, सर्वस्य च वयमात्मभूताः। आत्मा च नः आत्मत्वादेव न केनचित्साधनेनोत्पाद्य आप्यो विकार्यः संस्कार्यो वा। यदप्यात्मयाजिनः संस्कारार्थं कर्मेति तदपि कार्यकरणात्मदर्शनविषयमेव। इदं

मेऽनेनाङ्गं संस्क्रियत इत्यङ्गाङ्गित्वादिश्रवणात्। न हि विज्ञानघनैकरसनैरन्तर्यदर्शिनोऽङ्गाङ्गिसंस्कारोपधानदर्शनं संभवति। तस्मान्न किंचित्प्रजादिसाधनैः करिष्यामः। अविदुषां हि तत्प्रजादिसाधनैः कर्तव्यं फलम्। न हि मृगतृष्णिकायामुदकपानाय तदुदकदर्शी प्रवृत्त इति तत्रोषरमात्रमुदकाभावं पश्यतोऽपि प्रवृत्तिर्युक्ता। एवमस्माकमपि परमार्थात्मलोकदर्शिनां प्रजादिसाधनसाध्ये मृगतृष्णिकादिसमेऽविद्वद्दर्शनविषये न प्रवृत्तिर्युक्तेत्यभिप्रायः।

तदेतदुच्यते—**येषामस्माकं** परमार्थदर्शिनां **नोऽयमात्मा**ऽशनायादिविनिर्मुक्तः साध्वसाधुभ्यामविकार्यो**ऽयं लोकः** फलमभिप्रेतम्। न चास्याऽऽत्मनः साध्यसाधनादिसर्वसंसारधर्मविनिर्मुक्तस्य साधनं किंचिदेषितव्यम्। साध्यस्य हि साधनान्वेषणा क्रियते। असाध्यस्य साधनान्वेषणायां हि जलबुद्ध्या स्थल इव तरणं कृतं स्यात्। खे वा शाकुनपदान्वेषणम्। तस्मादेतमात्मानं विदित्वा प्रव्रजेयुरेव ब्राह्मणा न कर्माऽऽरभेरन्नित्यर्थः। यस्मात्पूर्वे ब्राह्मणा एवं विद्वांसः प्रजाम्कामयमानाः।

विविदिशा - ज्ञान का साधन
विद्वत्संन्यास = ज्ञान का फल

ते एवं साध्यसाधनसंव्यवहारं निन्दन्तोऽविद्वद्विषयोऽयमिति कृत्वा किं कृतवन्त इत्युच्यते—**ते ह स्म** किल **पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ती**त्यादि व्याख्यातम्। तस्मादात्मानं लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति प्रव्रजेयुरित्येष विधिरर्थवादेन संगच्छते। न हि सार्थवादस्यास्य लोकस्तुत्याभिमुख्यमुपपद्यते। प्रव्रजन्तीत्यस्यार्थवादरूपो ह्येतद्ध स्मेत्यादिरुत्तरो ग्रन्थः। अर्थवादश्चेन्नार्थवादान्तरमपेक्षेत। अपेक्षते त्वेतद्ध स्मेत्याद्यर्थवादं प्रव्रजन्तीत्येतत्।

यस्मात्पूर्वे विद्वांसः प्रजादिकर्मभ्यो निवृत्ताः प्रव्रजितवन्त एव, तस्मादधुनातना अपि प्रवजन्ति प्रव्रजेयुरित्येव संबध्यमानं न लोकस्तुत्यभिमुखं भवितुमर्हति। विज्ञानसमानकर्तृकत्वोपदेशादित्यादिनाऽवोचाम। वेदानुवचनादिसहपाठाच्च। यथाऽऽत्मवेदनसाधनत्वेन विहितानां वेदानुवचनादीनां यथार्थत्वमेव नार्थवादत्वं, तथा तैरेव

सह पठितस्य पारिव्राज्यस्याऽऽत्मलोकप्राप्तिसाधनत्वेनार्थवादत्वमयुक्तम्। फलविभागोपदेशाच्च। एतमेवाऽऽत्मानं लोकं विदित्वेत्यन्यस्माद्बाह्याल्लोकादात्मानं फलान्तरत्वेन प्रविभजति। यथा "पुत्रेणैवायं लोको जय्यो नान्येन कर्मणा, कर्मणा पितृलोक" इति। न च प्रव्रजन्तीत्येतत्प्राप्तवल्लोकस्तुतिपरम्। प्रधानवच्चार्थवादापेक्षम्। सकृच्छ्रुतं स्यात्। तस्माद्भ्रान्तिरेवैषा लोकस्तुतिपरमिति।

न चानुष्ठेयेन पारिव्राज्येन स्तुतिरुपपद्यते। यदि पारिव्राज्यमनुष्ठेयमपि सदन्यस्तुत्यर्थं स्याद्दर्शपूर्णमासादीनामप्यनुष्ठेयानां स्तुत्यर्थता स्यात्। न चान्यत्र कर्तव्यतैतस्माद्विषयान्निर्ज्ञाता यत इह स्तुत्यर्थो भवेत् यदि पुनः क्वचिद्विधिः परिकल्प्येत, पारिव्राज्यस्य स इहैव मुख्यो नान्यत्र संभवति। यदप्यनधिकृतविषये पारिव्राज्यं परिकल्प्यते, तत्र वृक्षाद्यारोहणाद्यपि पारिव्राज्यवत्कल्प्येत। कर्तव्यत्वेनानिर्ज्ञातत्वाविशेषात्। तस्मात्स्तुतित्वगन्धोऽप्यत्र न शक्यः कल्पयितुम्।

यद्ययमात्मा लोक इष्यते, किमर्थं तत्प्राप्तिसाधनत्वेन कर्माण्येव नाऽऽरभेरन्किं पारिव्राज्येनेति? अत्रोच्यते—अस्याऽऽत्मलोकस्य कर्मभिरसंबन्धात्। यमात्मानमिच्छन्तः प्रव्रजेयुः स आत्मा साधनत्वेन फलत्वेन चोत्पाद्यत्वादिप्रकाराणामन्यतमत्वेनापि कर्मभिर्न संबध्यते। तस्मात्स **एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो, न हि गृह्यत** इत्यादिलक्षणः। यस्मादेवंलक्षण आत्मा कर्मफलसाधनासंबन्धी सर्वसंसारधर्मविलक्षणोऽशनायाद्यतीतोऽस्थूलादिधर्मवानजोऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयः सैन्धवघनवद्विज्ञानैकरसस्वभावः स्वयंज्योतिरेक एवाद्वयोऽपूर्वोऽनपरोऽनन्तरोऽबाह्य इत्येतदागमतस्तर्कतश्च स्थापितं विशेषतश्चेह जनकयाज्ञवल्क्यसंवादेऽस्मिंस्तस्मादेवंलक्षण आत्मनि विदिते आत्मत्वेन नैव कर्मारम्भ उपपद्यते। तस्मादात्मा निर्विशेषः। न हि चक्षुष्मान्पथि प्रवृत्तोऽहनि कूपे कण्टके वा पतति। कृत्स्नस्य च कर्मफलस्य विद्याफलेऽन्तर्भावात्। न चायत्नप्राप्ये वस्तुनि विद्वान्यत्नमातिष्ठति।

"अङ्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत्।
इष्टस्यार्थस्य संप्राप्तौ को विद्वान्यत्नमाचरेत्"॥
"सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते"।

तदेतदृचाऽभ्युक्तम्। एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न वर्धते कर्मणा नो कनीयान्। तस्यैव स्यात्पदवित्तं

ब्राह्मण के द्वारा कही गयी यह बात मन्त्र द्वारा भी प्रकाशित की गयी है। 'नेति नेति' इत्यादि श्रुति द्वारा लक्षित यह ब्रह्मदर्शी की नित्य महिमा है। (दूसरी महिमा यह है

इति गीतासु। इहापि चैतस्यैव परमानन्दस्य ब्रह्मवित्प्राप्यस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्तीत्युक्तम्। अतो ब्रह्मविदां न कर्मारम्भः।

यस्मात्सर्वैषणाविनिवृत्तः स एष नेति नेत्यात्मानमात्मत्वेनोपगम्य तद्रूपेणैव वर्तते, तस्मा**देतमेवं**विदं नेति नेत्यात्मभूतमु **हैवैते** वक्ष्यमाणे **न तरतो** न प्राप्नुत **इति** युक्तमेवेति वाक्यशेषः। के ते इत्युच्यते— **अतो**ऽस्मान्निमित्ताच्छरीरधारणादिहेतोः **पापम**पुण्यं **कर्माकरवं** कृतवानस्मि कष्टं खलु मम वृत्तमनेन पापेन कर्मणाऽहं नरकं प्रतिपत्स्ये इति योऽयं पश्चात्तापं कर्म कृतवतः परितापः स एनं नेति नेत्यात्मभूतं न तरति। तथा**ऽतः कल्याणं** फलविषयकामान्निमित्ताद्यज्ञदानादिलक्षणं पुण्यं शोभनं कर्म कृतवानस्मि। अतोऽहमस्य फलं सुखमुपभोक्ष्ये देहान्तरे इत्येषोऽपि हर्षस्तं न तरति। **उभे उ हैवेष** ब्रह्मवि**देते** कर्मणी **तरति** पुण्यपापलक्षणे।

एवं ब्रह्मविदः संन्यासिन उभे अपि कर्मणी क्षीयेते पूर्वजन्मनि कृते ये, ते इह जन्मनि कृते ये, ते चापूर्वे च नाऽऽरभ्येते। किंच **नैनं कृताकृते** कृतं नित्यानुष्ठानमकृतं तस्यैवाक्रिया त अपि कृताकृते एनं न **तपतः**। अनात्मज्ञं हि कृतं फलदानेनाकृतं प्रत्यवायोत्पादनेन तपतः। अयं तु ब्रह्मविदात्मविद्याग्निना सर्वाणि कर्माणि भस्मीकरोति। ''यथैधांसि समिद्धोऽग्निः'' इत्यादिस्मृतेः। शरीरारम्भकयोस्तूपभोगेनैव क्षयः। अतो ब्रह्मविदकर्मसंबन्धी॥२२॥

तदेतद्वस्तु ब्राह्मणेनोक्त**मृचा** मन्त्रेणा**भ्युक्तं** प्रकाशितम्। **एष** नेति

विदित्वा न लिप्यते कर्मणा पापकेनेति। तस्मादेवं-
विच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वा-
ऽऽत्मन्येवाऽऽत्मानं पश्यति सर्वमात्मानं पश्यति नैनं
पाप्मा तरति सर्वं पाप्मानं तरति नैनं पाप्मा तपति
सर्वं पाप्मानं तपति विपापो विरजोऽविचिकित्सो
ब्राह्मणो भवत्येष ब्रह्मलोकः सम्राडेनं प्रापितोऽसीति
होवाच याज्ञवल्कयः सोऽहं भगवते विदेहान्ददामि मां
चापि सह दास्यायेति॥२३॥

कि) जो कर्म से न तो घटती है और न बढ़ती ही है। अतः उस महिमा के स्वरूप को जानने वाला होना चाहिए। उसे जानकर पुरुष धर्माधर्म रूप कर्म से लिप्त नहीं होता। अतः ऐसा जानने वाला बाह्य इन्द्रिय व्यापार से शान्त अन्तःकरण की तृष्णा से रहित होने के कारण दान्त, सम्पूर्ण एषणाओं से उपरत, द्वन्द्व को सहन करने वाला तितिक्षु और समाहित चित्त हो आत्मा में ही आत्मा को देखता है। सभी को आत्मा देखता है। उसे धर्माधर्म रूप पाप का स्पर्श नहीं होता। यह सम्पूर्ण पापों को पार कर जाता है। इसे पाप और ताप दुःखी नहीं करते, बल्कि यही सम्पूर्ण पापों को संतप्त करता रहता है। यह पाप रहित, कामनारहित एवं संशयरहित ब्रह्मवेत्ता हो जाता है। हे राजन्! यही ब्रह्मलोक है, इस लोक में तुम पहुँचा दिये गये हो— ऐसा याज्ञवल्क्य से जनक से कहा। तब जनक ने कहा— वह मैं आप श्रीमान् को विदेह देश देता हूँ, साथ ही अपने आपको भी दास कर्म के लिये समर्पित करता हूँ॥२३॥

नेत्यादिलक्षणो नित्यो महिमा। अन्ये तु महिमानः कर्मकृता इत्यनित्याः। अयं तु तद्विलक्षणो महिमा स्वाभाविकत्वान्नित्यो ब्रह्मविदो **ब्राह्मणस्य** त्यक्तसर्वैषणस्य। कुतोऽस्य नित्यत्वमिति हेतुमाह— **कर्मणा न वर्धते** शुभलक्षणेन कृतेन वृद्धि-लक्षणां विक्रियां न प्राप्नोति। अशुभेन कर्मणा **नो कनीयान्** नाप्यपक्षयलक्षणां

विक्रियां प्राप्नोति। उपचयापचयहेतुभूता एव हि सर्वा विक्रिया इत्येताभ्यां प्रतिषिध्यन्ते। अतोऽविक्रियत्वान्नित्य एष महिमा। तस्मात्त**स्यैव** महिम्नः **स्याद्भवेत्पदवित्पदस्य** वेत्ता पद्यते गम्यते ज्ञायत इति महिम्नः स्वरूपमेव पदं तस्य पदस्य वेदिता। किं तत्पदवेदनेन स्यादित्युच्यते—**तं विदित्वा** महिमानं **न लिप्यते** न संबध्यते **कर्मणा पापकेन** धर्माधर्मलक्षणेनोभयमपि पापकमेव विदुषः।

यस्मादेवमकर्मसंबन्ध्येष ब्राह्मणस्य महिमा नेति नेत्यादिलक्षणस्त**स्मादेवंविच्छान्तो** बाह्येन्द्रियव्यापारतः उपशान्तस्तथा **दान्तो**ऽन्तःकरणतृष्णातो निवृत्त **उपरतः** सर्वैषणाविनिर्मुक्तः संन्यासी **तितिक्षु**र्द्वंद्वसहिष्णुः **समाहित** इन्द्रियान्तःकरणचलनरूपाद्व्यावृत्त्यैकाग्र्यरूपेण समाहितो **भूत्वा**। तदेतदुक्तं पुरस्ताद्बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्येति। **आत्मन्येव** स्वे कार्यकरणसंघात **आत्मानं** प्रत्यक्चेतयितारं **पश्यति**। तत्र किं तावन्मात्रं परिच्छिन्नं ? नेत्युच्यते— **सर्वं** समस्त**मात्मानमेव पश्यति** नान्यदात्मव्यतिरिक्तं बालाग्रमात्रमप्यस्तीत्येवं पश्यति। मननान्मुनिर्भवति जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्याख्यं स्थानत्रयं हित्वा। एवं पश्यन्तं ब्राह्मणं **नैनं पाप्मा** पुण्यपापलक्षण**स्तरति** न प्राप्नोति। अयं तु ब्रह्मवित्**सर्वं पाप्मानं तरत्या**त्मभावेनैव व्याप्नोत्यतिक्रामति। **नैनं पाप्मा** कृताकृतलक्षणस्**तपती**ष्टफलप्रत्यवायोत्पादनाभ्याम्। **सर्वं पाप्मानमयं तपति** ब्रह्मवित्सर्वात्मदर्शनवह्निना भस्मीकरोति। स एष एवंविद्**विपापो** विगतधर्माधर्मो **विरजो** विगतरजो रजः कामो विगतकामो**ऽविचिकित्सश्**छिन्नसंशयोऽहमस्मि सर्वात्मा परं ब्रह्मेति निश्चितमति**र्ब्राह्मणो भवति**।

अयं त्वेवंभूत एतस्यामवस्थायां मुख्यो ब्राह्मणः प्रागेतस्माद्ब्रह्मस्वरूपावस्थानाद्गौणमस्य ब्राह्मण्यम्। **एष ब्रह्मलोको** ब्रह्मैव लोको ब्रह्मलोको मुख्यो निरुपचरितः सर्वात्मभावलक्षणो हे **सम्राट्। एनं** ब्रह्मलोकं **परिप्रापितोऽस्यभयं** नेति नेत्यादिलक्षण**मिति होवाच याज्ञवल्क्यः**।

एवं ब्रह्मभूतो जनको याज्ञवल्क्येन ब्रह्मभावमापादितः प्रत्याह— **सोऽहं** त्वया ब्रह्मभावमापादितः **स भगवते** तुभ्यं **विदेहान्**देशान्मम राज्यं समस्तं

स वा एष महानज आत्माऽन्नादो वसुदानो विन्दते वसु य एवं वेद॥२४॥

स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयो

वह यह महान् अजन्मा ही समस्त अन्नों को भोक्ता एवं सम्पूर्ण भूतों का कर्म फल दाता है। जो कोई इस रूप से ब्रह्म की उपासना करता है; उसे सम्पूर्ण कर्मों का फल प्राप्त होता है॥२४॥

वही यह अजन्मा आत्मा, महान्, अजर, अमर, अमृत एवं अभय ब्रह्मरूप है। अभय

ददामि मां च सह विदेहै**र्दास्याय** दासकर्मणे ददामीति चशब्दात्संबध्यते। परिसमापिता ब्रह्मविद्या सह संन्यासेन साङ्गा सेतिकर्तव्यताका। परिसमाप्तः परम-पुरुषार्थः। एतावत्पुरुषेण कर्तव्यमेषा निष्ठैषा परा गतिरेतन्निःश्रेयसमेतत्प्राप्य कृतकृत्यो ब्राह्मणो भवत्येतत्सर्ववेदानुशासनमिति॥२३॥

योऽयं जनकयाज्ञवल्क्याख्यायिकायां व्याख्यात आत्मा **स वा एष महानज आत्माऽन्नादः** सर्वभूतस्थः सर्वान्नानामत्ता **वसुदानो** वसु धनं सर्वप्राणिकर्मफलं तस्य दाता प्राणिनां यथाकर्मफलेन योजयितेत्यर्थः। तमेतमजमन्नादं वसुदानमात्मानमन्नादवसुदानगुणाभ्यां युक्तं यो वेद स सर्वभूतेष्वात्मभूतोऽन्नमत्ति **विन्दते** च **वसु** सर्वं कर्मफलजातं लभते सर्वात्मत्वादेव, **य एवं** यथोक्तं **वेद**। अथवा दृष्टफलार्थिभिरप्येवंगुण उपास्यः। तेनान्नादो वसोश्च लब्धा दृष्टेनैव फलेनान्नात्तृत्वेन गोऽश्वादिना चास्य योगो भवतीत्यर्थः॥२४॥

इदानीं समस्तस्यैवाऽऽरण्यकस्य योऽर्थ उक्तः स समुच्चित्यास्यां कण्डिकायां निर्दिश्यत एतावान्समस्तारण्यकार्थ इति। **स वा एष महानज आत्माऽजरो** न जीर्यत इति न विपरिणमत इत्यर्थः। **अमरो** यस्माच्चाजरस्तस्मादमरो न म्रियत इत्यमरः। यो हि जायते जीर्यते च, स विनश्यति म्रियते च। अयं त्वजत्वादजर

ब्रह्माभयं वै ब्रह्माभयꣳहि वै ब्रह्म भवति य एवं वेद ॥२५॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि चतुर्थाध्यायस्य शारीरनामचतुर्थं ब्राह्मणम् ॥४॥

ही ब्रह्म है। जो कोई उक्त आत्मा को अभय ब्रह्म समझता है; वह अभय ब्रह्मस्वरूप ही हो जाता है, इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं॥२५॥

॥ इति चतुर्थ ब्राह्मणम् ॥

त्वाच्चाविनाशी यतोऽत **एवामृतः**। यस्माज्जनिप्रभृतिभिस्त्रिभिर्भावविकारैर्वर्जितस्तस्मादितरैरपि भावविकारैस्त्रिभिस्तत्कृतैश्च कामकर्ममोहादिभिर्मृत्युरूपैर्वर्जित इत्येतत्। **अभयो**ऽत एव। यस्माच्चैवं पूर्वोक्तविशेषणस्तस्माद्भयवर्जितः। भयं चाविद्याकार्यं तत्कार्यप्रतिषेधेन भावविकारप्रतिषेधेन चाविद्यायाः प्रतिषेधः सिद्धो वेदितव्यः। अभय आत्मैवंगुणविशिष्टः किमसौ **ब्रह्म** परिवृढं निरतिशयं महदित्यर्थः। **अभयं वै ब्रह्म**। प्रसिद्धमेतल्लोकेऽभयं ब्रह्मेति। तस्माद्युक्तमेवंगुणविशिष्ट आत्मा ब्रह्मेति।

य एवं यथोक्तमात्मानमभयं ब्रह्म **वेद** सोऽ**भयं हि वै ब्रह्म भवति**। एष सर्वस्या उपनिषदः संक्षिप्तोऽर्थ उक्तः। एतस्यैवार्थस्य सम्यक्प्रबोधायोत्पत्तिस्थितिप्रलयादिकल्पना क्रियाकारकफलाध्यारोपणा चाऽऽत्मनि कृता, तदपोहेन च नेति नेतीत्यध्यारोपितविशेषापनयद्वारेण पुनस्तत्त्वमावेदितम्। यथैकप्रभृत्यापरार्धसंख्यास्वरूपपरिज्ञानाय रेखाध्यारोपणं कृत्वैकेयं रेखा दशेयं शतेयं सहस्रेयमिति-ग्राहयत्यवगमयति संख्यास्वरूपं केवलं न तु संख्याया रेखात्मत्वमेव यथा चाकारादीन्यक्षराणि विजिग्राहयिषुः पत्रमषीरेखादिसंयोगोपायमास्थाय वर्णानां सतत्त्वमावेदयति न पत्रमष्याद्यात्मतामक्षराणां ग्राहयति, तथा चेहोत्पत्त्याद्यनेकोपायमास्थायैकं

* विद्या प्रचार के लिये सूर्य ने कहा गृहस्थाश्रम स्वीकार करो.
अनेक आवश्यकतायें – धन सम्पर्क एवं विद्याप्रचार.
संन्यास लेकर जंगल में रहने से विद्याप्रचार नहीं होगा.

(याज्ञवल्क्य को संन्यास की इच्छा.)

।अथ चतुर्थाध्यायस्य मैत्रेयीनामपञ्चमं ब्राह्मणम्।

अथ ह याज्ञवल्क्यस्य द्वे भार्ये बभूवतुर्मैत्रेयी च कात्यायनी च तयोर्ह मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी बभूव स्त्रीप्रज्ञैव

(a) लिङ्ग संन्यास = जीवन्मुक्ति का विलक्षण आनन्दानुभव के लिये. (b) अलिङ्ग संन्यास.

यह बात प्रसिद्ध है कि याज्ञवल्क्य महर्षि की मैत्रेयी तथा कात्यायनी नाम वाली ये दो स्त्रियाँ थीं। उनमें मैत्रेयी ब्रह्मचर्चा करने वाली थी और कात्यायनी स्त्रियों की-सी

ब्रह्मतत्त्वमावेदितम्। पुनस्तत्कल्पितोपायजनितविशेषपरिशोधनार्थं नेति नेतीति तत्त्वोपसंहारः कृतः। तदुपसंहृतं पुनः परिशुद्धं केवलमेव, सफलं ज्ञानमभिहितमन्तेऽस्यां कण्डिकायामिति॥२५॥

इति श्रीमद्बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये चतुर्थाध्यायस्य शारीरनामचतुर्थं ब्राह्मणम्॥४॥

॥इत्येकविंशाह्निकम्॥२१॥

❀❀❀

आगमप्रधानेन मधुकाण्डेन ब्रह्मतत्त्वं निर्धारितम्। पुनस्तस्यैवोपपत्तिप्रधानेन याज्ञवल्कीयेन काण्डेन पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहं कृत्वा विगृह्यवादेन विचारितम्। शिष्याचार्यसंबन्धेन च षष्ठे प्रश्नप्रतिवचनन्यायेन सविस्तरं विचार्योपसंहृतम्। अथेदानीं निगमनस्थानीयं मैत्रेयीब्राह्मणमारभ्यते। अयं च न्यायो वाक्यकोविदैः परिगृहीतो हेत्वपदेशात्प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनमिति। अथवाऽऽगमप्रधानेन मधुकाण्डेन यदमृतत्वसाधनं ससंन्यासमात्मज्ञानमभिहितं, तदेव तर्केणाप्यमृतत्वसाधनं ससंन्यासमात्मज्ञानमधिगम्यते। तर्कप्रधानं हि याज्ञवल्कीयं काण्डम्। तस्माच्छास्त्रतर्काभ्यां निश्चितमेतद्यदेतदात्मज्ञानं ससंन्यासममृतत्वसाधनमिति। तस्माच्छास्त्रश्रद्धावद्भिरमृतत्वप्रतिपित्सुभिरेतत्प्रतिपत्तव्यमिति। आगमोपपत्तिभ्यां हि निश्चितोऽर्थः श्रद्धेयो भवत्यव्यभिचारादिति। अक्षराणां तु चतुर्थे यथा व्याख्यातोऽर्थस्तथा प्रतिपत्तव्योऽत्रापि। यान्यक्षराण्यव्याख्यातानि, तानि व्याख्यास्यामः।

अथेति हेतूपदेशानन्तर्यप्रदर्शनार्थः। हेतुप्रधानानि हि वाक्यान्यतीतानि।

तर्हि कात्यायन्यथ ह याज्ञवल्क्योऽन्यद्वृत्तमुपाकरिष्यन्॥१॥ (याज्ञवल्क्य मैत्रेयी संवाद)

मैत्रेयीति होवाच याज्ञवल्क्यः प्रव्रजिष्यन्वा अरेऽहमस्मात्स्थानादस्मि हन्त तेऽनया कात्यायन्याऽन्तं करवाणीति॥२॥

(गृहसंबन्धी प्रयोजन) बुद्धिवाली थी। ऐसी स्थिति में याज्ञवल्क्य गार्हस्थ्य जीवन से भिन्न संन्यासचर्या को आरम्भ करना चाहते थे॥१॥

हे मैत्रेयी! इस प्रकार याज्ञवल्क्य ने (बड़ी पत्नी को लक्ष्य करके) कहा— मैं इस गार्हस्थ्य जीवन से अन्यत्र सब कुछ त्याग कर जाना चाहता हूँ यानी संन्यास लेना चाहता हूँ। अतः तुम्हारी अनुमति लेना चाहता हूँ, तुम चाहो तो इस कात्यायनी के साथ तुम्हारा बँटवारा कर दूँ॥२॥

तदनन्तरमागमप्रधानेन प्रतिज्ञातोऽर्थो निगम्यते मैत्रयीब्राह्मणेन। हशब्दो वृत्तावद्योतकः। **याज्ञवल्क्यस्यर्षेः** किल **द्वे भार्ये** पत्न्यौ **बभूवतुरास्तां मैत्रेयी च** नामत एकाऽपरा **कात्यायनी** नामतः। **तयोर्भार्ययोर्मैत्रेयी ह** किल **ब्रह्मवादिनी** ब्रह्मवदनशीला **बभूवाऽऽसीत्। स्त्रीप्रज्ञा** स्त्रियां योचिता सा स्त्रीप्रज्ञा सैव यस्याः प्रज्ञा गृहप्रयोजनान्वेषणालक्षणा सा**स्त्रीप्रज्ञैव तर्हि** तस्मिन्काल आसीत्**कात्यायनी। अथैवं** सति **ह** किल **याज्ञवल्क्योऽन्यत्**पूर्वस्माद्गार्हस्थ्यलक्षणाद्वृत्तात्पारिव्राज्यलक्षणं **वृत्तमुपाकरिष्यन्**नुपाचिकीर्षुः सन्॥१॥

हे **मैत्रेयीति** ज्येष्ठां भार्यामामन्त्रयामास। आमन्त्र्य **चोवाच ह प्रव्रजिष्यन्**पारिव्राज्यं करिष्य**न्वा अरे** मैत्रेय्य**स्मात्स्थाना**द्गार्हस्थ्याद**हमस्मि** भवामि। मैत्रेय्यनुजानीहि मां **हन्त**ेच्छसि यदि **तेऽनया कात्यायन्याऽन्तं करवाणी**त्यादि व्याख्यातम्॥२॥

सा होवाच मैत्रेयी यन्नु म इयं भगोः सर्वा पृथिवी वित्तेन पूर्णा स्यात्स्यां न्वहं तेनामृताऽऽहो३ नेति नेति होवाच याज्ञवल्क्यो यथैवोपकरणवतां जीवितं तथैव ते जीवितꣳ स्यादमृतत्वस्य तु नाऽऽशाऽस्ति वित्तेनेति ॥३॥

सा होवाच मैत्रेयी येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्यां यदेव भगवान्वेद तदेव मे ब्रूहीति ॥४॥

स होवाच याज्ञवल्क्यः प्रिया वै खलु नो भवती सती प्रियमवृधद्धन्त तर्हि भवत्येतद्व्याख्यास्यामि ते व्याचक्षाणस्य तु मे निदिध्यासस्वेति ॥५॥

उस मैत्रेयी ने कहा— भगवन्! यदि धन से संपन्न सारी पृथिवी मुझे मिल जाय तो उससे मैं अमर हो सकती हूँ? याज्ञवल्क्य ने कहा— नहीं, भोगसामग्री ये युक्त मनुष्यों का जैसा जीवन होता है, वैसी ही तेरा भी जीवन हो जायगा। धन से अमर होने की आशा है ही नहीं ॥३॥

तब उस मैत्रेयी ने कहा— जिससे मैं अमर नहीं हो सकती, उसे मैं लेकर क्या करूँगी। आप जो कुछ भी अमरत्व का साधन जानते हो; उसी को मेरे लिए कहें ॥४॥

उन याज्ञवल्क्य महर्षि ने कहा— निःसन्देह तू पहले भी मेरी प्रिया रही है और अब भी तूने हमारी प्रसन्नता को बढ़ाया है। अतः मैत्रेयी! मैं अत्यन्त संतुष्ट हो तुझसे उस अमरत्व के साधन की व्याख्या करूँगा, तू मेरे द्वारा बतलाये गये विषय का भली प्रकार चिन्तन करना ॥५॥

सैवमुक्तोवाच मैत्रयी सर्वेयं पृथिवी वित्तेन पूर्णा स्यान्नु किं स्यां **किमहं** वित्तसाध्येन कर्मणाऽ**मृताऽऽहो न** स्यामिति। **नेति होवाच याज्ञवल्क्य** इत्यादि समानमन्यत् ॥३॥ ॥४॥

स होवाच प्रियैव पूर्वं खलु **नो**ऽस्मभ्यं **भवती** भवन्ती **सती**

स होवाच न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति। न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति। न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति। न वा अरे वित्तस्य कामाय वित्तं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय वित्तं प्रियं भवति। न वा अरे पशूनां कामाय पशवः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय पशवः प्रिया भवन्ति। न वा अरे ब्रह्मणः कामाय ब्रह्म प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय ब्रह्म प्रियं

हे मैत्रेयि! ऐसा याज्ञवल्क्य ने कहा। इसमें सन्देह नहीं है कि पति के प्रयोजन के लिए पति प्यारा नहीं होता, अपने ही प्रयोजन के लिये पति प्यारा होता है। स्त्री के प्रयोजन के लिए स्त्री प्यारी नहीं होती, अपने ही प्रयोजन के लिये स्त्री प्यारी होती है। पुत्रों के सुख के लिये पुत्र प्यारे नहीं होते, किन्तु अपने ही सुख के लिये पुत्र प्यारे होते हैं। धन के प्रयोजन के लिये धन प्यारा नहीं होता, किन्तु अपने ही प्रयोजन के लिये धन प्यारा होता है। पशुओं के प्रयोजन के लिये पशु प्यारा नहीं होता, किन्तु अपने ही प्रयोजन के लिये पशु प्यारे होते हैं। ब्राह्मण के प्रयोजन के लिये ब्राह्मण प्रिय नहीं होते, किन्तु अपने ही प्रयोजन के लिये ब्राह्मण प्रिय होते हैं। क्षत्रिय के सुख के लिये

प्रियमेवावृधद्वर्धितवत्यसि। अतस्तुष्टोऽहं **हन्तेच्छसि** चेदमृतत्वसाधनं ज्ञातुं हे **भवति** ते तुभ्यं तदमृतत्वसाधनं **व्याख्यास्यामि**॥५॥

आत्मनि खल्वरे मैत्रेयि दृष्टे। कथं दृष्ट आत्मनीति, उच्यते— पूर्वमाचार्यागमाभ्यां **श्रुते** पुनस्तर्केणोपपत्त्या **मते** विचारिते। श्रवणं त्वागममात्रेण

* नवयुवक महात्मा के पास जाता रहा - विवाह - पत्नी डरती है - स्नेह देता हूँ - महात्मा कहा - प्रेम का परीक्षा करो - खीर माल पुआ बनाने के लिये कहो - प्राणायाम करो - श्वास बन्द - पत्नी मर गये सोचकर खीर खाकर रोने लगी - पति प्राण श्वास छोड़कर गुरु के पास भागा।

भवति। न वा अरे क्षत्त्रस्य कामाय क्षत्त्रं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय क्षत्त्रं प्रियं भवति। न वा अरे लोकानां कामाय लोकाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय लोकाः प्रिया भवन्ति। न वा अरे देवानां कामाय देवाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय देवाः प्रिया भवन्ति। न वा अरे वेदानां कामाय वेदाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय वेदाः प्रिया भवन्ति। न वा अरे भूतानां कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्त्यात्मनस्तु कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्ति। न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति। आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनि खल्वरे दृष्टे

(heard) (realized) (reflected, meditated) आर्थक्रम वस्तु पाठक्रम। "यवागूं पचति अग्निहोत्रं जुहोति" अन्यायपक्षात्। सम्भवति हि दृष्ट फले अदृष्ट फलकल्पना

क्षत्रिय प्यारा नहीं होता, किन्तु अपने ही सुखे के लिये क्षत्रिय प्यारा होता है। लोकों के सुख के लिये लोक प्यारे नहीं होते, किन्तु अपने ही प्रयोजन के लिये लोक प्यारे होते हैं। देवों के प्रयोजन के लिए देव प्यारे नहीं होते हैं, किन्तु अपने ही प्रयोजन के लिए देव प्यारे होते हैं। वेदों के प्रयोजन के लिये वेद प्यारे नहीं होते, किन्तु अपने ही प्रयोजन के लिये वेद प्यारे होते हैं। भूतों के प्रयोजन के लिये भूत प्यारे नहीं होते, किन्तु अपने ही प्रयोजन के लिये भूत प्रिय होते हैं। (विशेष क्या कहें बस इतना ही समझो) सब के प्रयोजन के लिये सब प्रिय नहीं होते, किन्तु अपने ही प्रयोजन के लिये सब प्रिय होते हैं। अतः हे मैत्रेयि! आत्मा ही दर्शनीय, श्रवण के योग्य, मनन के योग्य और ध्यान करने योग्य है। हे मैत्रेयि! निःसन्देह आत्मा का दर्शन, श्रवण, मनन तथा विज्ञान

मते उपपत्त्या पश्चाद्विज्ञात एवमेतन्नान्यथेति निर्धारिते। किं भवतीत्युच्यत इदं

श्रुते मते विज्ञात इदꣳ सर्वं विदितम् ॥६॥

ब्रह्म तं परादाद्योऽन्यत्राऽऽत्मनो ब्रह्म वेद क्षत्त्रं तं परादाद्योऽन्यत्राऽऽत्मनः क्षत्त्रं वेद लोकास्तं परादुर्योऽन्यत्राऽऽत्मनो लोकान्वेद देवास्तं परादुर्योऽन्यत्राऽऽत्मनो देवान्वेद वेदास्तं परादुर्योऽन्यत्राऽऽत्मनो वेदान्वेद भूतानि तं परादुर्योऽन्यत्राऽऽत्मनो भूतानि वेद सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्राऽऽत्मनः सर्वं वेदेदं ब्रह्मेदं क्षत्त्रमिमे लोका इमे देवा इमे वेदा इमानि भूतानीदꣳ सर्वं यदयमात्मा ॥७॥

हो जाने पर ये सभी विज्ञात हो जाते हैं (क्योंकि अधिष्ठान आत्मा से भिन्न यह अध्यस्त वस्तु कुछ भी नहीं है) ॥६॥

ब्राह्मण जाति उसे परास्त कर देती है, जो ब्राह्मण जाति को आत्मा से भिन्न समझता है। क्षत्रिय जाति उसे परास्त कर देती है, जो क्षत्रिय जाति को आत्मा से भिन्न समझता है। लोक उसे परास्त कर देते हैं, जो लोकों को आत्मा से भिन्न समझता है। देव उसे परास्त कर देते हैं, जो देवों को आत्मा से भिन्न समझता है। वेद उसे परास्त कर देते हैं, जो वेदों को आत्मा से भिन्न समझता है। भूत उसे परास्त कर देते हैं, जो भूतों को आत्मा से भिन्न जानता है। सभी उसे परास्त कर देते हैं, जो सबको भिन्न समझता है क्योंकि यह ब्राह्मण जाति, यह क्षत्रिय जाति, ये लोक, ये देव, ये वेद, ये भूत तथा ये सब जो कुछ भी है, यह सब आत्मा ही है ॥७॥

विदितं भवति। **इदं सर्व**मिति यदात्मनोऽन्यत्। आत्मव्यतिरेकेणाभावात् ॥६॥

तमयथार्थदर्शिनं परादात्पराकुर्यात्कैवल्यासबन्धिनं कुर्यादयमनात्मस्वरूपेण

रहट चल रहा है। घोड़ा पानी पीना चाहा, किन्तु आवज के कारण पीछे हटगया। सवारी ने कहा खट खट आवाज बन्द करो। रहट बन्द करने पर आवज जो बन्द होगया किन्तु पानी भी बन्द होगया। इसीलिये आवाज के बीच घोड़े को

पानी पीना पड़ेगा। (2) लहरों की बीच समुद्र स्नान करना पड़ेगा। संसार के खट पट के बीच कुछ करना है!

स यथा दुन्दुभेर्हन्यमानस्य न बाह्याञ्छब्दाञ्छक्नुयाद्-ग्रहणाय दुन्दुभेस्तु ग्रहणेन दुन्दुभ्याघातस्य वा शब्दो गृहीतः ॥८॥ drum.

conch

स यथा शङ्खस्य ध्मायमानस्य न बाह्याञ्छब्दाञ्छ-क्नुयाद्ग्रहणाय शङ्खस्य तु ग्रहणेन शङ्खध्मस्य वा शब्दो गृहीतः ॥९॥

स यथा वीणायै वाद्यमानायै न बाह्याञ्छब्दाञ्छक्नु-याद्ग्रहणाय वीणायै तु ग्रहणेन वीणावादस्य वा शब्दो गृहीतः ॥१०॥

वहाँ पर दृष्टान्त यह है कि जैसे काष्ठादि के द्वारा आघात किये हुए नक्कारे के बाह्य शब्दों को ग्रहण करने में कोई समर्थ नहीं होता, किन्तु नक्कारे या नक्कारे के आघात को ग्रहण कर लेने से उसका शब्द भी गृहीत हो जाता है॥८॥

वह दूसरा दृष्टान्त यह है कि जैसे बजाये गये शंख के बाह्य शब्दों को कोई पकड़ने में समर्थ नहीं होता, किन्तु शंख या शंख के बजाने को पकड़ लेने से उसका शब्द भी गृहीत हो जाता है॥९॥

वह तीसरा दृष्टान्त यह है कि जैसे बजायी गयी वीणा के बाह्य शब्दों को ग्रहण करने में कोई समर्थ नहीं होता, किन्तु वीणा या वीणा के बजाने को ग्रहण करने पर उसका शब्द गृहीत हो जाता है॥१०॥

मां पश्यतीत्यपराधादिति भावः ॥७॥ ॥८॥ ॥९॥ ॥१०॥

स यथार्द्रैधाग्नेरभ्याहितस्य पृथग्धूमा विनिश्चरन्त्येवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानीष्टꣳ हुतमाशितं पायितमयं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतान्यस्यैवैतानि सर्वाणि निःश्वसितानि ॥११॥

स यथा सर्वासामपाꣳ समुद्र एकायनमेवꣳ सर्वेषाꣳ स्पर्शानां त्वगेकायनमेवꣳ सर्वेषां गन्धानां नासिके एकायनमेवꣳ सर्वेषाꣳ रसानां जिह्वैकायनमेवꣳ सर्वेषाꣳ रूपाणां चक्षुरेकायनमेवꣳ सर्वेषाꣳ शब्दानाꣳ श्रोत्रमेकायनमेवꣳ सर्वेषाꣳ संकल्पानां मन एकायन-

वह चौथा दृष्टान्त यह है कि जैसे जिसका ईंधन गीला है, ऐसे आदान किये गये अग्नि से नाना रंग के धुएँ निकलते हैं। हे मैत्रेयि! वे ही ये ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद्, ब्राह्मण, वैदिक वस्तु संग्रह, वाक्यरूप सूत्र, सूत्रों की व्याख्या, मन्त्रों की व्याख्या, इष्ट (यज्ञ), हवन किया हुत, खिलाया हुआ, पिलाया हुआ, यह लोक, परलोक तथा संपूर्ण भूत हैं। ये सब इस परमात्मा के ही निःश्वास हैं ॥११॥

वह पाँचवाँ दृष्टान्त यह है कि जैसे समस्त जलों का समुद्र ही एकमात्र प्रलयस्थान है, वैसे ही समस्त स्पर्शों का त्वचा एक प्रलय स्थान है। ऐसे ही संपूर्ण गन्धों का दोनों नासिकाएँ एक अयन हैं। ऐसे ही संपूर्ण रसों का जिह्वा एक अयन है। ऐसे ही समस्त

चतुर्थे शब्दनिःश्वासेनैव लोकाद्यर्थनिःश्वासः सामर्थ्यादुक्तो भवतीति पृथङ्नोक्त

मेवꣳ सर्वासां विद्यानाꣳ हृदयमेकायनमेवꣳ सर्वेषां कर्मणाꣳ हस्तावेकायनमेवꣳ सर्वेषामानन्दानामुपस्थ एकायनमेवꣳ सर्वेषां विसर्गाणां पायुरेकायनमेवꣳ सर्वेषामध्वनां पादावेकायनमेवꣳ सर्वेषां वेदानां वागेकायनम्॥१२॥

स यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन एवैवं वा अरेऽयमात्माऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञाऽस्तीत्यरे ब्रवीमीति होवाच याज्ञवल्क्यः॥१३॥

रूपों का चक्षु एक अयन है। ऐसे ही समस्त शब्दों का श्रोत्र एक अयन है। ऐसे ही समस्त संकल्पों का मन एक अयन है। ऐसे ही समस्त विद्याओं का हृदय एक अयन है। ऐसे ही समस्त कर्मों का दोनों हाथ एक अयन है। ऐसे ही समस्त आनन्दों का उपस्थ एक अयन है। ऐसे ही समस्त विसर्गों का गुदा एक अयन है। ऐसे ही समस्त मार्गों का दोनों पाद एक अयन है। तथा ऐसे ही समस्त वेदों का वाक् एक अयन है॥१२॥

इस विषय में छठा दृष्टान्त यह है— जैसे नमक का डला बाहर और भीतर सभी से परिपूर्ण रसघन ही है। हे मैत्रेयि! ऐसे ही यह आत्मा भी बाह्यान्तर भेद से रहित परिपूर्ण प्रज्ञानघन ही है। वह इन भूतों से अच्छी प्रकार उठकर उन्हीं के साथ नष्ट हो जाता है। इसलिये मर जाने पर इसकी संज्ञा नहीं रह जाती। हे मैत्रेयि! इस प्रकार मैं कहता हूँ, ऐसा याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी से कहा॥१३॥

इह तु सर्वशास्त्रार्थोपसंहार इति कृत्वाऽर्थप्राप्तोऽप्यर्थः स्पष्टीकर्तव्य इति पृथगुच्यते॥११॥ ॥१२॥

सर्वकार्यप्रलये विद्यानिमित्ते सैन्धवघनवद**नन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः**

सा होवाच मैत्रेय्यत्रैव मा भगवान्मोहान्तमापीपिपन्न वा अहमिमं विजानामीति स होवाच न वा अरेऽहं मोहं ब्रवीम्यविनाशी वा अरेऽयमात्माऽनुच्छित्ति-धर्मा ॥१४॥

यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति तदितर

उस मैत्रेयी ने कहा— (मरने पर इसकी संज्ञा नहीं रहती है ऐसा कहकर) इस प्रज्ञानघन के विषय में ही श्रीमान् ने मुझे मोह में डाल दिया है। अतः उसे मैं विशेष रूप से नहीं समझ पा रही हूँ। याज्ञवल्क्य ने कहा— अरी मैत्रेयि! मैं मोह की बात नहीं करता हूँ, अरी! यह आत्मा निःसन्देह अविनाशी है, और उच्छेद धर्म से सर्वथा शून्य है अर्थात् इसमें विनाश या उच्छेद रूप विकार नहीं होता ॥१४॥

हे मैत्रेयि! जिस अविद्यावस्था में द्वैत-सा प्रतीत होता है वहाँ पर ही अन्य-अन्य

प्रज्ञानघन एक आत्माऽवतिष्ठते। पूर्वं तु भूतमात्रासंसर्गविशेषाल्लब्धविशेषविज्ञानः सन्। तस्मिन्प्रविलापिते विद्यया विशेषविज्ञाने तन्निमित्ते च भूतसंसर्गे **न प्रेत्य संज्ञाऽस्तीत्येवं** याज्ञवल्क्येनोक्ता ॥१३॥

सा होवाचात्रैव मा भगवानेतस्मिन्नेव वस्तुनि प्रज्ञानघन एव न प्रेत्य संज्ञाऽस्तीति **मोहान्तं** मोहमध्यम**ापीपिपद**ापीपददवगमितवानसि संमोहितवानसीत्यर्थः। अतो **न वा अहमिम**मात्मानमुक्तलक्षणं **विजानामि** विवेकत **इति। स होवाच**नाहं मोहं ब्रवीम्यविनाशी वा **अरे**ऽयमात्मा। यतो विन(नं)ष्टुं शीलमस्येति विनाशी न विनाश्यविनाशीविनाशशब्देन विक्रियाऽविनाशीत्यविक्रिय आत्मेत्यर्थः। अरे **मैत्रेय्ययमात्मा** प्रकृतो**ऽनुच्छित्तिधर्मा**। उच्छित्तिरुच्छेद उच्छेदोऽन्तो विनाश उच्छित्तिर्धर्मोऽस्येत्युच्छित्तिधर्मा नोच्छित्तिधर्माऽनुच्छित्तिधर्मा नापि विक्रियालक्षणो नाप्युच्छेदलक्षणो विनाशोऽस्य विद्यत इत्यर्थः ॥१४॥

चतुर्ष्वपि प्रपाठकेष्वेक आत्मा तुल्यो निर्धारितः परं ब्रह्म। उपायविशेषस्तु

इतरं जिघ्रति तदितर इतरꣳ रसयते तदितर इतरम-भिवदति तदितर इतरꣳ शृणोति तदितर इतरं मनुते तदितर इतरꣳ स्पृशति तदितर इतरं विजानाति यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं जिघ्रेत्तत्केन कꣳ रसयेत्तत्केन कमभिवदेत्तत्केन कꣳ शृणुयात्तत्केन कं मन्वीत तत्केन कꣳ स्पृशेत्तत्केन कं विजानीयाद्ये-नेदꣳ सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्स एष नेति

को देखता है, अन्य-अन्य को सूँघता है, अन्य-अन्य का रस लेता है, अन्य-अन्य को कहता है, अन्य-अन्य को सुनता है, अन्य-अन्य को मनन करता है, अन्य-अन्य को छूता है, अन्य-अन्य को विशेष रूप से जानता है। इसके विपरीत जहाँ पर इस विद्वान् की दृष्टि में सब आत्मा ही हो गया, वहाँ पर किससे किसको देखे, किससे किसको चखे, किससे किसको कहे, किससे किसको सुने, किससे किसको मनन करे, किससे किसको छूवे और किससे किसको जाने। पुरुष जिससे इस सबको जानता है; भला उसे किसके द्वारा जाने? वह यह 'नेति नेति' इस प्रकार बतलाया गया आत्मा अगृह्य है, उसका ग्रहण नहीं होता। अशीर्य है, उसका विनाश नहीं होता। असंग है, वह कहीं पर संसक्त नहीं होता। अबद्ध है, अतः वह पीड़ित और क्षीण नहीं होता। हे मैत्रेयि! विज्ञाता

तस्याधिगमेऽन्यश्चान्यश्च। उपेयस्तु स एवाऽऽत्मा यश्चतुर्थे ''अथात आदेशो नेति नेति'' इति निर्दिष्टः। स एव पञ्चमे प्राणपणोपन्यासेन शाकल्ययाज्ञवल्क्यसंवादे निर्धारितः। पुनः पञ्चमसमाप्तौ। पुनर्जनकयाज्ञवल्क्यसंवादे। पुनरिहोपनिषत्समाप्तौ। चतुर्णामपि प्रपाठकानामेतदात्मनिष्ठता, नान्योऽन्तराले कश्चिदपि विवक्षितोऽर्थ इत्येतत्प्रदर्शनायान्ते उपसंहारः स एष नेति नेत्यादिः।

यस्मात्प्रकारशतेनापि निरूप्यमाणे तत्त्वे नेति नेत्यात्मैव निष्ठा, नान्योपलभ्यते तर्केण वाऽऽगमेन वा। तस्मादेतदेवामृतत्वसाधनं यदेतन्नेति नेत्यात्मपरिज्ञानं ससंन्यास-

नेत्यात्माऽगृह्यो न हि गृह्यतेऽशीर्यो न हि शीर्यतेऽसङ्गो न हि सज्यतेऽसितो न व्यथते न रिष्यति विज्ञातारमरे केन विजानीयादित्युक्तानुशासनाऽसि मैत्रेय्येतावदरे खल्वमृतत्वमिति होक्त्वा याज्ञवल्क्यो विजहार ॥१५ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि चतुर्थाध्यायस्य

मैत्रेयीनामपञ्चमं ब्राह्मणम् ॥५ ॥

को किससे जाने? इस प्रकार हमने तुझे उपदेश कर दिया। अरी मैत्रेयि! बस, तू निश्चय जान! इतना ही अमृतत्व है। ऐसा कहकर याज्ञवल्क्य संन्यासी हो गये॥१५॥

॥ इति पञ्चमं ब्राह्मणम् ॥

मित्येतमर्थमुपसंजिहीर्षन्नाह— **एतावदे**तावन्मात्रं यदेतन्नेति नेत्यद्वैतात्मदर्शनमिदं चान्यसहकारिकारणनिरपेक्षमेवारे मैत्रेय्यमृतत्वसाधनम्। यत्पृष्टवत्यसि ''यदेव भगवान्वेद तदेव मे ब्रूह्यमृतत्वसाधनम्'' इति, तदेतावदेवेति विज्ञेयं त्वयेति हैव किलामृतत्व-साधनमात्मज्ञानं प्रियायै भार्याया **उक्त्वा याज्ञवल्क्यः** किं कृतवान्यत्पूर्वं प्रतिज्ञातं प्रव्रजिष्यन्नस्मीति तच्चकार **विजहार** प्रव्रजितवानित्यर्थः। परिसमाप्ता ब्रह्मविद्या संन्यासपर्यवसाना। एतावानुपदेश एतद्वेदानुशासनमेषा परमनिष्ठैष पुरुषार्थकर्तव्यतान्त इति।

इदानीं विचार्यते शास्त्रविवेकप्रतिपत्तये। यत आकुलानि हि वाक्यानि दृश्यन्ते ''यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयात्'' ''यावज्जीवं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत'' ''कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः'' ''एतद्वै जरामर्यं सत्रं यदग्निहोत्रम्'' इत्यादीन्यैकाश्रम्यज्ञापकान्यन्यानि चाऽऽश्रमान्तरप्रतिपादकानि वाक्यानि ''विदित्वा व्युत्थाय प्रव्रजन्ति'' ''ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेद्गृहाद्वनी भूत्वा प्रव्रजेत्'' ''यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद्गृहाद्वा वनाद्वा'' इति, ''द्वावेव पन्थानावनुनिष्क्रान्ततरौ भवतः, क्रियापथश्चैव पुरस्तात्संन्यासश्च तयोः संन्यास एवातिरेचयति'' इति, ''न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशुः'' इत्यादीनि। तथा स्मृतयश्च

"ब्रह्मचर्यवान्प्रव्रजति" "अविशीर्णब्रह्मचर्यो यमिच्छेत्तमावसेत्" "तस्याऽऽश्रमविकल्पमेके ब्रुवते" तथा—

"वेदानधीत्य ब्रह्मचर्येण पुत्रपौत्रानिच्छेत्पावनार्थं पितॄणाम्।
अग्नीनाधाय विधिवच्चेष्टयज्ञो वनं प्रविश्याथ मुनिर्बुभूषेत्"।
"प्राजापत्यां निरुप्येष्टिं सर्ववेदसदक्षिणाम्।
आत्मन्यग्नीन्समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद्गृहात्"॥ इत्याद्याः।

एवं व्युत्थानविकल्पक्रमयथेष्टाश्रमप्रतिपत्तिप्रतिपादकानि हि श्रुतिस्मृतिवाक्यानि शतश उपलभ्यन्त इतरेतरविरुद्धानि। आचारश्च तद्विदाम्। विप्रतिपत्तिश्च शास्त्रार्थप्रतिपत्तॄणां बहुविदामपि। अतो न शक्यते शास्त्रार्थो मन्दबुद्धिभिर्विवेकेन प्रतिपत्तुम्। परिनिष्ठितशास्त्रन्यायबुद्धिभिरेव ह्येषां वाक्यानां विषयविभागः शक्यतेऽवधारयितुम्। तस्मादेषां विषयविभागज्ञापनाय यथाबुद्धिसामर्थ्यं विचारयिष्यामः। यावज्जीवश्रुत्यादिवाक्यानामन्यार्थासंभवात्क्रियावसान एव वेदार्थः। तं यज्ञपात्रैर्दहन्तीत्यन्त्यकर्मश्रवणाज्जरामर्यश्रवणाच्च, लिङ्गाच्च "भस्मान्तं शरीरमि"ति। न हि पारिव्राज्यपक्षे भस्मान्तता शरीरस्य स्यात्। स्मृतेश्च—

"निषेकादिश्मशानान्तो मन्त्रैर्यस्योदितो विधिः।
तस्य शास्त्रेऽधिकारोऽस्मिञ्ज्ञेयो नान्यस्य कस्यचित्"॥ इति

समन्त्रकं हि यत्कर्म वेदेनेह विधीयते, तस्य श्मशानान्ततां दर्शयति स्मृतिः। अधिकाराभावप्रदर्शनाच्चात्यन्तमेव श्रुत्यधिकाराभावोऽकर्मिणो गम्यते। अग्न्युद्वासनापवादाच्च "वीरहा वा एष देवानां योऽग्निमुद्वासयते" इति।

ननु व्युत्थानादिविधानाद्वैकल्पिकं क्रियावसानत्वं वेदार्थस्य? न, अन्यार्थत्वाद्व्युत्थानादिश्रुतीनाम्। "यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति" "यावज्जीवं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत" इत्येवमादीनां श्रुतीनां जीवनमात्रनिमित्तत्वाद्यदा न शक्यतेऽन्यार्थता कल्पयितुं, तदा व्युत्थानादिवाक्यानां कर्मानधिकृतविषयत्वसंभवात्। "कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः" इति च मन्त्रवर्णाज्जरया वा ह्येवास्मान्मुच्यते मृत्युना वेति च जरामृत्युभ्यामन्यत्र कर्मवियोगच्छिद्रासंभवा-

त्कर्मिणां श्मशानान्तत्वं न वैकल्पिकम्। काणकुब्जादयोऽपि कर्मण्यनधिकृता अनुग्राह्या एव श्रुत्येति व्युत्थानाद्याश्रमान्तरविधानं नानुपपन्नम्।

पारिव्राज्यक्रमविधानस्यानवकाशत्वमिति चेत्। न। विश्वजित्सर्वमेधयोर्यावज्जीवविध्यपवादत्वात्। यावज्जीवाग्निहोत्रादिविधेर्विश्वजित्सर्वमेधयोरेवापवादस्तत्र च क्रमप्रतिपत्तिसंभवो ''ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेद्गृहाद्वनी भूत्वा प्रव्रजेदि''ति। विरोधानुपपत्तेः। न ह्येवंविषयत्वे पारिव्राज्यक्रमविधानवाक्यस्य कश्चिद्विरोधः, क्रमप्रतिपत्तेः। अन्यविषयत्वपरिकल्पनायां तु यावज्जीवविधानश्रुतिः स्वविषयात्संकोचिता स्यात्। क्रमप्रतिपत्तेस्तु विश्वजित्सर्वमेधविषयत्वान्न कश्चिद्विरोधः। न, आत्मज्ञानस्यामृतत्वहेतुत्वाभ्युपगमात्। यत्तावदात्मेत्येवोपासीतेत्यारभ्य स एष नेति नेत्येतदन्तेन ग्रन्थेन यदुपसंहृतमात्मज्ञानं तदमृतत्वसाधनमित्यभ्युपगतं भवता। तत्रैतावदेवामृतत्वसाधनमन्यनिरपेक्षमित्येतन्न मृष्यते। तत्र भवन्तं पृच्छामि किमर्थमात्मज्ञानं मर्षयति भवानिति। शृणु तत्र कारणं यथा स्वर्गकामस्य स्वर्गप्राप्त्युपायमजानतोऽग्निहोत्रादि स्वर्गप्राप्तिसाधनं ज्ञापयति, तथेहाप्यमृतत्वप्रतिपित्सोरमृतत्वप्राप्त्युपायमजानतो "यदेव भगवान्वेद तदेव मे ब्रूही"त्येवमाकाङ्क्षितममृत्वसाधनमेतावदर इत्येवमादौ वेदेन ज्ञाप्यत इति। एवं तर्हि यथा ज्ञापितमग्निहोत्रादि स्वर्गसाधनमभ्युपगम्यते, तथेहाप्यात्मज्ञानम्। यथा ज्ञाप्यते तथाभूतमेवामृतत्वसाधनमात्मज्ञानमभ्युपगन्तुं युक्तम्। तुल्यप्रामाण्यादुभयत्र।

यद्येवं किं स्यात्। सर्वकर्महेतूपमर्दकत्वादात्मज्ञानस्य विद्योद्भवे कर्मनिवृत्तिः स्यात्। दाराग्निसंबद्धानां तावदग्निहोत्रादिकर्मणां भेदबुद्धिविषयसंप्रदानकारकसाध्यत्वम्। अन्यबुद्धिपरिच्छेद्यां ह्यग्न्यादिदेवतां संप्रदानकारकभूतामन्तरेण न हि तत्कर्म निर्वर्त्यते। यया हि संप्रदानकारकबुद्ध्या संप्रदानकारकं कर्मसाधनत्वेनोपदिश्यते, सेह विद्यया निवर्त्यते ''अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद'' ''देवास्तं परादुर्योऽन्यत्राऽऽत्मनो देवान्वेद'' ''मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति'' ''एकधैवानुद्रष्टव्यं'' ''सर्वमात्मानं पश्यति'' इत्यादिश्रुतिभ्यः। न च देशकालनिमित्ताद्यपेक्षत्वं व्यवस्थितात्मवस्तुविषयत्वादात्मज्ञानस्य। क्रियायास्तु पुरुषतन्त्रत्वात्स्याद्देशकालनिमित्ताद्यपेक्षत्वम्। ज्ञानं तु वस्तुतन्त्रत्वान्न देशकालनिमित्ताद्यपेक्षते। यथाऽग्निरुष्ण आकाशोऽमूर्त इति तथाऽऽत्मविज्ञानमपि।

नन्वेवं सति प्रमाणभूतस्य कर्मविधेर्निरोधः स्यात्। न च तुल्यप्रमाणयोरितरेतरनिरोधो युक्तः। न। स्वाभाविकभेदबुद्धिमात्रनिरोधकत्वात्। न हि विध्यन्तरनिरोधकमात्मज्ञानं स्वाभाविकभेदबुद्धिमात्रं निरुणद्धि। तथाऽपि हेत्वपहारात्कर्मानुपपत्तेर्विधिनिरोध एव स्यादिति चेत्। न। कामप्रतिषेधात्काम्यप्रवृत्तिनिरोधवददोषात्। यथा स्वर्गकामो यजेतेति स्वर्गसाधने यागे प्रवृत्तस्य कामप्रतिषेधविधेः कामे विहते काम्ययागानुष्ठानप्रवृत्तिर्निरुध्यते। न चैतावता काम्यविधिर्निरुद्धो भवति।

कामप्रतिषेधविधिना काम्यविधेरनर्थकत्वज्ञानात्प्रवृत्त्यनुपपत्तेर्निरुद्ध एव स्यादिति चेत्। भवत्वेवैवं कर्मविधिनिरोधोऽपि, यथा कामप्रतिषेधे काम्यविधेरेवं प्रामाण्यानुपपत्तिरिति चेत्, अननुष्ठेयत्वेऽनुष्ठातुरभावात्तदनुष्ठानविध्यानर्थक्यादप्रामाण्यमेव कर्मविधीनामिति चेत्। न, प्रागात्मज्ञानात्प्रवृत्त्युपपत्तेः। स्वाभाविकस्य क्रियाकारकफलभेदविज्ञानस्य प्रागात्मज्ञानात्कर्महेतुत्वमुपपद्यत एव। यथा कामविषये दोषविज्ञानोत्पत्तेः प्राक्काम्यकर्मप्रवृत्तिहेतुत्वं स्यादेव स्वर्गादीच्छायाः स्वाभाविक्यास्तद्वत्। तथा सत्यनर्थार्थौ वेद इति चेत्। न। अर्थानर्थयोरभिप्रायतन्त्रत्वात्। मोक्षमेकं वर्जयित्वाऽन्यस्याविद्याविषयत्वात्। पुरुषाभिप्रायतन्त्रौ ह्यर्थानर्थौ। मरणादिकाम्येष्टिदर्शनात्। तस्माद्यावदात्मज्ञानविधेराभिमुख्यं तावदेव कर्मविधयः। तस्मान्नाऽऽत्मज्ञानसहभावित्वं कर्मणामित्यतः सिद्धमात्मज्ञानमेवामृतत्वसाधनम् "एतावदरे खल्वमृतत्वम्" इति। कर्मनिरपेक्षत्वाज्ज्ञानस्य। अतो विदुषस्तावत्पारिव्राज्यं सिद्धं संप्रदानादिकर्मकारकजात्यादिशून्याविक्रियब्रह्मात्मदृढप्रतिपत्तिमात्रेण वचनमन्तरेणाप्युक्तन्यायतः।

तथा च व्याख्यामेतत् "येषां नोऽयमात्माऽयं लोकः" इति हेतुवचनेन पूर्वे विद्वांसः प्रजामकामयमाना व्युत्तिष्ठन्तीति पारिव्राज्यं विदुषामात्मलोकावबोधादेव। तथा च विविदिषोरपि सिद्धं पारिव्राज्यम्। "एतमेवाऽऽत्मानं लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति" इतिवचनात्। कर्मणां चाविद्वद्विषयत्वमवोचाम। अविद्याविषये चोत्पत्त्याप्तिविकारसंस्कारार्थानि कर्माणीत्यतः आत्मसंस्कारद्वारेणाऽऽत्मज्ञानसाधनत्वमपि कर्मणामवोचाम यज्ञादिभिर्विविदिषन्तीति।

अथैवंसत्यविद्वद्विषयाणामाश्रमकर्मणां बलाबलविचारणायामात्मज्ञानोत्पादनं

मरण काल में पुराने शरीर का सम्बन्ध न कहे. न करे. याद न करे.
1 भगवान् का नाम स्मरण करे - राम - वाचक, प्रतीक, अभिव्यापक रूप है.

2 अग्रिम यात्रा अनिवार्य है उसका बाधक न बने!
शाखोच्चारण राम के विवाह मे शतानन्द एवं वशिष्ठ ने किया!

प्रति यमप्रधानानाममानित्वादीनां मानसानां च ध्यानज्ञानवैराग्यादीनां संनिपत्योपकारकत्वम्। हिंसारागद्वेषादिबाहुल्याद्बहुक्लिष्टकर्मविमिश्रिता इतर इत्यतः पारिव्राज्यं मुमुक्षूणां प्रशंसन्ति—

''त्याग एव हि सर्वेषामुक्तानामपि कर्मणाम्।
वैराग्यं पुनरेतस्य मोक्षस्य परमोऽवधिः''॥

''किं ते धनेन किमु बन्धुभिस्ते किं ते दारैर्ब्राह्मण यो मरिष्यसि।
आत्मानमन्विच्छ गुहां प्रविष्टं पितामहास्ते क्व गताः पिता च''॥

संनिपत्योपकारक:

एवं सांख्ययोगशास्त्रेषु च संन्यासो ज्ञानं प्रति प्रत्यासन्न उच्यते। कामप्रवृत्त्यभावाच्च। कामप्रवृत्तेर्हि ज्ञानप्रतिकूलता सर्वशास्त्रेषु प्रसिद्धा। तस्माद्विरक्तस्य मुमुक्षोर्विनाऽपि ज्ञानेन ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेदित्याद्युपपन्नम्। * तृष्णैका तरुणायते. "न जातु कामः कामानाम् - -

ननु सावकाशत्वादनधिकृतविषयमेतदित्युक्तं यावज्जीवश्रुत्युपरोधात्। नैष दोषः। नितरां सावकाशत्वाद्यावज्जीवश्रुतीनाम्। अविद्वत्कामिकर्तव्यतां ह्यवोचाम सर्वकर्मणाम्। न तु निरपेक्षमेव जीवननिमित्तं कर्तव्यं कर्म। प्रायेण हि पुरुषाः कामबहुलाः। कामश्चानेकविषयोऽनेककर्मसाधनसाध्यश्च। अनेकफलसाधनानि च वैदिकानि कर्माणि दाराग्निसंबन्धपुरुषकर्तव्यानि पुनः पुनश्चानुष्ठीयमानानि बहुफलानि कृष्यादिवद्वर्षशतसमाप्तीनि च गार्हस्थ्ये वाऽरण्ये वाऽतस्तदपेक्षया यावज्जीवश्रुतयः। ''कुर्वन्नेवेह कर्माणि'' इति च मन्त्रवर्णः।

तस्मिंश्च पक्षे विश्वजित्सर्वमेधयोः कर्मपरित्यागः। यस्मिंश्च पक्षे यावज्जीवानुष्ठानं तदा श्मशानान्तत्वं भस्मान्तता च शरीरस्य। इतरवर्णापेक्षया वा यावज्जीवश्रुतिः। न हि क्षत्रियवैश्ययोः पारिव्राज्यप्रतिपत्तिरस्ति। तथा मन्त्रैर्यस्योदितो विधिः। ऐकाश्रम्यं त्वाचार्या इत्येवमादीनां क्षत्रियवैश्यापेक्षत्वम्। तस्मात्पुरुषसामर्थ्यज्ञानवैराग्यकामाद्यपेक्षया व्युत्थानविकल्पक्रमपारिव्राज्यप्रतिपत्तिप्रकारा न विरुध्यन्ते। अनधिकृतानां च पृथग्विधानात्पारिव्राज्यस्य ''स्नातको वाऽस्नातको वोत्सन्नाग्निरनग्निको वेत्यादिना''। तस्मात्सिद्धान्याश्रमान्तराण्यधिकृतानामेव॥१५॥

इति श्रीमद्बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये चतुर्थाध्यायस्य मैत्रेयीनामपञ्चमं ब्राह्मणम्॥५॥

आजकल संस्कारों का उल्लंघन। केवल Reception etc., give and take observation only. foreign customs. If change comes it will be better.



। अथ चतुर्थाध्यायस्य वंशनाम षष्ठं ब्राह्मणम्।

अथ वꣳशः पौतिमाष्यो गौपवनाद्गौपवनः पौतिमाष्यात्पौतिमाष्यो गौपवनाद्गौपवनः कौशिकात्कौशिकः कौण्डिन्यात्कौण्डिन्यः शाण्डिल्याच्छाण्डिल्यः कौशिकाच्च गौतमाच्च गौतमः ॥१ ॥

आग्निवेश्यादाग्निवेश्यो गार्ग्याद्गार्ग्यो गार्ग्याद्गार्ग्यो गौतमाद्गौतमः सैतवात्सैतवः पाराशर्यायणात्पाराशर्यायणो गार्ग्यायणाद्गार्ग्यायण उद्दालकायनादुद्दालकायनो जाबालायनाज्जाबालायनो माध्यंदिनायनान्माध्यंदिनायनः सौकरायणात्सौकरायणः काषायणात्काषायणः सायकायनात्सायकायनः कौशिकायनेः कौशिकायनिः ॥२ ॥

घृतकौशिकाद्घृतकौशिकः पाराशर्यायणात्पाराशर्यायणः पाराशर्यात्पाराशर्यो जातूकर्ण्याज्जातूकर्ण्य आसुरायणाच्च यास्काच्चाऽऽसुरायणस्त्रैवणेस्त्रैवणिरौपजन्धनेरौपजन्धनिरासुरेरासुरिर्भारद्वाजाद्भारद्वाज आत्रेयादात्रेयो माण्टेर्माण्टिर्गौतमाद्गौतमो गौतमाद्गौतमो वात्स्याद्वात्स्यः शाण्डिल्याच्छाण्डिल्यः कैशोर्यात्काप्यात्कैशोर्यः काप्यः कुमारहारितात्कुमारहारितोगालवाद्गालवो विदर्भीकौण्डि-

गौपवन से पौतिमाष्य ने, पौतिमाष्य से गौपवन ने, गौपवन से पौतिमाष्य ने, कौशिक से गौपवन ने, कौण्डिन्य से कौशिक ने, शाण्डिल्य से कौण्डिन्य ने, कौशिक तथा गौतम से शाण्डिल्य ने और गौतम ने॥१॥

आग्निवेश्य से, आग्निवेश्य ने गार्ग्य से, गार्ग्य ने गार्ग्य से, गार्ग्य ने गौतम से, गौतम ने सैतव से, सैतव ने पाराशर्यायण से, पाराशर्यायण ने गार्ग्यायण से, गार्ग्यागण ने उद्दालकायन से, उद्दालकायन ने जाबालायन से, जाबालायन ने माध्यन्दिनायन से, माध्यन्दिनायन ने सौकरायण से, सौकरायण ने काषायण से, काषायण ने सायकायन से, सायकायन ने कौशिकायनि से, कौशिकायनि ने॥२॥

घृतकौशिक से, घृतकौशिक ने पाराशर्यायण से, पाराशर्यायण ने पाराशर्य से, पाराशर्य ने जातूकर्ण्य से, जातूकर्ण्य ने आसुरायण और यास्क से, आसुरायण ने त्रैवणि से, त्रैवणि ने औपजन्धनि से, औपजन्धनि ने आसुरि से, आसुरि ने भारद्वाज से, भारद्वाज ने आत्रेय

अथानन्तरं याज्ञवल्कीयस्य काण्डस्य वंश आरभ्यते यथा मधुकाण्डस्य

न्याद्विदर्भीकौण्डिन्यो वत्सनपातो बाभ्रवाद्वत्सनपाद्बाभ्रवः पथः-सौभरात्पन्थाः सौभरोऽयास्यादाङ्गिरसादयास्य आङ्गिरस आभूतेस्त्वाष्ट्रादाभूतिस्त्वाष्ट्रो विश्वरूपात्त्वाष्ट्राद्विश्वरूपस्त्वाष्ट्रोऽश्विभ्यामश्विनौ दधीच आथर्वणाद्दध्यङ्ङाथर्वणोऽथर्वणो दैवादथर्वा दैवो मृत्योः प्राध्वꣳसनान्मृत्युः प्राध्वꣳसनः प्रध्वꣳसनात्प्रध्वꣳसन एकर्षेरेकर्षिर्विप्रचित्तेर्विप्रचित्तिर्व्यष्टेर्व्यष्टिः सनारोः सनारुः सनातनात्सनातनः सनगात्सनगः परमेष्ठिनः परमेष्ठी ब्रह्मणो ब्रह्म स्वयंभु ब्रह्मणे नमः ॥३॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि चतुर्थाध्याये
वंशनाम षष्ठं ब्राह्मणम् ॥६॥

इति श्रीबृहदारण्यकोपनिषदि चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥
बृहदारण्यकक्रमेण षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

इति मुनिकाण्डम् समाप्तम्।

से, आत्रेय ने माण्टि से, माण्टि ने गौतम से, गौतम ने गौतम से, गौतम ने वात्स्य से, वात्स्य ने शाण्डिल्य से, शाण्डिल्य ने कैशोर्यकाप्य से, कैशोर्यकाप्य ने कुमारहारित से, कुमारहारित ने गालव से, गालव ने विदर्भीकौण्डिन्य से, विदर्भीकौण्डिन्य ने वत्सनपाद् बाभ्रव से, वत्सनपाद् बाभ्रव ने पन्था सौरभ से, पन्था सौरभ ने अयास्य आङ्गिरस से, अयास्य आङ्गिरस ने आभूतित्वाष्ट्र से, आभूतित्वाष्ट्र ने विश्वरूपत्वाष्ट्र से, विश्वरूपत्वाष्ट्र ने अश्विनीकुमारों से, अश्विनीकुमारों ने दध्यङ्ङाथर्वण से, दध्यङ्ङाथर्वण ने अथर्वा-दैव से, अथर्वा-दैव ने मृत्यु-प्राध्वंसन से, मृत्यु-प्राध्वंसन ने प्रध्वंसन से, प्रध्वंसन ने एकर्षि से, एकर्षि ने विप्रचित्ति से, विप्रचित्ति ने व्यष्टि से, व्यष्टि ने सनारु से, सनारु ने सनातन से, सनातन ने सनग से, सनग ने परमेष्ठी से एवं परमेष्ठी ने ब्रह्म से (यह विद्या प्राप्ति की है) ब्रह्म स्वयंभू है, ब्रह्म को नमस्कार है॥३॥

॥ इति चतुर्थोऽध्यायः॥

श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ पदवाक्यप्रमाणपारावारीण श्रीकैलासपीठाधीश्वर परमादर्श आचार्य महामण्डलेश्वर अनन्त श्री स्वामी विद्यानन्द गिरि जी महाराज वेदान्त-सर्वदर्शनाचार्य रचित बृहदारण्यकोपनिषद्-मुनिकाण्ड की "विद्यानन्दी मिताक्षरा" टीका पूर्ण हुई

वंशः। व्याख्यानं तु पूर्ववत्। **ब्रह्म स्वयंभु ब्रह्मणे नम** ओमिति ॥१॥ ॥२॥ ॥३॥
इति श्रीबृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये चतुर्थाध्यायस्य वंशनाम षष्ठंब्राह्मणम्॥ ६॥
॥ इति द्वाविंशाह्निकम्॥२२॥

ॐ

अष्टम कैलासपीठाधीश्वर
अनन्तश्री स्वामी चैतन्य गिरि जी महाराज
(शास्त्री जी महाराज)



पूज्यपाद महामण्डलेश्वर अनन्तश्री स्वामी चैतन्यगिरि जी महाराज का प्रादुर्भाव ६ जून १९०४ को पंजाब प्रदेश के होशियारपुर जिले के मध्यवर्ती एक पवित्र ब्राह्मण परिवार में हुआ था। आप बचपन से ही अत्यन्त मेधावी तथा कुशाग्र बुद्धि छात्र की ख्याति प्राप्त किये थे। वंश परम्परानुसार आपने संस्कृत विद्या का अध्ययन किया और पंजाब की शास्त्री परीक्षा पास की। संन्यासी समाज में आप की प्रसिद्धि शास्त्री जी महाराज इसी शास्त्री उपाधि को लेकर हो गई। अध्ययन के पश्चात् घर से विरक्त हो योगाभ्यास के लिए उत्तराखण्ड की ओर आप चल पड़े। बहुत काल तक स्वर्गाश्रम में रह कर शनैः शनैः कैलास आश्रम से जुड़ गये और षष्ठ कैलासपीठधीश्वर अनन्तश्री स्वामी विष्णुदेवानन्द गिरि जी महाराज के सम्पर्क में आने पर उनकी अलौकिक प्रतिभा से प्रभावित होकर मन ही मन उनको अपना गुरु मान लिया। तत्पश्चात् उनसे विधिवत् दीक्षा ग्रहण करके स्वामी चैतन्य गिरि नाम प्राप्त किये। किन्तु प्रसिद्धि आपकी फिर भी शास्त्री जी महाराज के नाम से ही रही। अपनी योग्यता और निष्ठा से आपने गुरुदेव को अत्यन्त प्रसन्न किया और उनके सर्वाधिक स्नेह भाजन आप बने। आपने १९५३ ई. में कैलासपीठाधीश्वर के पदभार को संभाला। स्वाभाविक विरक्ति के कारण आप वर्षों तक अज्ञातवास में चले गये जहां आपको भगवान् शंकर के दर्शनों का सौभाग्य भी प्राप्त हुआ।

आपके अज्ञातवास से गुरुदेव बड़े महाराज जी को, आपसे अत्यधिक स्नेह के कारण, बहुत चिन्ता रही और उनके स्वास्थ्य पर भी इसका दुष्प्रभाव पड़ा। इसी बीच स्वामी स्वतन्त्रानन्दगिरिजी को कैलास पीठ पर अभिषिक्त किया गया। परन्तु वे ६ साल के बाद १९६५ ई. में पद त्याग दिये। अतः पुनः पीठाधीश्वर पदभार शास्त्री जी महाराज के कन्धों पर आ गया जिसे आपने वर्तमान कैलासपीठाधीश्वर के १९६९ ई. में आगमन तक निभाया।

आपके प्रवचनों से श्रोता मन्त्र-मुग्ध हो जाते थे। शास्त्र के गूढ़ रहस्य को सरलता से बता देने की आप में अद्‌भुत क्षमता थी। आप गुरुदेव बड़े महाराज जी की ब्रह्मलीनता के ५ मास बाद आश्विन कृ. एकादशी वि. सं. २०२९ को ब्रह्मलीन हो गये। विशेष प्रसन्नता की बात यह है कि आपके गुरुदेव स्वामी विष्णुदेवानन्द गिरि जी महाराज एवं आपके निर्वाण रजत महोत्सव प्रसंग पर तीन अपूर्व ग्रन्थों-ब्रह्मसूत्र, भगवद्‌गीता और श्रद्धासुमनांजलि का प्रकाशन हुआ है। **सन् २००४ में गुरुजन शताब्दी त्रिवेणी संगम महोत्सव** के उपलक्ष्य में प्रस्तुत बृहदारण्यक उपनिषद् के प्रकाशन से आपके भक्तों को विशेष प्रसन्नता होगी।

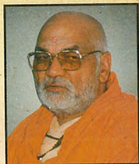
संयोजक :– **भगवत्पादभक्तमण्डल**

गुरुजन-शताब्दी-त्रिवेणी-सङ्गम-प्रसङ्गे प्रकाशितम्

ऋषिकेशस्थ श्री कैलास आश्रम की दिव्य-विभूतियाँ

ॐ

जगद्गुरु भगवान-आद्य शंकराचार्य जी



श्रीकैलासपीठाधीश्वर परमादर्श आ. म. मं.

श्रीमत्स्वामी विद्यानन्द गिरि जी महाराज

आप का जन्म 29 नवम्बर, सन् 1921 को जिला पटना (बिहार) के गाजी पुर ग्राम में हुआ। आपके पिता श्रीमान् जवाहर शर्मा जी और माता श्रीमती ललिता देवी थीं। आप बाल्यकाल से ही भगवान् की उपासना में रुचि रखते थे। 20 वर्ष की आयु में आपने घर गृहस्थी को त्याग कर साधु जीवन अपनाया। आपके गुरुदेव परमहंस स्वामी विज्ञानानन्द गिरि जी महाराज एवं परमगुरुदेव योगीराज स्वामी नित्यानन्द गिरि जी महाराज से आपने परमार्थ पथ की दीक्षा ली। अपनी सारस्वत साधना में आपने काशी में वेदान्त-सर्वदर्शनाचार्य तक अध्ययन कर परीक्षा पास की। तत्पश्चात् आप अध्यापन कार्य में संलग्न हुए। दस वर्षों तक दिल्लीस्थ विश्वनाथ संस्कृत महाविद्यालय के प्रधानाचार्य रहे। वहीं पर निरंजनपीठाधीश्वर आचार्य म.मं. स्वामी नृसिंह गिरि जी महाराज एवं निरंजनपीठाधीश्वर आचार्य म.मं. स्वामी महेशानन्द गिरि जी महाराज की छत्रछाया में संन्यास दीक्षा ली।

21 जुलाई सन् 1969 को आप कैलास ब्रह्मविद्यापीठ ऋषिकेश के महामण्डलेश्वर पद पर आसीन हुये। आपके कार्यकलापों से तब विद्यमान कैलास आश्रम के दो पूर्वाचार्य म.मं. स्वामी विष्णुदेवानन्द गिरि जी महाराज एवं म.मं. स्वामी चैतन्य गिरि जी महाराज अत्यन्त संतुष्ट हुये। आपनेग्रन्थ रचना एवं प्रकाशन में विशेष रुचि ली और अनेकों ग्रन्थों का लोककल्याणार्थ प्रकाशन बड़े धैर्यपूर्वक करवाया। आपने कैलास आश्रम की शताब्दी (1980-81), आचार्यद्वय जन्म शताब्दी (1985-86), आद्यश्री शङ्कराचार्य द्वादश शताब्दी (1987-88), भगवान् अभिनवचन्द्रेश्वर प्रतिष्ठा शताब्दी (1992-97) आदि महत्वपूर्ण महोत्सव बड़ी धूमधाम से मनाकर गुरुजनों के यश को चार चाँद लगाये। आप भारत के आध्यात्मिक एवं धार्मिक क्षेत्र के आचार्यों में अग्रगण्य हैं। साधु समाज की दृष्टि में आप की क्षमता, शक्ति, लगन, तत्परता, विद्वत्ता तपश्चर्या सहिष्णुता एवं उदारता सभी गगन-चुम्बी और अलौकिक हैं। आध्यात्मिक संस्कृति के सर्वाङ्गीन विकास और जन जीवन को दिव्यालोक प्रदान करने में आपने युगपुरुष की भूमिका निभाई है।

आपने शाङ्करी परम्परा को पुष्ट करने का स्तुत्य सफल प्रयास किया है। शाङ्करभाष्य नित्य पारायण के आप प्रणेता हैं और तदनुरूप ग्रन्थों के पारायण संस्करणों को आप प्रकाशित करवा रहे हैं। आपकी इन सभी प्रवृत्तियों को देखकर सन्तों एवं भक्तों ने आपको **शाङ्करी-परम्परा-संपोषकाचार्य** उपाधि से समलंकृत किया है। गुरुजनों के प्रति आपके मन में अगाध श्रद्धा एवं भक्ति है। **गुरुजन शताब्दी त्रिवेणी संगम** महोत्सव के आप ही परिकल्पक एवं संयोजक हैं।